सद्‌गुरु

जब किसी व्यक्ति में सत्य को जानने की परम जिज्ञासा उठती है, कि मैं इस संसार में क्यों लाया गया हूँ? इस संसार में मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, वह मेरे बिना भी हो सकता था और इस संसार से विदा होते समय मैं यहाँ से कुछ भी नहीं ले जा सकता। समस्त जीवन भर की भौतिक कमाई जो मैं एकत्रित करता हूँ, उसमें से मैं कुछ भी अपने साथ नहीं ले जा सकता। न इस संसार में आना और न इस संसार से विदा होना मेरे हाथ में है, तो आखिर मैं क्यों लाया गया हूँ इस विश्व में? जब ये प्रश्न बार–बार मानव के मन को झकझोरने लगते हैं, तो कई व्यक्तियों में ऐसी स्थिति बन जाती है, कि ये प्रश्न और उन प्रश्नों का उत्तर ढूँढना ही उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य बन जाता है। एक जुनून, एक वहशियत सवार हो जाती है, कि कुछ भी हो, इस जीवन काल में ही उन प्रश्नों का उत्तर अवश्य ढूँढना है। इस रहस्य को जानने के लिए वह इस जीवन की बाजी तक को लगाने में नहीं चूकते। जब यह जिज्ञासा इतनी हावी हो जाती है तो वे परम शिष्य, परम जिज्ञासु, परमविशिष्ट श्रेणी में आ जाते हैं और उस श्रेणी में आने के बाद कभी न कभी कोई उचिततम् सद्‌गुरु अवश्य मिल जाता है। तो सदगुरु क्या है? यह जानना अति आवश्यक है।

गुरु और सद्‌गुरु में अन्तर है। **किसी भी भौतिक कला, संगीत, नृत्य या अन्य कोई भी भौतिक कलाओं को सिखाने के लिए जो व्यक्ति है, वह गुरु है। उस परम रहस्य को, उस ईश्वर को, उस परमानन्द परमेश्वर की प्राप्ति के हेतु, उस सच्चिदानन्द के सामीप्य को पाने के लिए जो उपदेश देता है, जो सिखा सकता है, जो उस समीपता को आभास करवाने में सक्षम है, उसका नाम है सद्‌गुरु।**

यद्यपि यह अन्य विद्याओं और कलाओं की तरह कोई समझाने का मार्ग नहीं है, अनुभूति का मार्ग है, अनुभव का मार्ग है लेकिन सद्‌गुरु उस अनुभव के मार्ग का सरलीकरण अवश्य करवा देता है, दिखा देता है। तो सदगुरू किसी व्यक्ति का नाम और रूप और उस व्यक्ति का एक व्यक्तित्व होता है। यहाँ यह बात अति विचारणीय है कि एक व्यक्ति, कई व्यक्तित्वों का एक समूह है। किसी

भी व्यक्ति में कुछ व्यक्तित्व समाए रहते हैं और जितने भी उच्चकोटि के महामानव हैं, उनमें उतने ही अधिक व्यक्तित्व होते हैं। किसी भी व्यक्ति को उसके मात्र एक व्यक्तित्व से नहीं जाना या समझा जा सकता। यद्यपि यह विषय यहाँ विस्तार पूर्वक वर्णन करने का नहीं है, लेकिन इस संदर्भ में मैं इतना अवश्य कहना चाहूँगा, कि गुरु अथवा **सदगुरु, यह मात्र एक विशेष व्यक्ति में उपस्थित या समाहित अनेक व्यक्तित्वों में से एक व्यक्तित्व है।** उदाहरण के लिये भगवान श्रीकृष्ण का जीवन–चरित्र लीजिए, उनमें सोलह व्यक्तित्व समाहित है। योद्धा बनकर वे कौरवों व पाँडवों की सेना में अपने बौद्धिक कौशल से सारथी बने हुए युद्ध में विराजमान हैं और युद्ध में विजयी होते हैं, ज्ञानस्वरूप बनकर गीता का उपदेश देते हैं और प्रेमी एवं रसिक बनकर गोपियों के साथ रास करते हैं, प्रेम करते हैं इत्यादि–इत्यादि। इस प्रकार सदगुरु किसी व्यक्ति का मात्र एक व्यक्तित्व है और जब किसी परम जिज्ञासु में परमसत्य को जानने की विशेष जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है, तो कभी न कभी उसके सम्मुख कोई व्यक्ति आ जाता है, जिसका एक व्यक्तित्व होता है सदगुरु और वह उसकी जिज्ञासा के अनुसार होता है, तो वह शिष्य उसको अपना गुरु धारण कर लेता है।

यदि अति गहनता से विचार किया जाए, तो जिस समय परम शिष्य भाव किसी व्यक्ति में उत्पन्न होने लगता है, तो उसके भीतर उसी के अनुसार एक गुरु भाव भी उत्पन्न होने लगता है, जिसको हम परिपूरक विधा की संज्ञा दे चुके हैं। जब कोई व्यक्ति, तीव्र जिज्ञासु अथवा तीव्र सद्शिष्य जो सत्य को जानने के लिए लालायित है, तो वह भाव, वह वृत्ति, वह व्यक्तित्व जब किसी के अन्दर उभरने लगता है, तो उसके साथ उसकी परिपूरक विधा, गुरु भाव भी साथ ही साथ विकसित होने लगता है। तो वह शिष्य यद्यपि गुरु भाव में किसी अन्य व्यक्ति के व्यक्तित्व को देखता है लेकिन देर या सवेर उसके भीतर ही गुरु भाव इतना विकसित हो जाता है, कि उसको किसी बाह्य अवलम्बन की आवश्यकता ही नहीं होती। यह बहुत सूक्ष्म विषय है। जैसे ही भीतर बहुत गहन शिष्य भाव उत्पन्न हुआ तो बाहर एक गुरु भाव उत्पन्न होता है। **शिष्य को यहाँ पर यह स्पष्ट होना चाहिए कि सद्गुरु उस व्यक्ति का मात्र एक व्यक्तित्व ही**

है। सम्पूर्ण व्यक्ति उसका सदगुरु नहीं है। इस सत्य को न समझने के कारण कई बार गुरूशिष्य विवाद हो जाते हैं, कई बार क्या अक्सर गुरु चर्चा का और आशंका का विषय बन जाता है। इसलिए कहा गया है कि जिस समय हम सद्शिष्य के भाव से उस व्यक्ति के सम्मुख जाते हैं, तो उसकी बातों का चिंतन और मनन करना चाहिए, लेकिन उस सम्पूर्ण व्यक्ति का अनुसरण नहीं करना चाहिए क्योंकि उसके भीतर अन्य व्यक्तित्व भी है, जो हमारी पसन्द के और अनुसरण के योग्य हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते। सौभाग्यवश, उस परम जिज्ञासु की समस्त जिज्ञासायें शनैः–शनैः उस सद्गुरु द्वारा, उसकी श्रद्धा और भाव के कारण शान्त होने लगती हैं। **सद्गुरु के सन्मुख श्रद्धा और भाव का होना अति आवश्यक है, नहीं तो यह सद्ज्ञान कभी बहता ही नहीं है।** यह ध्यान में रखना आवश्यक है, कि वह गुरु व्यक्तित्व, शिष्य के साथ मात्र एक बिन्दु तक चले, जहाँ तक कि बौद्धिक, शारीरिक अथवा मानसिक प्रक्रियाओं का योग है।। उसके बाद वह उस शिष्य को अपने हाल पर छोड़ दे क्योंकि जो अन्तिम लक्ष्य है, अंतिम मार्ग है, उसमें तो किसी का साथ हो ही नहीं सकता। व्यक्ति को स्वयं से, अपने आप से परे होना पडता है, यह एक अनुभव एवं अनुभूति का विषय है। जैसी किसी व्यक्ति की जिज्ञासा होगी सत्य को जानने की, उसी के अनुसार उसके। सद्गुरु प्राप्त हो जाएगा। तो सद्गुरु उसकी जिज्ञासा को जानने के लिए अपने शिष्य की कुछ परीक्षा लेता है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाए, तो जो सद्शिष्य है, उसको मात्र एक इशारा चाहिए। बहुत कुछ सुनना और बहुत कुछ बोलना या पढ़ना उसके लिये आवश्यक नहीं है, लेकिन उस सत्य को जानने के लिए उसके अंदर परम श्रद्धा की आवश्यकता है। सद्गुरु उस श्रद्धा को भापते हैं, बढ़ाते हैं और जब वह शिष्य अति श्रद्धालु हो जाता है, तो मात्र इशारा ही उसके लिए काफी होता है। उसको उस परमसत्य की अनुभूति होने लगती है।

सद्गुरू एक ही सत्य को जानने की इच्छा रखने वाले अपने प्रत्येक शिष्य को एक सा ही उपदेश नहीं देते। प्रत्येक व्यक्ति की एक मनोदशा होती है, विशेष संस्कार होते हैं, विशेष भाव होते हैं और ग्रहण करने की विशेष क्षमता

होती है।

किसी विशेष भाव के प्रति, किसी विशेष विचार के प्रति उसका विशेष लगाव होता है। उदाहरण के लिये गोपियाँ भावप्रधान हैं, प्रेम व मोह से परिपूरित हैं। उन्हें जप, तप, ज्ञान, ध्यान, कुछ नहीं आता, तो श्री कृष्ण को वे रुदन में पाती हैं। वृन्दावन की कुंज गलियाँ उनके रुदन की साक्षी हैं। उधर उद्धव महाज्ञानी है, जपी–तपी हैं। उनको कृष्ण हिमालय की कन्दराओं में तप करने का उपदेश देते हैं। माता कुंती, भगवान श्री कृष्ण से कष्टों की ही माँग करती है, क्योंकि कष्टों में प्रभु का अविरल सुमिरन बना रहता है। इस प्रकार सदगुरू अपने शिष्यों को उनके भाव के अनुसार उस एक परमसत्य को पाने के लिए, उसके सान्निध्य को पाने के लिये अलग–अलग मार्ग बताते हैं। जिस प्रकार कि किसी एक ही रोग के लिए और उस रोग से ग्रसित विभिन्न मरीजों के लिये चिकित्सक, औषधि और उन औषधियों की मात्रा और उनके प्रयोग की अलग–अलग विधि प्रत्येक मरीज को, प्रत्येक रोगी को अलग–अलग बताता है। इस बात में शिष्य को कोई भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए, कि गुरुदेव ने मुझे तो यह बताया और उसको यह बताया, तीसरे को यह बताया। यह चुनाव गुरु का है। यह दूसरा रहस्य एवं सत्य, शिष्य को ह्रदय में अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिए।

तीसरा, **सदगुरु का जो परम कर्त्तव्य है, वह यह कि वह शिष्य को किसी भी तरह के बंधन में न डाले, न किसी विशेष संस्था के, न किसी विशेष विचारधारा के।** उसका शिष्य उसके पास एक परम सत्य को, परम रहस्य को, सच्चिदानन्द के विशेष स्वरूप को जानने के लिए आया है। उस खुदाई मार्ग, उस ईश्वरीय मार्ग को जानने के लिए जो कि खुला मार्ग है। सांसारिक प्रत्येक प्राप्ति और प्रत्येक लक्ष्य बंधा हुआ है। बन्दे और खुदा में अन्तर है, बंदा अर्थात बंधा हुआ, जो अपनी देह से, परिवार से, समाज से, देश से, विश्व से, सम्पदा से, सम्पत्ति से, पद से, पदवी से और अन्य वस्तुओं से, जातियों से, धर्मों से बधा हुआ है, जबकि आध्यात्मिक मार्ग खुदाई मार्ग है, खुला हुआ है। सब बंधन हट जाते है न देह का बंधन, न दुनिया का, न धर्म का, न जाति का, न अन्य वस्तुओं का। तो **सदगुरू शिष्य को किसी बन्धन मे न बाँधे और**

यदि वह शिष्य के संस्कारों के अनुसार बाँधे भी तो उस बंधन को बंधन सा रखे। उदाहरण के लिए, यदि वह संस्कारों वश अपने शिष्य को एक इष्ट के नाम–रूप से, प्रभु के एक नाम–रूप के प्रति प्रेरित करे, तो उसको यह भी समझा दे, कि उस ईश्वर के, तुम्हारे इष्ट के एक नाम, असंख्य रूप है, उसका एक रूप, असंख्य नाम है और असंख्य नाम, असंख्य रूप है। पूरे महाब्रह्माडों में जहाँ–जहाँ पर भी किसी नाम–रूप में, अनाम में, अरूप में, साकार में, निराकार में और किसी भी विधि में, विधान में जहाँ पर किसी भी सत्ता को ईश्वर माना जाता है, खुदा माना जाता है, वह तुम्हारा इष्ट ही है। **इस सद्‌मार्ग को बताने वाला सदगुरू अपने शिष्य को खोल दे, क्योंकि यह खुदाई मार्ग है।** यदि वह किसी नाम व रूप में उसको बांधे भी तो इस प्रकार कि वह बहुत शीघ्र ही उस नाम और रूप के विस्तार को जान ले, सर्वत्र उसको अपना इष्ट ही नज़र आये विभिन्न नामों में, विभिन्न रूपों में।

उस ईश्वरीय सत्ता को भी भले एक नाम–रूप में भाव उत्पन्न करने के लिए मान लिया जाए, लेकिन उसका इतना विस्तार हृदय में हो जाए, कि सर्वत्र वही और वही नजर आए। तो सदगुरु उस शिष्य को अपने स्वयं के नाम–रूप से भी नहीं बांधते। वे उसको यह भी समझा देते हैं या अनुभव करवा देते है कि, तुम मेरे भीतर जो अपना गुरु देख रहे हो, यह तुम्हारा स्वयं का ही भाव है अर्थात् जब किसी में शिष्य भाव उत्पन्न होता है, शिष्य व्यक्तित्व उत्पन्न होता है, शिष्य विधा उत्पन्न होती है, उसकी परिपूरक विधा गुरु अथवा सदगुरु साथ ही में उत्पन्न हो जाती है लेकिन उसका प्रगटीकरण किसी अन्य व्यक्ति में हो जाता है। जब उसकी गुरु विधा परिपक्व हो जाता है तो वह शिष्य स्वयं ही अपना गुरु भी बन जाता है। थोड़ा जटिल विषय है लेकिन इस रहस्य को सद्‌गुरु अपने शिष्य के सम्मुख रख देता है, ताकि उस परम सत्य को जानने के लिए यह किसी नाम व रूप में भी न बंधे। **जहाँ–जहाँ बंधन हुआ वहाँ सत्य, सच्चिदानन्द उस ईश्वर का साक्षात्कार और सामीप्य हो ही नहीं सकता और जब तक सामीप्य नही होगा, तो कोई रहस्य और कोई सत्य की अनुभूति हो ही नहीं सकती।** सदगुरु इस विशेष

रहस्य को अपने सद्शिष्य के सम्मुख खोल देते हैं, ताकि वह गुरु रूप में भी किसी नाम और रूप से बन्धन न रखे।

जब श्रद्धा और आनन्द बहुत बढ़ जाता है, उस शिष्य को सत्य की अनुभूति होने लगती है या उस परम अनुभव के लिए वह उचित अधिकारी हो जाता है, तो उसकी इस विशेष मानसिक स्थिति को देखते हुए, सद्गुरु वहाँ से हट जाए, क्योंकि अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए न वहाँ शिष्य चाहिये और न ही गुरु। **इतना दिव्य मार्ग है उसके सामने, उसके आगे कि वहाँ न शिष्य रहता है, न गुरु रहता है, न कोई अन्य भाव रहता है, न सम्बन्ध रहता है, न सम्बन्ध का कोई बंधन रहता है और वह अन्तिम अनुभूति, वह अनुभव मात्र अनुभव ही है।** तो दो अनुभूतियां होती है एक सामान्य और दूसरी विशिष्ट। सामान्य अनुभूति के अनुभव को दूसरों के सामने रखा जा सकता है लेकिन विशिष्ट अनुभूति को जहाँ तक हो सके, व्यक्तिगत रूप में अपने हृदय में ही रखना चाहिए। इस अनुभव के पश्चात् जिज्ञासु की एक विशेष मानसिक दशा हो जाती है। सत्य तो यह है कि उसका स्वयं का मन ही नहीं रहता। मन और माया भी ईश्वर समर्पित हो जाते है। उसको कुछ भी करना नहीं पड़ता, वह करता हुआ सा प्रतीत होता है। किसी भी कर्म का कोई भी बंधन नहीं रहता। एक विलक्षण स्थिति होती है, 'हे प्रभ,! मुझे कर्म–बंधन से मुक्त कर।" कर्म–बन्धन एक बहुत वृह्त, भीमकाय बंधन है और इस बंधन से जो कि वास्तव में बंधन भी नहीं है, बंधन सा है, जिसके लिए हम जन्म–जन्मान्तरों में इसके अच्छे–बुरे फल भोगते रहते हैं। कर्म–बंधन से मुक्ति के लिए पहले विवेचना हो चुकी है। अति तीव्र जिज्ञासा होने के पश्चात् जैसे कि विभीषण जब प्रभु राम की शरण में जाते हैं, बहुत गिड़गिड़ाते हैं, रुदन करते हैं, पृथ्वी पर साष्टांग प्रणाम करते हुए बार–बार विह्वल होकर पुकारते हैं, 'त्रहिमाम। त्राहिमाम। हे प्रभु! मैं राक्षस हूँ, राक्षस कुल में पैदा हुआ हूँ, मेरी रक्षा करिए। रक्षा करिए।' तो प्रभु श्री राम उनको रोक देते हैं, उनको दोनों हाथों से उठाते हैं, अपने हृदय से लगाते हैं और अपना प्रण दोहराते हैं, कि '***सन्मुख होई जीव मोहि जबहीं, जन्म कोटि अघ नासेही तब ही***'। प्रभु राम कहते हैं, 'विभीषण ! मेरा प्रण है कि

जब जीव मेरे सन्मुख होता हैं तो प्रथम कार्य मै क्या करता हूँ, कि उसके एक नहीं, बल्कि कोटि जन्म, करोंडों जन्मों के पाप नष्ट कर देता हूँ। इस समय तुम मेरे सम्मुख हो, तुम्हारे सब पाप नष्ट हो गए।' यह मंत्र क्या है ' इसका अर्थ क्या है?''

इसका वास्तविक अर्थ यह है, कि हम स्वयं कुछ कर्म नहीं करते, हमसे कर्म करवाए जाते हैं और हम अज्ञानवश यह समझने लगते हैं, कि यह कर्म मैंने किए हैं। उन कर्मों के हम कर्त्ता बन जाते हैं और जहाँ हम कर्त्ता बनते हैं, किसी अच्छे या बुरे कर्म के, तो उसके साथ ही हमें भोक्ता भी बनना पड़ता है। उस समय एक चीत्कार उठती है हृदय से, "हे प्रभु! मैं बल–बुद्धि–विद्याहीन हूँ, असमर्थ हूँ, अशक्त हूँ, भला मै कोई कर्म कैसे कर सकता हूँ, हे परम समर्थवान, महासशक्त! हे बल बुद्धि विद्यावान! हे मेरे इष्ट! मुझे बल–बुद्धि–विद्याहीन, असमर्थ एवं अशक्त कर दो, ताकि मैं किसी कर्म को करने योग्य ही न रहूँ।' तो यह समर्पण अपने बल, बुद्धि, विद्या का, अपनी समर्थता का, अपनी शक्ति का जब अपने इष्ट के चरणों में हो जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं, कि उस समय वह जिज्ञासु, वह उपासक कर्महीन हो जाता है। कर्म उसके द्वारा होते हैं, लेकिन वे समस्त कर्म मात्र ईश्वरीय इच्छा से होते हैं, और उन कर्मों का उसे कोई बंधन नहीं होता। एक पुकार होती है, 'हे प्रभु, हे मेरे ईश्वर, मेरे द्वारा जो कुछ भी करवा, वे तू ही करवा, तुम्हारी ही समर्थ हो, तुम्हारी ही शक्ति हो जो मुझसे कर्म करवाए।' जब यह भाव उत्पन्न हो जाता है, तो कर्म तो होते हैं, बल्कि साधारण नहीं दिव्य कर्म होते हैं, विशिष्ट कर्म होते हैं और ऐसे कर्म होते हैं, जो सदियों–सदियों तक मानवों के हृदय में एक विचार का विषय बन जाते हैं, एक इतिहास बन जाते हैं लेकिन उन कर्मो से वह व्यक्ति कभी भी लिप्त नहीं होता और उसका उन कर्मों से कोई बंधन नहीं होता।

इस प्रकार कर्म–बन्धन से मुक्ति मिल जाती है। तो इस संसार में लाए जाने के पश्चात् जितने भी कर्म हमारे द्वारा होते हैं, उनमें, प्रत्येक में ईश्वर की झलक आने लगती है, कि वह स्वयं ही करवा रहा है और यहाँ के संसार का प्रत्येक ऐश्वर्य, प्रत्येक आनन्द हमें अपने लिए लगता है। "यह अमुक वस्तु मेरी है," ऐसा भाव समाप्त हो जाता है। दूसरा भाव जागृत हो जाता है, कि 'यह मेरे

लिए है', पूरे महाब्रह्माड का हर्ष, उल्लास, समस्त अभय, आरोग्यता, सर्वसम्पन्नता, यहाँ की मस्ती, उस प्रभु की कृपा और उसकी कृपा का सागर, यह सब मेरे लिये हैं। **मेरा है, और मेरे लिये है,** इन दोनों दृष्टिकोणों में भारी अन्तर है। जब हम संसार में आकर मेरा भाव रखते हैं, कि **अमुक व्यक्ति मेरा है, अमुक वस्तु मेरी है, पदार्थ मेरा है तो वह बंधन का से बन जाता है और वे बंधन कष्टों का हेतु बनते हैं, लेकिन जब यह भाव कि 'मेरे लिए है', तो हमें सारा संसार सुखमय नज़र आने लगता है और बंधन समाप्त हो जाते हैं।** कि 'हे इष्ट, हे मेरे प्रभु! मात्र तुम मेरे हो और तुम मेरे लिए हो। तुम्हारे द्वारा निर्मित यह कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड मेरे लिए हैं, मेरे नहीं हैं।' तो इस भाव में जब कोई भी जिज्ञासु समाहित हो जाता है, तो वह बंधन रहित हो जाता है और उसके भीतर विशिष्ट अनुभूतियाँ एवं अनुभव होने लगते हैं, जो उसकी व्यक्तिगत सम्पदा है। सामान्य अनुभव को वह अन्य जिज्ञासुओं में बाँटता है, संसार को एक मार्ग भी दिखाता है।

अन्तिम अर्थ यह है, कि सत्य को जानने की जिज्ञासा जब उत्पन्न होती है, उसी के अनुसार सद्गुरु मिल जाता है और सद्गुरु एक बिन्दु तक अपने शिष्य को ले जाता है। उसके बाद स्वयं भी हट जाता है। उसके आगे इष्ट की इच्छा ही काम करती है, जो उस जिज्ञासु को विशेष अनुभूति का अनुभव करवाती है। अन्तिम सत्य का अनुभव होता है, जो अनिर्वचनीय पद है।

।। जय जय श्री राम।।

ईश्वरीय सम्बन्ध

यह परम ईश्वरीय सत्ता, सर्वशक्तिमान परमात्मा, खुदा, भगवान जो भी संज्ञा दे दें उसको, उसके एक नाम, असंख्य रूप हैं, एक रूप असंख्य नाम हैं एवं असंख्य नाम असंख्य रूप हैं। इसके अतिरिक्त कोई उसको अरूप में, निराकार में और कोई अन्य असंख्य नामों–रूपों में अथवा धारणाओं में याद करता है, स्मरण करता है। उसके समीप जाना चाहता है। जहाँ तक साकार और निराकार का प्रश्न है, ये एक–दूसरे के सापेक्षिक शब्द हैं। जिस प्रकार अंधकार–प्रकाश, गरीबी– अमीरी, खाली एवं भरा हुआ एक–दूसरे के सापेक्षिक शब्द है, उसी प्रकार साकार और निराकार भी सापेक्षिक हैं।

यहाँ एक बात अपने अनुभव से अवश्य कहना चाहूँगा, कि यदि साकार ब्रह्म का सान्निध्य पाना हो, तो हम साकार रूप से, अपने नाम, रूप और अपनी सत्ता, अपने अस्तित्व से, अपने मानवीय स्तर के अस्तित्व से उस तक पहुँच सकते हैं, उसकी उपासना कर सकते हैं, उसके समीप बैठ सकते हैं। लेकिन **यदि संस्कारों वश अथवा किन्हीं अन्य कारणों से निराकार ब्रह्मा की धारणा बन जाए और उसमें निष्ठा हो जाए, तो उस तक पहुँचने के लिए उसकी उपासना करने के लिए, स्वयं का भी निराकार होना अति आवश्यक है।** यह बात बहुत अटपटी एवं विचित्र लगती है, कि स्वयं देहधारी, किस प्रकार निराकार हो?

ऐसे में, हमें इस बात की ओर विशेष ध्यान रखना होगा–यह विषय उन लोगों को कह रहा हूँ, जो ईश्वर की मान्यता से ऊपर उठकर ईश्वर की प्राप्ति एवं उसका सान्निध्य चाहते हैं, उसका अनुभव करना चाहते हैं। जैसा कि मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ मोक्ष के बारे में, कि जब हमारी मान्यताएँ हमारा व्यवहार, सांसारिक स्तर से ऊपर उठ जाता है और समस्त मान्यताएं ईश्वरीय स्तर पर हो जाती हैं, तो उस स्थिति का नाम है–**मोक्ष**। यदि यह स्थिति जीवनकाल में प्राप्त हो जाती है, तो उस अवस्था को कहते है–**जीवन–मुक्ति**। तो अपनी मान्यताओं, धारणाओं को संसार से, देह से, दुनिया से हटाकर जब हम अपने इष्ट में, परमात्मा में लगा देते हैं और वहँ वे धारणाएं परिपक्व हो

जाती हैं, वहाँ हमारा लगाव हो जाता है, उसके साथ हमारा सम्बन्ध हो जाता है। उस सम्बन्ध में जब हम विचरने लगते हैं, तो हमारा व्यवहार ईश्वरीय व्यवहार हो जाता है, दिव्य व्यवहार हो जाता है, तो उस स्थिति को कहा है, **मोक्ष**।

मोक्ष पाँच प्रकार के है–**सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य, सामीप्य एवं अन्तिम है, कैवल्य मोक्ष।** इनमें जो प्रथम चार प्रकार के मोक्ष हैं, वे साकार उपासकों के लिए हैं। **कैवल्य मोक्ष निराकार उपासकों के लिए है।** लययोग द्वारा अपनी देह को, अपने ध्यान द्वारा भस्म बनाकर और उसका सम्पूर्ण क्रियाकर्म अपने ध्यान द्वारा करके, जब जीव देह रहित हो जाता है, अपनी मानसिक स्थिति में और ऐसा अभ्यास करते–करते जब उसको स्वतः ही, भीतर से ही ज्ञान मिल जाता है, तो इस स्थिति का जो अन्तिम लक्ष्य है, वह है कैवल्य मोक्ष, जो अति ईश्वर कृपा से, गुरु–कृपा से, आत्म–कृपा से कभी न कभी मिल सकता है। शेष चार मोक्ष भक्तों के लिए या साकार उपासकों के लिये या ईश्वर के सम्बन्धियों के लिए है।

1. **सालोक्य मोक्ष** : इसमें जो उपासक है, उसको यही आभास रहता है, कि वह निरन्तर अपने इष्ट के लोक में स्थिर है। वह जहाँ भी रहता है, जन्म–जन्मान्तरों में, जहाँ भी जन्म लेता है, जहाँ भी होश संभालता है, जहाँ भी जाता है, जहाँ भी जो भी कार्य संभालता है, उसको यही लगता है, कि वह उसके इष्ट का ही लोक है, तो इस स्थिति को कहा है **सालोक्य मोक्ष**।

2. **सायुज्य मोक्षः** इसमें उपासक अपने इष्ट की देह के साथ किसी न किसी रूप में जुड़ जाता है। उनके चरणों की खड़ाऊँ बनकर, उनका परिधान बनकर, उनके गले का हार बनकर और सिर का मुकुट बनकर, इत्यादि–इत्यादि। भाव में वह उस स्थिति में विचरने लगता है और वह स्थिति इतनी परिपक्व हो जाती है, कि उसके बिना उसे कुछ भासता ही नहीं, ऐसी स्थिति को कहा है **सायुज्य मोक्ष**।

3. **सारूप्य मोक्ष** : सारूप्य मोक्ष में वह अपने इष्ट का ही रूप ले लेता है। उसका हाव–भाव, उसका बात करना और उसका व्यवहार, उसकी मस्ती उसके इष्ट से मिलने लगती है।

4. **सामीप्य मोक्षः** सामीप्य मोक्ष में वह अपने इष्ट के आस–पास किसी न किसी सम्बन्ध में उसकी पत्नी बनकर, पति बनकर, भाई–बंधु बनकर, सेवक बनकर, अपने इष्ट के समीप ही रहता है और यह स्थिति दिन–रात, जन्मों–जन्मान्तरों तक, युगों–युगान्तरों तक चलती रहती है। इस स्थिति को नाम दिया है **सामीप्य मोक्ष**। ये चार मोक्ष, सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य एवं सामीप्य, साकार उपासकों के लिए हैं, जिनका अपने इष्ट से कोई नाता अथवा सम्बन्ध इतना प्रबल हो जाता है कि वे इन चार धारणाओं में से किसी एक धारणा में विचरने लगते हैं और उसके अनुसार उस मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं।

लोग बहुत बार प्रश्न करते हैं, कि जब ईश्वर से सम्बन्ध जुड़ जाता है, तो उसके लक्षण क्या होते हैं? **प्रथम,** लक्षण कि वह साधक, जिसको हम साधारणतया जगत कहते हैं, उससे उठ जाता है। वह इस देह के द्वारा ही अपने विशिष्ट भावों में, मोक्ष के प्रकार के अनुसार विचरने लगता है अर्थात् वह जीवन–मुक्त हो जाता है। **दूसरे,** जो मनुष्य के पाँच विकार वर्णन किए गए हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह व अंहकार, ये विकार दिव्य उत्प्रेरक बन जाते हैं। वह इन विकारों से छूटता नहीं है बल्कि इनका रूपान्तर हो जाता है, जैसे **काम**–तुच्छ काम की बजाए, उसको **पूर्णकाम** की कामना हो जाती है, जिसके सानिध्य में, सामीप्य में जाकर, जिसका नाम उच्चारण करते ही उसको पूर्णकाम की सानिध्यता एव समीपता का भास होता है और वह स्वयं में परिपूरित हो जाता है, सन्तुष्ट हो जाता है। ऐसा वह संसारी कामी, अब घोर महाकामी और उस पूर्णकाम की कामना करने वाला बन जाता है।

लोभ जो एक सांसारिक मनुष्य को नीचे गिरा देता है, उसी लोभ का आश्रय लेकर, उस लोभ को बढ़ाते हुए वह उस ईश्वर के नाम–जाप में अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को लगा देता है, अपने सम्पूर्ण ध्यान को लगा देता है और इस प्रकार सांसारिक कृत्यों से, उसको, जो एक पल का समय भी मिलता है, वह समय, वह ईश्वर के नाम में, ईश्वर के जाप में ही लगाता है, तो यह सदुपयोग हो गया लोभ का, जो अब महालोभ बन जाता है, लेकिन **यह महालोभ, उसको महाजाप की ओर प्रेरित करते हुए अपने इष्ट की ओर ले जाता है।**

ट्र

तीसरा विकार जो वर्णित किया गया है वह है **क्रोध।** एक क्रोध तो सांसारिक मनुष्यों को, जीवों को गर्त में ले जाता। उस क्रोधवश वो अपने जीवन में बहुत बड़ी हानि उठा लेते हैं, ग्लानि को प्राप्त हो जाते हैं। वही क्रोध उपासक भी प्रयोग करता है, कैसे? कोई भी अच्छा उपासक अपने और अपने इष्ट के बीच में किसी प्रकार की वस्तु को, व्यक्ति को आने देना नहीं चाहता, भले ही वह कामिनी हो, कंचन हो, यहाँ तक कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का साम्राज्य भी हो, यदि वह उसके और उसके इष्ट के बीच में बाधा डाले, तो वह अपने महाक्रोध से उसको जला देता है, उसको हटा देता है। यहाँ यदि उपासक में क्रोध नहीं होगा, तो वह अपने और अपने इष्ट के बीच का रास्ता स्वच्छ नहीं कर सकता। कभी–कभी तो अति क्रोध का प्रयोग करना पड़ता है।

चौथा विकार है मोह, यहाँ मोह, उपासक को अपने इष्ट के साथ हो जाता है। बंधन सहित प्रेम को कहा है मोह। अपने इष्ट से, अपने ईश्वर से इतना मोह हो जाता है, कि इसके बिना उपासक न जी सकता है, न मर सकता है। हर क्षण, हर पल, हर श्वास में, जागृति में, सुषुप्ति में, समाधि में, किसी भी स्थिति में वह अपने इष्ट को ही याद करता रहता है। वह महामोही हो जाता है और यह मोह उसको अपने इष्ट के पास पहुँचा देता है।

अंतिम एव **पाँचवा विकार है अंहकार** अर्थात् अहम, जो एक व्यक्ति को गर्त में ले जाता है। वही अंहकार एक उपासक को महाअंहकार में परिवर्तित होकर कि 'मैं इष्ट का सम्बन्धी हूँ, मैं प्रभु का अमुक–अमुक सम्बन्धी लगता हूँ', कितना बड़ा अहम् है और इस अहम् में संसार के समस्त तुच्छ अहम् समा जाते हैं और वह एक दिव्य आत्मा हो जाता है। यह ईश्वर के सम्बन्धियों का दूसरा लक्षण है, कि **मनुष्य के साधारण विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अंहकार परिवर्तित हो जाते हैं और दिव्य उत्प्रेरक बन जाते हैं। दिव्य उत्प्रेरक बनने के बाद वे साधक को, उपासक को, भक्त को, अपने इष्ट के साथ मिलने में अति सहायक हो जाते हैं।** उन शक्तियों का कार्य करते हैं, जो कि उपासक को उसके उपास्य से मिला देती हैं या उसके बहुत समीप ले जाती हैं।

इसके अतिरिक्त किसी भी मानव को यदि पाँच वस्तुएँ मिल जाएं, तो समझिए कि वह ईश्वर का विशेष ही सम्बन्धी है। सर्वप्रथम वे **परम स्वस्थ** होते है। स्वस्थ के साथ दूसरी उपलब्धि है **अच्छा धन**। तीसरी उपलब्धि है **ईश्वरीय भक्ति**, चौथी है **विनम्रता** एव पाँचवी है **सत्संग**। इनका पहले विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है। यदि किसी को यह पाँचों वस्तुएँ उपलब्ध हैं, तो समझिए वो ईश्वर का विशेष सम्बन्धी है। वह इस वसुन्धरा पर उतरा है, अवतरित हुआ है। वह यहाँ के समस्त भोग भोगने के लिए, ईश्वर की समस्त लीलाओं का दिग्दर्शन मात्र, करने के लिए आया है। वह कर्तव्यों के बोझ से, कर्मों के बंधन से और कर्मों के फल से मुक्त रहता है। यदि मुझसे कोई पूछे, तो **वह कर्म करता हुआ भी अकर्त्ता ही रहता है।**

अकर्त्ता भाव भी कभी–कभी निमित्त मात्र ही होता है, कभी–कभी तो यह निमित्तता भी समाप्त हो जाती है। ऐसा अनुभव होने लगता है, मानो कुछ हो सा रहा हो। वह किसी कर्म का कर्त्ता स्वयं नहीं है। उसकी अपने इष्ट से एक ही प्रार्थना रहती है कि, 'हे प्रभु! मुझे कर्म–बन्धन से मुक्त कर। मैंने कुछ भी नहीं किया। जो कुछ भी संसार में हो रहा है या किया जा रहा है, वह तुम्हारी शक्ति से, तुम्हारे सामर्थ्य से, तुम्हारी बल–बुद्धि से, विद्या से और तुम्हारी प्रेरणा से एवं इच्छा से ही हो रहा है। प्रभु! मेरी देह के द्वारा भी आप वही करवाइए, जो उचित हो और मुझे उसका कोई भी अभिमान न हो।' तो इस प्रकार, ऐसी प्रार्थना का नित्याध्यासन करते हुए वह जीवन–मुक्त रहता है, कर्म–बंधन से मुक्त हो जाता है।

ईश्वर के सम्बन्धी कभी अपने ऊपर किसी कर्म का, किसी कर्त्तव्य का बोझ नहीं लेते, क्योंकि वे जानते हैं, कि वह सर्वशक्तिमान परमात्मा, उनका इष्ट जो कि कोटि–कोटि ब्रह्माण्डनायक है, जिसमें असंख्य नदियाँ, सागर, झीलें और अति सुन्दर भव्य पर्वतश्रृंखलाएं, असंख्य जीव–जन्तु और अंसंख्य वनस्पतियों का निर्माण, उस वसुन्धरा में असंख्य खनिज, आकाश–मण्डल, वायु–मण्डल और आकाश–मण्डल में असंख्य तारागण, नक्षत्र इत्यादि–इत्यादि, जिसमें यह मानव–देह, इस मानव–बुद्धि का एक अद्भुत चमत्कार प्रकट किया है, ऐसा सर्वशक्तिमान ईश्वर, क्या मानव के ऊपर अपने कुछ कर्त्तव्यों के लिए आधारित

या निर्भर रह सकता है? कदापि नहीं।

यह भाव उपासक के हृदय में प्रकट हो जाता है, वह अपने कर्तव्यों से, कर्मों से एवं कर्तव्य बंधनों से मुक्त हो जाता है। उसको ऐसा भास होने लगता है, कि उसके द्वारा कुछ हो रहा है। धीरे–धीरे जब उसकी स्थिति और परिपक्व एवं ऊँची उठ जाती है, तो उसे इस होने का आभास मात्र भी नहीं रहता। देखने वालों को लगता है, कि अमुक–अमुक व्यक्ति ऐसा परोपकार कर रहा है या ऐसा विशेष कार्य कर रहा है, लेकिन उसको स्वयं को ऐसा कुछ भी भास नहीं होता। जब भी उसको किसी कार्य के फलस्वरूप प्रशंसा मिलती है, तो वह मन ही मन मुस्करा देता है कि, 'प्रभु, करने कराने वाले तो आप ही सब कुछ हैं और मुझे कृपावश आप प्रशंसा दिला रहे हैं।' ऐसी स्थिति हो जाती है, जब वह ईश्वर का निकट सम्बन्धी हो जाता है। उसकी न कर्म का, न देह का और न दुनिया का बंधन रहता है। कोई भी बंधन उसको बांध नहीं पाता। कितनी परम विलक्षण और मुक्त स्थिति है, कर्त्तव्यों से रहित, बंधनों से रहित। वह व्यक्ति बहुत आनन्दमय मानसिक स्थिति में विचरता है, सांसारिक सम्बन्धों से मुक्त हो जाता है।

ईश्वरीय सम्बन्ध यदि विशिष्ट प्रभु कृपा से परिपक्व हो जाए, मिल जाए किसी को, तो वह सदा ही सांसारिक बन्धनों से, तुच्छ सम्बन्धों से, जो क्षणिक हैं, इन सम्बन्धों के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। उसको संसार अच्छा लगता है, उसका सांसारिक परिवार बड़ा हो जाता है। वह सबके लिए स्वतंत्र हो जाता है, सब उसके लिए स्वंतत्र हो जाते हैं लेकिन वे सब कुछ होते हुए भी किसी बंधन में कदापि नहीं बँधता। ईश्वरीय सम्बन्धों में कुछ ऐसा ही चमत्कार है जिसको ईश्वर अपने सम्बन्धी के रूप में ग्रहण कर लेते हैं, अति प्रभु कृपा से उसके बाद वह संसार में रहते हुए भी संसार के बंधनों, सम्बन्धों और कर्तव्यों से मुक्त हो जाता है। ऐसी विलक्षण मानसिक स्थिति हो जाती है।

ऐसे व्यक्ति इस संसार में आते हैं और उनके द्वारा जो किए गए कार्य हैं, वे सभी कार्य उनके इष्ट द्वारा ही प्रतिपादित होते हैं और उनके इष्ट को ही उनके कार्यों का ज्ञान होता है, कि वे उसकी देह से क्या–क्या करवाना चाहते हैं? स्वयं वह किसी भी कर्म में या किसी भी कर्त्तव्य में नहीं बंधता। उसकी

मानसिक स्थिति में विशिष्ट परिवर्तन आ जाते हैं। सदा हर्ष में, उल्लास में, अभय में, आरोग्यता में, सर्वसम्पन्नता में, मस्ती में, एक विशिष्ट मुदिता में उसका जीवन बीतने लगता है। वह सदा प्रसन्न रहता है। वह स्वयं भी नहीं जानता, कि इस अज्ञात प्रसन्नता का कारण क्या है? इसको कहा है स्वाभाविक मुदिता। उसको ईश्वर से मोह हो जाता है और यदा–कदा, उसकी याद आने पर उसके नेत्रों से अविरल अश्रुओं की धारा बहने लगती है। दोनों नेत्रों से बहती हुई धाराएं, दोनों गालों से होते हुए, गर्दन से होते हुए, उसके हृदयस्थल पर दोनों धाराओं का संगम हो जाता है, मानो दो छोटी–छोटी नदियाँ एक अति सौम्य एवं अविरल सगम होने के बाद एक नदिया बन गई हों। इस प्रकार शांत, संतुष्ट जीवन बीतने लगता है।

ऐसे उपासकों की कोई बड़ी माँग नहीं होती। ऐसी स्थिति को प्राप्त होने के बाद एक छोटी सी माँग रह जाती है कि, 'मेरे प्रभु! मेरे इष्ट! मुझे एक पत्थर की शिला बना दो, ऐसी शिला जिसमें दो नेत्र हों, जिसमें छोटा सा हृदय हो, ऐसा हृदय कि वह मात्र तुम्हें और तुम्हें ही याद करे। इस शिला के साथ मोह के अश्रुओं का एक विशाल सागर जोड़ दो। इन नेत्रों से अविरल तुम्हारे मोह के अश्रु बहें व युग–युगान्तरों तक बहते ही जाएं। यह हृदय तुम्हें याद करे और पत्थर की शिला इसलिए कि मुझे कोई भी व्यवहार न करना पड़े किसी भी जगत व्यवहार का मुझ पर कोई असर न हो।' तो कितनी छोटी सी मांग है इसकी। कल्पना करिए, इसकी मात्र कल्पना से ही मानसिक सुकून मिलने लगता है।, तो ईश्वर के सम्बन्धों की प्रगाढ़ता, घनिष्ठता, परिपक्वता मानव को महामानव बना देती है, महापुरुष बना देती है। वह संसार में रहते हुए भी, संसार में लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसकी सम्पूर्ण मित्रता, उसका सम्पूर्ण अस्तित्व, मात्र अपने इष्ट पर ही आधारित रहता है। कोई किसी के साथ है, कोई किसी के साथ, मेरी तो जिन्दगी है फक्त आप ही के साथ।

तुम मुस्करा कर देख लो ज़न्नत है ज़िन्दगी,
तुम फेर लो नज़र तो कयामत है ज़िन्दगी।

''ऐ मेरे आका ! मेरे मालिक ! मेरे खुदा ! एक तुम्हीं हो जो मेरे साथ हो,

तुम्हारे सिवा मेरा यह कोई नहीं है। प्रभु ! और यदि कोई है तो वह तुम्हारी और मात्र तुम्हारी वजह से ही है। मेरे सब कुछ तुम्हीं हो, मेरी हैसियत, मेरी औकात, मेरा रुतबा यदि कुछ है तो केवल तुम्हारी वजह से ही है।' जब उसकी समस्त शक्तियाँ, ईश्वरीय शक्तियों का रूप ले लेती हैं, जब उसके जीवन का एक–एक क्षण, एक–एक पल, अपने इष्ट के भीतर और उसके भीतर उसका इष्ट विचरने लगता है, तो वह जीवन–मुक्त हो जाता है। एक अद्वितीय, एक अविरल मुदिता एवं आनन्द की स्थिति में विचरता है, यह स्थिति अनिर्वचनीय है, इसको बयान नहीं किया जा सकता। तुम वो बात क्यों पूछते हो, जो बताने के काबिल नहीं है? इसको बताया नहीं जा सकता, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह ऐसी अटपटी सी स्थिति है।

मै चला शराबखाने जहाँ कोई ग़म नहीं है,
जिसे देखनी हो जन्नत, मेरे साथ–साथ आए।

शराब पीने के बाद क्या नशा होता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसका अनुभव किया जा सकता है, केवल उसी के द्वारा जो स्वयं शराब पिए हो। तो अपने प्रभु का, अपने इष्ट के सानिध्य का, उसके सम्बन्ध का जो आनन्द है, उसका वही वर्णन कर सकता है, वही अनुभूति कर सकता है, अनुभव कर सकता है, जो उसका सम्बन्धी बन जाए और जिसको वह स्वीकार कर ले अन्यथा यह मात्र बातें हैं और बातों का क्या अर्थ है?

ईश्वर सम्बन्धों की ओर जीव प्रेरित तब होता है जैसा कि संक्षेप में मैं पहले भी वर्णन कर चुका हूँ, जब मानव अपने ज्ञान द्वारा, ध्यान द्वारा उस परमब्रह्म को पकड़ नहीं पाता, उसके बाद वो भक्ति का मार्ग अपनाता है। ईश्वर को नाम और रूप में लेता है, उसमें मान्यता देता है और उस नाम व रूप में, उसके सान्निध्य में जाना चाहता है, भक्ति और प्रेम के द्वारा, आत्म–समर्पण के द्वारा, सब कुछ खोकर और उस खोए हुए को भी भूलकर समर्पण का भी समर्पण करके, त्याग का त्याग करके। जब वह उच्चकोटि की पराकाष्ठा वाली भक्ति का अधिकारी हो जाता है, उसके बाद भी उसे उस परमब्रह्म की झलक नहीं आती, तो अन्ततः वह सम्बन्ध का मार्ग अपनाता है। यदि वास्तविक ईश्वरीय

सम्बन्ध पैदा हो जाये, तो अति विशिष्ट ईश्वरीय कृपा से ऐसे महामानव, उस परमप्रभु, परमपिता परमात्मा की झलक पाने में कभी न कभी सफल हो ही जाते है। अन्ततः जब उस सम्बन्ध की उपलब्धि हो जाती है, ईश्वरीय सम्बन्ध की तो उसमें जो परिवर्तन आते है, उनका मै वर्णन कर चुका हूँ, वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। साकार उपासकों के चार मोक्षों में से, एक मोक्ष उसको मिल जाता है। उसके पाँचों विकार दिव्य उत्प्रेरक बन जाते हैं और वह पाँच अति दुर्लभ वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार उसका सम्पूर्ण जीवन हर्ष और उल्लास में, सन्तुष्टि में और मस्ती में बीत जाता है। वह शक्ति और भक्ति का इच्छुक नहीं होता, उसकी मस्ती की इच्छा होती है और अपने अधिकारवश वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में, समस्त प्रभु कृपा, प्रभु के आनन्द और प्रभु के मोह के सागर की माँग करता है कि, 'हे प्रभु, हे आनन्द के, कृपा के सागर! यह समस्त कृपा का सागर मेरे लिए है प्रभु और सारा संसार तुम्हारी कृपा में डुबकियाँ लगा रहा है, लेकिन यह सागर मेरे लिए हो।' बडी विचित्र मानसिक दशा होती है। ऐसे उपासकों की दृष्टि जहाँ पड़ती है, वह ही उनका हो जाता है।

न कोई बैरी, नहीं बेगाना, सकल संग हमको बनिआई।

उसका कोई शत्रु नहीं होता, उसका कोई बेगाना नहीं होता, सभी उसके अपने होते हैं। उस पूर्णकाम की परिपूर्ण आनन्दमयी दृष्टि पड़ने के बाद, वह परम संतुष्ट हो जाता है। वह संतुष्टि उसकी देह से, उसके श्वासों से, उसके भाव से, उसकी मुखाकृति से किरणों की भांति फैलने लगती है। ऐसे उपासकों के दिव्य लक्षण होते हैं। जो उनके समीप जाकर बैठता है, भले ही वह उससे दो टूक बात करें या न करें, तो समीप बैठने वाला श्रद्धालु, उनकी मस्ती से अछूता नहीं रहता।

जिसे तू देख ले इक बार मस्त नज़र से,
वो ज़िन्दगी भर हाथों में अपने जाम न ले।

उसको नशे की जरूरत नहीं पड़ती क्योंकि वह दिन–रात अपने प्रभु के, अपने इष्ट के नाम, उसकी सान्निध्यता, उसकी समीपता के नशे में खोया रहता है और इस प्रकार एक नहीं, अनेक जन्म बीतने लगते हैं। कर्मों से, कर्तव्य के

बंधनों से मुक्त और मुदिता से–दिल एक आनन्दमयी मुखाकृति और आनन्दमयी कष्टों से रहित, विकारों से रहित, देह का स्वामी हो जाता है। लोग उसके पास जाना चाहते हैं, उससे कुछ सुनना चाहते हैं, उसके पास बैठना चाहते हैं, ऐसे से लक्षण होते हैं उसके। वह न कभी किसी से बंधता है, न किसी को बांधता है

बांधन की विधि सब कोई जाने, छूटन की न कोई।

उपासक किसी को अपने साथ नहीं बांधते और न वह किसी से बंधते हैं क्योंकि यह ईश्वरीय मार्ग है, खुला मार्ग है, खुदाई मार्ग है। खुदा अर्थात् खुला हुआ। बंदा अर्थात् बंधा हुआ। जब बन्दे का खुदा से सम्बन्ध हो जाता है, तो बन्दा भी खुल जाता है। उसकी आदतें ईश्वर जैसी हो जाती हैं कुछ न कुछ। जैसा? मै पहले वर्णन कर चुका हूँ कि ईश्वर के किसी भी नामरूप में, छ गुणों का होना अति आवश्यक है। **ईश्वर परम सौन्दर्यवान है, परम सशक्त है, ज्ञानवान है, ऐश्वर्यवान है, परम ख्यातिवान है और परम त्यागवान है।** जो उसका वास्तविक सम्बन्धी होगा, जिसका उठना–बैठना अपने ऐसे यार के साथ होता है, जिसमें यह छः गुण परिपूरित हैं, जो इन छः विशिष्ट गुणों से, उत्कृष्ट गुणों से ओत–प्रोत हैं, तो क्या वह इन गुणों के सौंवें, हजारवें हिस्से का अधिकारी नहीं होता? अवश्य होता है। उपासक का प्रथम लक्षण है कि ईश्वर के छः गुणों में से कोई न कोई गुण उसमें झलकने लगता है और सबसे बड़ी उस मस्त उपासक की यह पहचान है, कि **न वह किसी को भयभीत करता है और न किसी से भयभीत होता है।**

"न भय का कूँ देत है न भय का सूँ लेत है"

मृत्यु का भी भय नहीं होता उसे, क्योंकि उसे मालूम होता है कि कभी भी उसके इष्ट की इच्छा से ही उसके जीवन का अन्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। वह किसी की धमकियों से घबराता नहीं है। जन्म और मृत्यु में, खोने और पाने में, मिलने और बिछुड़ने में उसको कोई भी अन्तर महसूस नहीं होता। लाभ–हानि, दोनों उसके लिए एक सी होती है। बस, उसके जीवन में सबसे मुख्य एक ही लक्षण होता है और वह है, **आनन्द**। जिस प्रकार कि बहुत अच्छा खिलाड़ी केवल खेलने का आनन्द लेता है, सुरुचिपूर्वक खेलने का और खेल में

हार–जीत उसको प्रभावित नहीं करती, उसी प्रकार ईश्वर के विलक्षण उपासक, उसके सम्बन्धी जीवन को खेलते हैं, आनन्दित होते हैं। यही खोना–पाना, जीना–मरना इत्यादि किसी का भी महात्म नहीं होता और न ही वह इसको कोई तूल देते है।

ईश्वरीय सत्ता का रहस्य क्या है? इसका उद्गम क्या है? इसका मध्य क्या है? इसकी अविरलता क्या है? यह लीला क्यों करती है? इसकी तीनों विधाएँ ब्रह्म, विष्णु, महेश क्या हैं? इनका कारण क्या है इत्यादि, जो सूक्ष्मतर रहस्य हैं, वे प्रभु की विशेष कृपा से, न चाहते हुए भी उनके सम्बन्धियों को ज्ञात हो जाते हैं। उसके सम्बन्धी भी ईश्वर की तरह ही बर्ताव करने लगते हैं अर्थात् उपासक में और उपास्य में कोई भेद नहीं रहता। ए**क ऐसा बिन्दु आता है जहाँ उपासक, उपास्य और उपासना एक ही हो जाते हैं। जहाँ इच्छा, इच्छुक, इच्छाफल एवं इच्छापूरक एक ही हो जाते है।** उसकी स्वयं की काई इच्छा ही नहीं रहती। उसके भीतर विराजमान वो ईश्वरीय सत्ता ही, उसका इष्ट ही इच्छुक होता है और उसकी प्रत्येक इच्छा उसके इष्ट की इच्छा होती है और इच्छापूरक उसका इष्ट होता है और इच्छाफल भी।

प्रत्येक कर्म, प्रत्येक कर्म का कारण और कर्म का कर्ता, उस कर्म का फल, उसका इष्ट ही होता है। वह प्रत्येक जीवन की परिस्थिति में, प्रत्येक विधा में, प्रत्येक काल में, प्रत्येक देश में सदा आनन्दित रहता है। हर बदलते हुए परिदृश्य को वह उसी प्रकार आनन्दित होकर देखता है मानो कोई बहुत सुन्दर चलचित्र देख रहा हो। प्रत्येक परिवर्तन पर उसके हृदय से वाह–वाह। ऐसे शब्द निकलते है स्वतः ही। यह वाह–वाह, यह प्रभु की प्रशंसा उसकी आदत बन जाती है। जीवन के प्रत्येक रूप, बचपन, युवावस्था, बुढापा और अति बुढ़ापा इत्यादि प्रत्येक अवस्था उसके लिए प्रशंसा होती है। उसकी प्रशंसा का विषय होता है, कि किस प्रकार मेरा इष्ट जो सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक है, जो सच्चिदानंद है, अपनी मन एवं माया शक्तियों द्वारा इस संसार में लीला कर रहा है और किस प्रकार वह इस लीला का दिग्दर्शन मुझे करवा रहा है और मुझे आनन्दित करना चाह रहा है। ऐसा सा होता है ईश्वरीय सम्बन्ध एवं सम्बन्धी।

।। जय जय श्री राम।।

आनन्द

मैं बल–बुद्धि, विद्या–हीन एवं असमर्थ, अशक्त अपने आराध्य देव प्रभु श्री हनुमान जी की परम शक्ति एव प्रेरणा से जो विषय आपके सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ यह एक सामान्य लेकिन महत्त्वपूर्ण विषय है। आज सारा संसार चिंताओं, शोक, भय वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, मानसिक एव शारीरिक रोगों से ग्रसित है। ऐसे बहुत कम लोग हैं, जो स्वयं को सब प्रकार से स्वस्थ एव प्रसन्न अनुभव करते हैं। इसका कारण क्या है? उस सच्चिदानद ईश्वर जो सत्य है, चेतन है, जन्म–मृत्यु से रहित है, आनन्द का सागर है, उसी की निर्मित इस सृष्टि में आज यह सब कष्ट क्यों हैं?

यह अति गंभीर एवं विचारणीय विषय है। पृथ्वी से कुछ लोग अँधेरे की शिकायत लेकर भगवान सूर्य के पास गए। भगवान सूर्य ने उन सबकी शिकायतें सुनी और अन्ततः हाथ जोड़कर खड़े हो गए, बोलें, 'भाईयो ! मैं आपकी सहायता करने में असमर्थ हूँ।' लोग बहुत हैरान हुए। बोले, क्यों प्रभु ! सूर्य भगवान ने कहा, 'आप जिस अँधेरे की शिकायत मुझ से कर रहे हैं, मैने उस अंधेरे का कभी नाम तक नहीं सुना, कभी अनुभव नहीं किया, मैने कभी उस अँधेरे को देखा तक नहीं, क्योंकि मै स्वयं प्रकाश स्वरूप हूँ।' लोगों को उनकी गलती का एहसास हुआ और वे पृथ्वी लोक पर वापिस लौट आए।

कितना सुन्दर दृष्टांत है यह, कि **जो सूर्य स्वयं प्रकाशवान है, स्वयं में प्रकाश है, ज्योति है, तेज है, भला उसने अँधेरा कहाँ और कैसे देखा होगा?** इसी प्रकार वह प्रभु, ईश्वर, खुदा, हम जिस किसी भी नाम से उसे पुकारें, वह स्वयं में हर्ष है, उल्लास है अभय है, आरोग्य है, सर्वसम्पन है, शक्ति, भक्ति, मस्ती का सागर है। जो आरोग्यता, सम्पन्नता एवं ऐश्वर्य की खान है। जो स्वयं में बल है, ख्याति है। जो त्याग हैं, ऐसे प्रभु से उत्पादित इस सृष्टि में भला रोग, दोष, शोक, भय, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि विकार यह सब कहाँ से पदार्पित हुए? इस विषय पर हमें गहनता से विचार करना है कि आज हम कही किसी अंधकार में तो नहीं खो गए हैं? कही हमारा समस्त जीवन कष्टों में निरर्थक तो नहीं बीत रहा है? कहीं हमारी सोच में तो अंतर नहीं है।

आज आवश्यकता अपने जीवन में सकारात्मकता को विकसित करने की है। दुर्भाग्यवश, बहुत से लोग नकारात्मकता के शिकार हैं। इन लोगों में एक पैदाइशी, नकारात्मक पहलू को ही देखने की वृत्ति होती है। उदाहरण के लिए यदि हम एक गिलास को आधा पानी से भर दें और पूछें, कि इस गिलास में जल कितना है? तो एक व्यक्ति कहता है कि यह जल से आधा भरा हुआ गिलास है और दूसरा व्यक्ति कहता है कि यह गिलास आधा खाली है। इन दोनों व्यक्तियों का कथन ठीक है। लेकिन देखिए, इन में वृत्ति का अन्तर है। एक उस गिलास में भरेपन को देख रहा है और दूसरा खालीपन को। बस, यही अन्तर सकारात्मकता और नकारात्मकता में है। **जो व्यक्ति सकारात्मक हैं, वे जीवन को भरा हुआ देखते हैं और जीवन का आनंद ले लेते हैं। जो नकारात्मक हैं, वे जीवन को खाली देखते हैं और दु:खी होकर जीवन व्यतीत करते हैं।** आज सारे विश्व में, प्रत्येक व्यक्ति में कहीं न कहीं भय समाया हुआ है। आज हर व्यक्ति चिन्तित है, तनावग्रस्त है, विक्षिप्त है और कुछ लोग तो जैसा कि मैं अपने पिछले उद्बोधन में बता चुका हूँ, अति भयभीत एवं हताश होकर इस जीवन का अंत तक कर देना चाहते हैं।

यह जीवन एक ईश्वरीय देन है, एक आनन्द है, फल है, भोग है, सौन्दर्य एवं रस है, शक्ति व प्रेरणा है, जो परमानंद का आभास करवाती है। यह वीणा है जिसकी ध्वनि मानव को ब्रह्मानंद दे सकती है। सुरा है, जिसका ग्रहण व पान, मानव को मदमस्त कर सकता है। परन्तु इस आनंद का रसास्वादन करने के लिए हमको सकारात्मक होना है। हमें अपनी प्रार्थनाओं को सकारात्मक बनाना है कि 'हे प्रभु! तुम हर्ष और उल्लास के सागर हो, मुझे भी हर्ष और उल्लास दो। तुम अभय और आरोग्यता के सागर हो, शक्ति, भक्ति और मस्ती के सागर हो, मुझे भी अभय कर दो, आरोग्य कर दो, मुझे शक्ति दो, मस्ती दो। हे आनंद के सागर! हे प्रेम के सागर! मुझे प्रेम से ठसाठस परिपूरित कर दो, मुझे आनंद दो! हे साहस और उत्साह की राशि! मेरे हृदय में साहस और उत्साह भर दो, ताकि उत्साहपूर्वक मै जीवन को बिताऊं।' ये हैं सकारात्मक प्रार्थनाएं। हम जब ईश्वर के सम्मुख नकारात्मक प्रार्थनाएं करते हैं, "हे प्रभु। मेरे कष्टों को हरो, मेरे दुखों

को दूर करो, मेरे रोगों को भगाओ, मेरे दोषों से मुझे मुक्त करो? तो शायद यह प्रार्थनाएँ प्रभु के सम्मुख स्वीकार न हों, क्योंकि **वह सर्वशक्तिमान ईश्वर, जो महातेज पुंज, प्रकाशवान व आनन्द के सागर हैं, शायद वे कष्टों को, दुखों को, रोगों को और गरीबी को उसी प्रकार नहीं जानते, जिस प्रकार कि प्रकाशवान सूर्य भगवान, अँधेरे को नहीं जानते।** यह एक महत्वपूर्ण एवं विचारणीय विषय है।

सकारात्मकता, आनन्द की तरफ प्रेरित करेगी। यह एक सोच में अन्तर है, विचारधाराओं में अंतर है। यही विचार हमें एक ओर जहाँ आनन्दित जीवन. की ओर ले जाते हैं, वहीं दूसरी ओर विचारों का प्रदूषण हमें दुखित जीवन की ओर ले जाता है। इस विषय को हमें गम्भीरतापूर्वक पकड़ना और समझना है। आप देखेंगे, कि जब से बच्चा पैदा होता है, हम माता–पिता होने के नाते उसके कोमल मस्तिष्क पर कोई न कोई बोझ डालना शुरू कर देते हैं, जिम्मेदारियों का, अध्ययन का और अन्य चीजों का और जैसे ही वह होश सभालता है, वहीं अपने तथाकथित कर्त्तव्यों में उलझ जाता है। एक ढाई–तीन साल के बच्चे के कंधों पर किस तरह किताबों का बोझ लाद दिया जाता है, वह बचपन जो उसके खेलने–कूदने का, माँ के आंचल और गोद में आनदपूर्वक बिताने का होता है, उसको हम उससे छीन लेते हैं। होश संभालते ही वह भय से ग्रसित हो जाता है और जब वह विद्या अध्ययन करते–करते बड़ा होता है, तो उसके व्यक्तित्व में भय, आक्रोश, तनाव स्वतः ही पदार्पण कर लेते हैं। अनुमान लगाइए, भले ही वह कुछ डिग्रियाँ लेकर कुछ बन जाए, पर उसका जीवन घोर नारकीय बन जाता है। वह स्वयं के लिए, समाज के लिए कुछ भी नहीं कर पाता। उसकी विद्या नकारात्मक हो जाती है। उसकी शिक्षा समाज को देती कम है लेकिन समाज से लेती ज्यादा है।

आज चरित्र–हनन क्यों हो रहा है? क्योंकि सिवाय स्कूल की पढ़ाई, कालेज की डिग्रियों के अतिरिक्त कोई चरित्र निर्माण की शिक्षा नहीं है। इस शिक्षा में ईश्वरीय स्पर्श नहीं है। हम दुर्भाग्यवश बुद्धि और केवल बुद्धि पर ही निर्भर हो चुके हैं। आज मात्र हमारा उद्देश्य जीवन के लिए ही जीना रह गया है,

अर्थात् किस प्रकार जीविका उपार्जन करें? किस प्रकार जीवन के अन्य साधनों को जुटाए? अन्ततः जुटाते–जुटाते वृद्धावस्था आ जाती है।

वेदान्त एक दर्शन है जिसका अंत होता है एक महावाक्य में **दृष्टा दृष्टिवाद अर्थात् हमारा बाह्य जगत हमारे भीतरी जगत का बाह्य प्रगटीकरण है और इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।** वेदान्तिक दर्शन के अनुसार जो कि विश्व का महानतम् दर्शन है, विश्व के जितने दर्शन–शास्त्री हुए हैं और जो कुछ भी उन्होंने लिखा है, वह वेदान्त दर्शन का ही भाग है। **इसके अनुसार हम बाह्य जगत में जो कुछ भी देख रहे है, जिसमें हमारी देह भी शामिल है, हमारे मित्र, हमारे सगे–सम्बन्धी, हमारा परिवार, हमारी शिक्षा, धन, सम्पत्ति, धर्म, कर्म, रहने का स्थान, हमारे पड़ोसी, हमारा देश, हमारा समाज, यह हमारी भीतर की वृत्तियों का बाह्य प्रगटीकरण है।** एक कैसेट रिकार्ड हो चुकी है, जो हम पैदा होते समय साथ लेकर जन्मते है, यह वृत्तियाँ पैदाइशी होती हैं और कुछ हमारे जीवनकाल में बन जाती हैं जो उस कैसेट में रिकार्ड हो जाती हैं। ये वृत्तियाँ हमारे भीतर हैं जो समय–समय पर हमारे मुख विभिन्न प्रकार का जगत बनकर खड़ी हो जाती हैं।

अज्ञानतावश हम उस बाह्य जगत को अपने से अलग समझ लेते हैं, जबकि वह हमारे हृदय पटल से होता हुआ हमारी भीतरी वृत्तियों का बाह्य प्रगटीकरण है। यह एक परम वेदान्तिक सत्य है। यदि हम इसको पकड़ ले, तो हमारा जीवन अति सुखमय हो जाएगा। यह जो हमारा भीतरी रिकार्डिड कैसेट है या रिकार्ड होता है, यह ईश्वरीय इच्छा से ही होता है, इसमें कोई दो राय नहीं है। लेकिन इस सत्य को जानने के बाद हमको अपने बाह्य जगत को देखकर अपने भीतरी जगत का सही अनुमान अवश्य लग जाता है। संत कवि कबीरदास ने कहा है –

बुरा मैं ढूँढन मैं चला, बुरा न मिलियो कोय,
जब मैं देखा आपको, मुझसे बुरा न कोय।

जब हम देखते हैं कि बाह्य जगत में हमको बुरे लोग मिल रहे हैं, तो जान लीजिए कि हमारे अन्दर कोई बुराई है।

दुर्भाग्यवश, हम स्वयं को न तो देखना चाहते हैं और न ही स्वयं को देखने की हमारे पास फुर्सत ही है। यदि हम स्वयं को देखें, अपने भीतर झांककर हर रोज़ देखें, तो हमें अपने बाह्य जगत का अनुमान लग जाएगा और बाह्य जगत से हमें किसी प्रकार का गिला या शिकवा नहीं होगा। हमारे बाह्य जगत में जो कुछ प्रकट हो रहा है, हमारे परिवार को, देह को लेकर भी, वह हमारी अन्तः वृत्तियों का बाह्य प्रगटीकरण है। हम जब किसी व्यक्ति की बुराई करते हैं, निंदा करते हैं, चुगली करते हैं, तो उस व्यक्ति का कुछ भी नहीं बिगाड़ते। जब हम किसी व्यक्ति का बुरा सोचते हैं, तो हमारे सोचने से उसका बुरा होगा कि नहीं होगा, हम नहीं जानते लोकन हमारा बुरा उसी समय तुरन्त हो जाता है, क्योकि हमारे भीतरी कैसेट पर वैसी ही रिकार्डिंग आ जाती है। इसलिए यह एक बहुत विचारणीय विषय है, कि **हम शुभ सोचें, शुभ बोलें और शुभ देखें। इससे हमारे भीतरी जगत पर एक शुभ प्रभाव पड़ेगा।** जब हम विशेष प्रकार के धर्म–कर्म करते हैं, जाप करते हैं, मंत्रा, यंत्र–तत्रों का अध्ययन करते है, अभ्यास करते हैं तो इन सारे कर्मों का अर्थ हमारे भीतरी जगत को संशोधित करने के लिए और अति आनन्दित बनाने के लिए होता है। बाह्य जगत मे कुछ भी नहीं है, सभी हमारा भीतरी प्रगटीकरण है।

आपने सुना होगा कि अमुक–अमुक कष्ट को दूर करने के लिए महापुरुष कुछ प्रक्रियाएँ बताते हैं, कुछ विशेष प्रकार के योग व विशेष प्रकार के यंत्र–मत्र–तत्र बताए जाते हैं, यदि वे सही हैं, तो उनके अभ्यास से बाह्य जगत के कष्ट दूर हो जाते हैं। इसके पीछे क्या रहस्य है? उन विशेष प्रक्रियाओं द्वारा हमारे भीतरी कैसेट में कष्ट जनक तथ्यों में संशोधन होने से हमको छुटकारा मिल जाता है और हमारा बाह्य जगत उसी के अनुसार आनदमय हो जाता है। इसलिए हमको हमेशा सतर्क और सावधान रहना होगा कि हम कोई ऐसा कार्य न करें, कोई ऐसा विचार न करें जिससे हमारे भीतरी कैसेट में किसी तरह की कोई गलत रिकार्डिग आ जाये, जो देर–सवेर हमारे बाह्य जगत में अवश्य प्रकट होगी। तो क्या ये वृतियों का जो कैसेट हमारे अदर पहले से ही स्थापित है, जन्म के साथ ही हमारे साथ आया है, क्या हमारा सम्पूर्ण जगत इसी के अधीन

है? क्या हम इसमें संशोधन नहीं कर सकते? हां! कर सकते हैं। उसका एक ही समाधान है, वह है परम ईश्वरीय कृपा और ईश्वरीय प्रार्थना, क्योंकि उस सर्वशक्तिमान प्रभु ने एक उत्कृष्ट जगत का निर्माण किया हुआ है, प्रत्येक जीव को अपने में एक सम्पूर्ण जगत बनाया है। यह बड़ा गहन रहस्य है। उसकी विशेष वृत्तियों बनाई हैं और उसी के अनुसार उसकी वृत्तियों का प्रगटीकरण होता है, उसकी आदतें होती हैं, उसका बाह्य जगत होता है। उसके शरीर का एक विशेष ढाँचा होता है। किसी भी व्यक्ति की किसी से शक्ल नहीं मिलती, किसी भी व्यक्ति की किसी से चाल नहीं मिलती, तो प्रत्येक व्यक्ति की विभिन्न वृत्तियाँ हैं। अब कुछ ऐसी वृत्तियाँ अन्दर रिकार्ड हुई हैं, कि जब वे बाह्य जगत में प्रकट होती हैं तो हम भयभीत हो जाते हैं। हम चिंतित हो जाते हैं। हम उस विशिष्ट जगत से भागना चाहते हैं। कई बार तो कुछ लोग आत्म–हत्या तक की सोचने लगते हैं। उससे हम लोग छुटकारा कैसे पाएं? जब हम तहे–दिल से उस परम–पिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं, तो हम पाते हैं कि वह भीतरी कैसेट संशोधित हो जाता है। वस्तुतः हमारा बाह्य जगत भी उसी के साथ आनन्दित हो जाता है।

आप कभी विचार करके देखें, कि जब हम वी. सी. आर. में कोई कैसेट लगाते है और टी. वी. पर उसे देखते है तो कुछ दृश्य हमें अच्छे नहीं लगते। हम उनको फास्ट–फारवर्ड कर देते हैं। यह फास्ट फारवर्ड भी दो प्रकार से करते हैं। एक तो कैसेट को बंद करके और दूसरे चलते हुए कैसेट में, जो दृश्य हमको भाता नहीं है, उसको फास्ट फारवर्ड कर देते हैं। इसी प्रकार जब ईश्वरीय कृपा होती है, तो कुछ कष्ट स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं, कुछ कष्टों का समय बहुत जल्द बीत जाता है और हमको महसूस भी नहीं होता। उस ईश्वरीय कृपा से यहाँ तक होता है, कि बड़े–बड़े जीवन के कष्ट केवल स्वप्न में ही समाप्त हो जाते हैं। यह एक रहस्य है, एक तथ्य है, सत्य है, इसको यदि हम पकड़ लें, तो उस भरे हुए कैसेट में ईश्वर कृपा से विभिन्न प्रकार के संशोधन आ सकते हैं। ऐसा नहीं है, कि हम उस सम्पूर्ण जगत को देखने के लिए बाध्य ही हों। अब कोई व्यक्ति विभिन्न प्रकार के दुर्व्यसन करता है, जैसा कि मेरे पिछले प्रवचन में

शराब के दर्शन का वर्णन था, कि जिस घर में शराब का पदार्पण होता है, वहाँ पर कलह अवश्य होगी और धन की ओर से कभी भी संतुष्टि नहीं होगी, क्योंकि इन दुर्व्यसनों के सेवन से हमारे उस भीतरी कैसेट में इस प्रकार की रिकार्डिंग आ जाती है। वह कैसे आती है, यह हम किसी को समझा नहीं सकते। यह केवल आत्मानुभूति का विषय है। जब हम कोई भी दुर्व्यसन करते हैं, उस दुर्व्यसन से हम अपने भीतरी जगत को विकृत कर देते हैं और भीतरी विकृत जगत हमारे बाह्य कष्टों के, असंतोष, भय, त्रास, वैमनस्य के रूप में कभी न कभी प्रकट होता है। जितना वातावरण हम शुभ बनाएं, शुद्ध विचार करें, शुद्ध जीवन हो, घर–बाहर स्वच्छ, मानसिकता स्वच्छ, सबका भला सोचें तो हमारा भीतरी जगत भी उतना ही स्वच्छ और सुन्दर बन जाएगा।

निरंतर ईश्वर से प्रार्थना करें, जो भी कार्य हो ईश्वर निमित्त करें तो हमारा भीतरी जगत अति सुन्दर हो जाएगा। जैसे ही भीतरी जगत सुंदर होगा, हमारा बाह्य जगत भी सुंदर हो जायेगा। उसके लिए प्रतिदिन कुछ समय निकाल कर हमें अपने भीतर अवश्य देखना है। अगर मुझसे कोई **ध्यान** की परिभाषा पूछे, तो मेरे शब्दों में **स्वयं को परखना, स्वयं को अंतर्मुखी होकर देखना, अपनी स्वयं की वृत्तियों का सत्य विश्लेषण करना और स्वयं को शुद्ध करने के लिये प्रभु से प्रार्थना करना ही 'ध्यान' है।** उससे हमें अपने बाह्य जगत के बारे में काफी सत्य का ज्ञान हो जाता है। हम किसी को दोषी नहीं ठहराते, किसी को पुण्यी–पापी नहीं ठहराते। हमें जानकारी हो जाती है, कि हमारा समस्त जगत, हमारे भीतर की वृत्तियों का ही बाह्य प्रगटीकरण है। इसी तथ्य को मैने चिकित्सा–विज्ञान से ऊपर उठकर चिकित्सा–दर्शन में लिया कि देह में प्रकट होने वाले विभिन्न रोग भी हमारी भीतरी रुग्ण वृत्तियों का प्रगटीकरण हैं। मैंने चिकित्सकों के लिए उन विभिन्न वृत्तियों का विश्लेषण अलग–अलग रिकार्डिंग में रखा है। यह विषय सर्वसाधारण के लिए आवश्यक नहीं है। यही केवल इतना ही बताना आवश्यक होगा, कि हमें **सब प्रकार से भीतरी जगत को अति उदात्त और महान रखना है। हमारा सबसे बड़ा कर्म यही है और उसके लिए ईश्वरीय प्रार्थना के अतिरिक्त इससे बड़ा**

और कोई उपाय नहीं है।

आइए, हम अपने जीवन को अति भव्य बनाने के लिए अपने जीवन में दिव्यता का समावेश करें। उस सर्वशक्तिमान, सच्चिदानद, सौन्दर्यवान, ऐश्वर्यवान, बलवान, ख्यातिवान, त्यागवान ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त करें और उसकी इस सुन्दरता की सराहना करने के लिए, उसका आनन्द लेने के लिए अपने दिल–दिमाग की खिड़कियों को खोलें, अपनी पात्रता को बढ़ाएं। जब हम सुपात्र हो जाएंगे, तो ईश्वरीय कृपा की हमें कोई कमी नहीं मिलेगी। जितना भी हम चाहेंगे, हम ईश्वरीय कृपा को समेट सकते हैं। न केवल समेट सकते हैं बल्कि हम आगे भी बाँट सकते हैं, यह एक वेदान्तिक रहस्य है, जिसका हमें अनुसरण करना है। इस प्रकार हम अपने जीवन को अति आनन्दमय बना सकते हैं।

लाभ–हानि, खुशी–ग़म, प्रकाश–अंधकार यह सब सापेक्षिक शब्द हैं। इन सबका दामन–चोली का साथ है। ज़रा विचार करिए, यदि अंधेरा नहीं होगा, तो प्रकाश का महत्व कैसा? यदि हमें गरीबी का मालूम नहीं है, तो अमीरी का आभास हम कैसे कर सकते हैं? यदि हमें कष्टों का ज्ञान नहीं है, तो हम सुख का भास कैसे कर सकते हैं? यह सब सापेक्षिक शब्द है। क्या जिसको हम अंधकारमय, जिसको हम कष्टमय जीवन कहते हैं, यह उस सुख को प्रतीत करने का एक साधन नहीं है, बहुत विचारणीय विषय है। इन सापेक्षिक शब्दों का अपना महात्म्य केवल इतना है, कि यह एक दूसरे की अपेक्षा है। **अंधेरे बादलों में भी एक बिजली की चमक होती है। जो सकारात्मक लोग हैं, जिनकी बुद्धि सकारात्मक है, वे हर कष्ट में, हर दुःख में, कुछ न कुछ प्रकाश ढूँढ ही लेते हैं। जो नकारात्मक है, वो हर सुख में भी कोई न कोई कष्ट ही देखते है।** उनको तो बस निराश होकर जीना है। इसीलिए हमें आज और इसी समय संकल्प लेना होगा, हमें याद करना होगा, कि **हमारा एक दिव्य स्वरूप जो हमारे अन्दर कहीं खो गया है उस स्वरूप को अभी जागृत करें!** प्रत्येक सुबह उठते ही हम अपने स्वरूप का ध्यान करें और उसके बाद देखें कि हमारा पूरा दिन किस प्रकार आनन्दमय बीतता है।

आप देखते होंगें, कि ज्यादातर लोग व्यस्त हैं, लेकिन कार्य का परिणाम

कुछ नहीं है। इसका कारण यह है कि हम अशक्त और मंद सकल्पों से ग्रसित हैं। यदि सुबह उठते ही हम कुछ क्षण देव–दरबार में अपने प्रभु के सामने बैठकर, जो कार्य हमें दिन में करने हैं, उनका हम एक सशक्त संकल्प कर लें कि यह कार्य तो आज होगा, तो आप देखेंगे, उस संकल्प की महिमा इतनी है, कि वह कार्य करने जब आप निकलेंगे, तो स्वतः ही साधन जुड़ जाएंगे। जिस कार्य को करने के लिए हम कई दिन या महीने लगा देते हैं, वह कुछ क्षणों में सम्पन्न हो जाएगा। हमारे अन्दर धारणा शक्ति और संकल्प शक्ति का इतना महात्म्य है, जिसको हम आजीवन दुर्भाग्यवश जानते ही नहीं। इतनी बड़ी विशाल हनुमंत शक्ति, इतनी बड़ी विशाल ईश्वरीय शक्तियाँ हमारे अन्दर समाहित हैं और हम केवल अपनी तुच्छ बल–बुद्धि और विद्या पर ही आधारित रहते हैं।

आज हमें उस दिव्यता के सागर में, एक छलाँग लगाने की आवश्यकता है। क्या खो जाएगा हमारा? क्या लेकर आए हैं हम और क्या हमको लेकर जाना है, इस मूल मंत्र को हमें हर रोज़ कई बार दोहराना होगा, कि हम संसार में खाली हाथ आए हैं और खाली हाथ हमको जाना है, तो क्यों न जीवन का हम भरपूर आनन्द लें। और इस आनन्द के पीछे एक परम रहस्य है, कि यह समस्त संसार ईश्वर निर्मित है। यह हमारा जीवन ईश्वर की देन है और उस परम पिता ने इस सम्पूर्ण जीवन एवं विश्व पर अपना एकाधिकार रखा हुआ है। हमें कोई भी इसका अधिकार नहीं दिया है।

यदि हम यहाँ संसार में आकर आनन्द लेना चाहते हैं, तो हमें किसी वस्तु पर, अपनी देह पर, किसी प्रकार की सम्पत्ति पर, ईश्वरीय निर्मित वस्तु पर अपना अधिकार छोड़ना होगा। **यहाँ कुछ नहीं है हमारा, यह बात हमें तहे–दिल से अपने दिल–दिमाग में बसानी होगी। केवल तभी और तभी ही, हम इस संसार का भरपूर आनंद ले सकते हैं।** यदि हम इस जीवन में आकर वस्तुओं पर, पृथ्वी पर, हवा पर, आकाश पर, जल पर, सम्पत्ति पर और व्यक्तियों पर अधिकार करने की आदत डाल लेंगे, तो हम जीवन में कभी भी आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते। यदि हमारा जीवन यहाँ प्राप्ति और भोग के पीछे

ही दौड़ता रहा, तो हमारा आनन्द खो जाएगा, क्योंकि **आनन्द का वस्तुओं की प्राप्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है।** ज़रा विचार करिए, कि जंगलों में कितने बड़े–बड़े जानवर और समुद्र में कितनी बड़ी–बड़ी मछलियाँ हैं, कितनी बड़ी सृष्टि है, तो परमात्मा ने स्वयं सबका सब इंतजाम किया हुआ है। जीवधारियों के लिए सबसे आवश्यक हवा है तो सारा ब्रह्माण्ड, सारा वातावरण हवा से भर दिया गया है, ताकि किसी को साँस लेने में हवा की कमी न पड़ जाए। उसके बाद हमें जल की आवश्यकता होती है, तो हवा के बाद जल प्रचुर मात्रा में है–समुद्र, नदियाँ, तालाब, पृथ्वी के भीतर जल, बाहर जल, खूब जल का इंतज़ाम कर दिया गया है। हज़ारों प्रकार की वनस्पतियाँ बना दी गई हैं खाने–पीने के लिए। उस परमात्मा ने कोई भी कमी नहीं छोड़ी है, लेकिन दुर्भाग्यवश हम पैदा होते ही, अपने जीवन के लिए ही सब कुछ सोचना शुरु कर देते हैं। अपनी अल्प सी, तुच्छ सी बुद्धि को पूर्णतया अपने जीवन पर ही एकाग्र कर लेते हैं, तो उसकी इस विशाल सम्पदा, उस प्रभु की इस महान देन का आनन्द नहीं ले पाते। हम अपना एक तुच्छ संसार बना लेते हैं। उसी में विचरते हैं, उसी में लड़ाई–झगड़े करते रहते हैं, ईर्ष्या–द्वेष करते रहते हैं और अन्ततः हम मर जाते हैं। फिर हम उसी तुच्छ संसार में, उसी तुच्छता में पुनः जन्म लेते हैं और फिर मरते हैं और इस प्रकार यह सिलसिला असंख्य जन्मों में चलता रहता है। यदि हम उस ईश्वर की कृपा का आनन्द लेना चाहते हैं, तो हमें अपने दिल–दिमाग को खोलना होगा।

कहते है कि जहाँ ईश्वर है, वहीं ऐश्वर्य है, सौन्दर्य है, वही बल है, ख्याति है, त्याग है, शक्ति है, यदि ऐसा है, तो प्रश्न यह उठता है, कि ईश्वर कहाँ नहीं है ? यदि यह ईश्वर सर्वत्र विराजमान है, तो सर्वत्र ऐश्वर्य क्यों नहीं है? गहनता से विचार करें, तो ऐश्वर्य सर्वत्र है। ईश्वरीय आनन्द का सागर सर्वत्र है लेकिन दुर्भाग्य से हम उसको लेने के पात्र नहीं हैं। ज़रा विचार करिए, कि हमारे मोहल्ले में कोई दूध का टेंक लाकर एक होका दे दे, कि जितना दूध चाहिए मुफ्त में ले लो, तो यदि हम छोटी सी लुटिया लेकर जाएंगे, गिलास लेकर जाएंगे, तो वह उसमें उतना ही तो दूध डालेगा। हम जितना बड़ा पात्र लेकर

जायेंगे, वह उतना बड़ा पात्र भर देगा। तो ईश्वरीय आनन्द को अधिक से अधिक, उसकी कृपा को अधिक से अधिक लेने के लिए हमें अपनी पात्रता को बढ़ाना है। केवल यही चाहिए ईश्वरीय आनन्द को स्वयं में समाहित करने के लिए। हमें अपना दिल–दिमाग खोलना होगा।

सूर्य के प्रकाश को यदि हम लेना चाहते हैं, तो बन्द कमरों से बाहर आना होगा, हमें अपने दरवाजों, खिड़कियों और रोशनदानों को खोलना होगा। अर्थ क्या है, कि हम सर्वत्र मानव–जाति को, जीव–जाति को एक समझें, सबका भला सोचें, अपनी हीन भावना को हमें त्यागना होगा। जब ईर्ष्या का समावेश होता है तो यह हमारी हीनता का द्योतक है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के ऊपर विचार करें और सकारात्मकता से विचार करें तो हम देखेंगे, कि कुछ न कुछ, प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर ने दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा अलग से अवश्य दिया है। मान लीजिए, एक व्यक्ति के पास धन अधिक है और दूसरे के पास कम है, तो कम वाले को कुछ ऐसी चीज़ अवश्य दी होगी, जो अधिक धन वाले के पास नहीं है। किसी के पास शिक्षा ज्यादा है, किसी के पास बहुत बडा सुन्दर मकान है, किसी के पास वाहन है, किसी का पद बड़ा है लेकिन जो समझते हैं, कि उनके पास कुछ नहीं है वे विचार करके देखें तो प्रभु ने उनको कुछ और विशिष्ट आनन्दमय दिया है, जो दूसरों के पास नहीं है।

हम एक या दो वस्तुओं को देखकर अपने अन्दर ईर्ष्या और द्वेष की भावना जाग्रत कर लेते हैं और उसी में जल–जलकर हम अपना जीवन नष्ट कर देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, छोटे से लेकर बड़ा, उसको ईश्वर ने कुछ विशिष्ट दिया अवश्य है। कभी आप बड़े ध्यान से किसी बन्द स्थान पर, किसी एकान्त स्थान पर बैठ कर चिन्तन करें, तो हम देखेंगे कि जीवन के बीते हुए जितने पहलू हमारे सम्मुख आते हैं, प्रत्येक पहलू में कुछ न कुछ आनन्द अवश्य था। जिस प्रकार जीवन में हम अग्रसर होते रहते हैं, तो कुछ जाने की लालसा में उस वस्तु को हम पा भी लेते है तो उसके साथ कुछ न कुछ हमें खोना अवश्य पडता है, यह मैं भौतिक जगत की बात कर रहा हूँ। कोई भी व्यक्ति यदि अपने बीते हुए आठ–दस पहलुओं पर प्रतिदिन विचार करें, तो हम पाएगे कि प्रत्येक

पहलू में कुछ विशिष्ट आनन्द अवश्य था।

हमारे बाल्यकाल में, हमारे विद्यार्थी जीवन में, हमारे अविवाहित जीवन में और इस जीवन के विभिन्न पहलुओं में कुछ न कुछ ऐसी विशिष्टता अवश्य थी। ऐसा आनन्द अवश्य था, जो कि पहलू बदलने के साथ हमने खोया और कुछ अन्य वस्तु पा लीं। यह भौतिक जगत की बात है, लेकिन जब हम **आध्यात्मिक जगत में पदार्पण कर लेते हैं, ईश्वर कृपा से, तो उसके बाद किसी ऐसी चीज़ का कोई महत्व ही नहीं रहता। जीवन एक अविरल, एक आनन्दमय सरिता की तरह बहता रहता है, उसमें खोने–पाने, हर्ष, खुशी–गम, गरीबी–अमीरी इन सब चीज़ों का कोई महत्व नहीं रहता। वहाँ तो सिर्फ आनन्द ही आनन्द होता है, केवल आनन्द।** कोई भी पहलू आनन्द से रहित नहीं है। यदि हम आनन्दमयी दृष्टि बना लें, तो हम पाएंगे कि हर पहलू में हमें ईश्वर ने कुछ न कुछ आनन्द अवश्य दिया है।

हम प्राप्तियों के पीछे भाग रहे हैं। यदि हम विचार करके देखें, तो जिस चीज़ को प्राप्त करने के लिए हम दिन–रात लालायित रहते हैं, भटकते रहते हैं, क्या उसकी प्राप्ति की कोई गारंटी है? यदि हमें वह वस्तु प्राप्त भी हो जाती है, तो क्या उसके भोग की हमें कोई गारंटी है ? यदि उस वस्तु का भोग भी हम कर लेते हैं, तो क्या उसके साथ आनन्द की गारंटी है? हम नहीं जानते कि हम जो कुछ भी कर रहे हैं, किसलिए कर रहे हैं? बहुत व्यस्त हैं हम लेकिन हम नहीं जानते कि हम जा कहाँ रहे हैं? इसका अर्थ यह नहीं है, कि हम प्राप्ति और भोग से मुख मोड़ ले। जो क्षण भी हम बिताए जीवन का, वह आनन्दमय हो। किसी वस्तु को, किसी निर्माण को करने से पहले, कोई कार्य करने से पहले जो योजना बनाएं, वह योजना आनंदमय हो। उसकी जब शुरुआत करें, जब उस कार्य को करें, तो वह कार्य आनन्दमय हो और जब उसका फल मिले, वह फल आनन्दमय हो। उसका भोग आनन्दमय हो। इसके लिए आवश्यक है, कि हम प्रत्येक कार्य को ईश्वर समर्पित कर दे, कि 'हे प्रभु। आप ही इसे करने वाले हैं, आप ही इच्छा हैं, इच्छुक आप हैं, इच्छापूरक आप हैं और इच्छाफल भी आप हैं। "असंख्य इच्छाओं और कामनाओं को लेकर हम जीते हैं। एक इच्छा पूरी होती

है, दूसरी इच्छा सामने खड़ी हो जाती है। इच्छाओं की पूर्ति के लिए हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, तो हम देखते हैं, हमारे व्यवहारिक जीवन में रोज़मर्रा की घटना है, कि **किसी इच्छा की पूर्ति तो हो जाती है लेकिन यह आवश्यक नहीं कि उस इच्छा के पूर्ण होने के बाद जो इच्छाफल है, वह हमारे अनुकूल ही हो**। कई बार हम अपने बच्चों के बारे में इच्छा करते हैं, कि यह मेरा बच्चा चिकित्सक बन जाए, इंजीनियर बन जाए या और कुछ बन जाए। और जब वह बन जाता है तो अक्सर हम देखते हैं, कि हमको पछतावा हो जाता है, कि यदि यह न ही बनता तो अच्छा था। कई बार हम इच्छा करते हैं, कि हमारी पुत्री का विवाह इस प्रकार के लड़के से, ऐसे घर में हो जाए, जब वह हो जाता है, तो अक्सर हम पछताते हुए नज़र आते हैं, कि यदि यह विवाह न ही होता तो अच्छा था। कई बार हम अपने विशेष कारोबार की विशेष उपलब्धि की इच्छा करते हैं, उस उपलब्धि के बाद हम देखते हैं, कि हम प्रसन्नता के बजाए विक्षिप्त हो जाते हैं, कि ऐसा न होता तो अच्छा था। कारण क्या है इसका? क्योंकि हम इच्छाफल को भूल जाते हैं।

हम इच्छाओं की पूर्ति के लिये प्रार्थना करते हैं, लेकिन इच्छाफल हमारे अनुकूल हो, इसकी प्रार्थना हम भूल जाते हैं और दूसरी गलती हम यह करते हैं कि उन इच्छाओं को हम अपना मान लेते हैं और हम स्वयं इच्छुक बन जाते हैं। **यदि ये चारों वस्तुएँ इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल हम ईश्वर अर्पित कर दें, तो हमारी अपनी कोई इच्छा नहीं रहती। प्रत्येक इच्छा जो हमारे अन्दर उठती है, वह ईश्वरीय बन जाती है। इच्छा उत्पन्न होते ही आनन्द होने लगता है। हमें इच्छुक बनकर उस इच्छा का आनन्द आने लगता है। उस इच्छा की पूर्ति में जो भी कार्य होता है उसमें आनन्द आता है और इच्छापूर्ति के बाद जो इच्छाफल है, वह भी आनन्दमय होता है।**

संशोधन करना होगा हमें, अपने जीवन के प्रत्येक पहलू में, अपनी प्रार्थनाओं में, अपनी इच्छाओं में, अपने कर्मों में। भला सोचिए कि जिन कर्तव्यों और कर्मों का बोझ हम ढो रहे हैं, कौन सा ऐसा कार्य है संसार में, जो हमारे बिना रुका हुआ था और रुका हुआ है। तो क्यों न हम इस देह में जो भी

ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ हमको दी गईं हैं, जो भी हम कार्य करते हैं अपनी बुद्धि द्वारा, वे हम ईश्वर अर्पित करके करें।

जैसा कि हमने बताया कि **जीवन शून्य से शुरू होता है और शून्य में समाप्त होता है।** ज़रा विचार करिए, कोई भी प्रश्न जब शून्य से शुरू होता है, हमें ज्ञात है कि इसका परिणाम, अन्त भी शून्य होगा। उसके मध्य में हम जो भी गणित करेंगे, उनकी कीमत शून्य से अधिक कैसे हो सकती है? तो क्या हम इस शून्य में ही तो नहीं भटक रहे हैं? हमारे असंतोष का एक अज्ञात कारण यह अज्ञात रहस्य है। **वास्तव में हम शून्य ही कर रहे हैं। हमारे किसी कर्त्तव्य या कर्म की कीमत शून्य से अधिक नहीं है। यह वास्तविकता है, यदि यह वास्तविकता न होती तो आज संसार में असतोष क्यों होता?** बड़े से बड़े कर्मठ और स्वयं को जो कर्मयोगी कहते हैं, वे भी असंतुष्ट क्यों है? रहस्य यह है कि सब शून्य ही शून्य एकत्रित कर रहे हैं, यह एक गहन आध्यात्मिक रहस्य है। **उस शून्य की कीमत यदि हम बढ़ाना चाहते हैं, तो उस शून्य के साथ एक को लगाना होगा।**

एक को लगाने के बाद वो शून्य 10 हो जाता है, एक की बजाय दो शून्य लगा दें तो 100, तीन लगा दें तो 1000, चार लगा दे तो 10000। इस प्रकार उन शून्यों की कीमत बढ़ जाती है। तो यह **एक** क्या है ? **यह एक है, एक ईश्वरत्व।** प्रत्येक कार्य, जो हम करते है, यह मात्र खेल–तमाशा है। जब हम उस कार्य को ईश्वर के निमित्त करके करते हैं, तो उस कार्य की कीमत बढ़ जाती है और जीवन आनन्दमय हो जाता है अन्यथा शून्य में भटकते–भटकते हम उस शून्य में ही अन्त हो जाते हैं। यदि हम चाहते हैं कि जीवन का प्रत्येक पहलू आनन्दमय हो, तो हमें किसी कार्य को करने से पहले सर्वप्रथम उसका स्वतः भाव देखना होगा। जो कार्य ईश्वरीय होते हैं, उनमें स्वतः भाव होता है। जिस प्रकार हमारा जन्म, हमारी मृत्यु और मध्य में जीवन की जो घटनाएं हैं, वे ईश्वरीय इच्छा से होती हैं, हमारे हाथ में नहीं हैं तो उनका **एक विशेष समय होता है। उस समय पर विशेष परिस्थितियाँ बनती हैं, विशेष प्रकार की हमारी मानसिकता बनती है, विशेष प्रकार के साधन स्वयं जुट जाते हैं।**

इसको कहा है स्वतः भाव। उस कार्य में तीन आनन्दों का समावेश होता है। उस कार्य को प्रारम्भ करने से पहले आनन्द, उस कार्य के मध्य में आनन्द और उस कार्य की समाप्ति के बाद भी आनन्द। इसका टैस्ट हमें स्वयं करना है कि जो कार्य स्वतः भाव से हो और तीनों आनन्दों से समावेशित हो, वह कार्य ईश्वरीय है। अतएव सबसे आवश्यक आनन्द जो है वो अन्तिम आनन्द है। ***आगाज़ को कौन पूछता है, अंजाम अच्छा हो ज़िंदगी का।*** अगर हम सुबह से शाम तक भटकते रहें और शाम को अपने घर में आकर आनन्दपूर्वक सो जाए, तो समझिए हमारा दिन सार्थक है। इसलिए अंतिम आंनद अधिक अहमियत रखता है।

हमारे जीवन में बचपन से ही, युवावस्था से ही ईश्वर चिंतन आवश्यक है। **ईश्वर चिंतन से एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती है, जो हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू को एक विशिष्टता प्रदान करती है।** उसके बिना जीवन फीका सा महसूस होता है। जीवन शुरु हुआ है और जीवन समाप्त होगा अवश्य! तो क्यों न हम इसको आनन्दपूर्वक बिताए। जिसके लिए आवश्यक है कि हम अपने अन्दर की दिव्य शक्तियों को जाग्रत करें। यह दिव्यता प्रत्येक जीव में है, जिसे हम भूले हुए हैं। हमें आज से ही संकल्प करना होगा, कि सुबह उठते ही हम अपनी दिव्यता का अवलोकन करें, उसको जाग्रत करें। जो भी कार्य हमारे सस्कारोंवश, भावोंवश और परिस्थितियों–वश हमारे सम्मुख आएं, उन सबको हम समर्पण भाव से ईश्वर निमित्त करते हुए करें, ताकि कार्य करने में भी आनंद और कार्य के अंत में भी आनंद। प्रत्येक इच्छा की जागृति के साथ आनन्द उत्पन्न हो। इच्छाओं की प्राप्ति एवं इच्छा परिपूर्ण होने के बाद भी उसके फल का आनन्द आए।

आज हमारे विक्षेप, भय, हमारी चिन्ताओं और दुखों का एक बड़ा कारण और भी है, कि हम दूसरों की ओर देखने रहते हैं। दूसरों की आलोचना करते हैं, बुराई करते हैं, उनसे द्वेष करते हैं, घृणा करते हैं, उनकी बुराईयों पर हमारा ध्यान एकाग्र होता है। हम उन्हीं की चर्चा करते हैं। क्या कभी हमने अपने स्वयं को देखा है? स्वयं को भूल गए हैं हम। यह एक विचारणीय विषय है। जिस दिन

हम स्वयं के बारे में कुछ जान जाएंगे, उस दिन यह वैमनस्य, यह ईर्ष्या, यह द्वेष, आलोचना, कटुता, वैर, विरोध सब समाप्त हो जायेगा। यह सब बेकार हमारी चिंता का और हमारे भय का कारण है। मैं एक उदाहरण देता हूँ—यदि हम थोड़ी सी मिट्टी दिल्ली से लें, कुछ लंदन से लें, कुछ वाशिंगटन से लें। चार—पाँच विभिन्न देशों से, विभिन्न स्थानों से भी उस मिट्टी का किसी प्रयोगशाला में विश्लेषण करें, तो पाएंगे, कि प्रत्येक जगह की मिट्टी में जो तत्व हैं, कैलशियम, मैगनीज, सिलिका इत्यादि, इन तत्वों में कोई विशेष अन्तर नहीं होगा। उनकी मात्रा के प्रतिशत में थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है। इसी प्रकार यदि हम स्वयं का विश्लेषण करें, अपने आपको अन्तः दृष्टि से देख ले कि, **मै कौन हूँ?** अपने प्रतिदिन के भावों का विश्लेषण करें कि अमुक समय पर, अमुक व्यक्ति के सामने, अमुक परिस्थिति में, मेरा अमुक भाव जागृत क्यों हुआ? उस पर ईमानदारी के साथ गहन चिंतन करें, सत्य—चिंतन करें, तो नित्याध्यासन करते—करते हमें स्वयं के बारे में, स्वयं का थोड़ा बहुत ज्ञान हो जाएगा। हमारा मनोविज्ञान एक बहुत ही विशाल सागर है। एक बहुत बड़ा ब्रह्माण्ड है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने में एक जगत है। दुर्भाग्यवश, हम अपने बारे में कुछ भी नहीं जानते। जिस दिन हम स्वयं को जान जाएगे, हमें सबका ज्ञान हो जायेगा। मनुष्य की मूल वृत्तियों का हमको ज्ञान हो जाएगा। यह एक व्यवहारिक सत्य है, जो मै आपको बता रहा हूँ। हमें जिस दिन स्वयं का ज्ञान हो जाएगा, कि मेरे अन्दर वृत्तियाँ कौन सी है? मेरे अन्दर कमज़ोरियाँ कौन सी हैं? विशिष्टताएँ कौन सी हैं? मैं कहाँ हूँ? उस दिन हमें प्रत्येक मनुष्य के बारे में, उसकी मूल—वृत्तियों का अध्ययन अवश्य हो जाएगा। हमारा यह द्वेष, वैमनस्य, क्रोध, ईर्ष्या, वैर उस दिन समाप्त हो जाएगा। हम उन व्यक्तियों के साथ, जिनके साथ हम बैर रखते हैं, विरोध रखते हैं, हमारी उनके साथ मित्रता हो जाएगी।

मनुष्य—मनुष्य में कोई बहुत अंतर नहीं है, बस दुर्भाग्यवश, हम स्वयं को नहीं जानते इसलिए हम दूसरे लोगों को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। मनुष्य स्वयं से ही बर्ताव करता है। जब हम किसी व्यक्ति को मिलते हैं, तो

उसका व्यवहार, उसका बर्ताव जो हमारे साथ होता है, उससे हम उस मनुष्य को परख लेते हैं क्योंकि **आध्यात्मिक दृष्टि से हम स्वयं से ही बर्ताव कर रहे हैं।** जो हमारे भीतर जगत है, जो हमारी भीतरी वृत्तियाँ हैं, हमारी इच्छाएँ हैं, जो हमारे भीतर भरा हुआ है, जब हम किसी व्यक्ति से मिलते हैं, तो हम सीधे या परोक्ष रूप से उसी को बाहर प्रस्तुत करते हैं। यदि किसी का व्यवहार बहुत सुन्दर है, तो उससे मिलकर प्रसन्नता होती है। किसी व्यक्ति के पास खड़े होकर शांति मिलती है, तो समझिए वह व्यक्ति महान है, शांत है, मददगार है। उस व्यक्ति से मेलजोल रखना, उसके साथ सान्निध्य रखना, उसका संग करना शुभ होगा और जब कोई व्यक्ति आपसे मिलता है और उसको मिलकर आपको वितृष्णा होती है, वह व्यक्ति आपको नीचा दिखाना चाहता है, तो उस पर क्रोध मत करिए, यह जान लीजिए कि कहीं न कहीं उस व्यक्ति के जीवन में कोई बहुत भारी विक्षेप अवश्य है।

जिन लोगों का स्वयं का जीवन नारकीय होता है, भले ही वे किसी पद पर हो, भले ही वे कितने सम्पन्न हो, अन्य व्यक्तियों को भी नारकीय ही बना देते हैं या अपने अन्दर के विक्षेप को, त्रास को, भय को बाहर प्रकट करते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। यदि कोई व्यक्ति भीतर से भयभीत है, तो वह दूसरे को सांत्वना कैसे दे सकता है? दूसरे को अभय कैसे कर सकता है? यदि कोई स्वयं रुग्ण है मन से, हृदय से, शरीर से, भले ही वह कितना बड़ा चिकित्सक हो, वह दूसरे को स्वास्थ कैसे दे सकता है? यदि कोई स्वयं निर्धन है, तो वह दूसरे को धनवान कैसे बना सकता है?

आज हम चिकित्सकों को पूर्ण स्वस्थ होना है। **यदि हम समाज में व्यक्तियों में स्वास्थ्य बाँटना चाहते हैं तो अपना लोभ त्याग कर, हृदय के अन्य विकारों को निकाल कर हमें शारीरिक और मानसिक रूप से परम स्वस्थ बनना होगा।** स्वास्थ्य का अर्थ अक्सर लोग लेते हैं, कि जहाँ रोग न ही। यह रोग केवल शारीरिक ही नहीं–देखने में शारीरिक रूप से स्वस्थ लोग बहुत मिलेंगे, लेकिन वे असंख्य मानसिक रोगों से जकड़े हुए हैं। आज हम चिकित्सक लोग जो कि समाज को स्वास्थ्य करने का दावा करते हैं, अधिकार

रखते हैं और जिनकी तरफ समाज की निगाहें स्वस्थ लेने के लिए लगी हैं, आवश्यक है, कि हम समाज की मानसिकता को भी उसी प्रकार स्वस्थ करें, जिस प्रकार की शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक है। यदि हमारा मन स्वस्थ होगा, तो हमारा शरीर भी स्वस्थ होगा। **एक स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर में रहता है और जहाँ स्वस्थ शरीर होता है वही अक्सर मन भी स्वस्थ होता है।** वहीं हमारे अन्दर विकारों का पदार्पण होगा, तो देर सवेर हमारा शरीर अस्वस्थ हो जाएगा, हमारा जगत अस्वस्थ हो जाएगा। इसके अतिरिक्त जो विशेष बल देने वाली बात है वह यह कि जो भी कार्य, जो भी कर्त्तव्य, हम अपने जीवन में पालन करें, उस प्रत्येक को ईश्वर निमित करना, ईश्वर के चरणों में समर्पित करना नितान्त आवश्यक है, नहीं तो जैसा मैं कह चुका हूँ, हम शून्य से शुरू होते है और शून्य में ही समाप्त होते हैं। हमारा मध्य भी शून्य में ही बीतता है, भले ही हम अपने आपको कितना ही आवश्यक व्यक्ति समझ लें, यह हमारी एक बहुत बड़ी भूल है।

यहाँ एक बात का विशेष उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ, कि अपने इस प्रवचन में बार–बार हर कार्य को ईश्वर समर्पण, ईश्वर के सान्निध्य में, ईश्वर चिंतन इत्यादि संज्ञाओं का प्रयोग किया है। यहाँ यह जानना अति आवश्यक है कि उपासना क्या है? उपासक कौन है? उसका टैस्ट क्या है? **उप–आसन अर्थात् करीब बैठना, समीप में आसन ग्रहण करना, किसी के पास बैठना, इसको कहते हैं–उप–आसन और जो किसी के समीप बैठता है, उसका नाम है उपासक। जो लोग ईश्वर के करीब बैठते हैं, उसके समीप होते है, उन्हें उपासक कहा गया है।** उपासक की पहचान क्या है?

आपने संग–प्रभाव के बारे में सुना होगा, देखा होगा, पढ़ा होगा। जिस व्यक्ति का संग प्रतिदिन ईश्वर के साथ है, उसमें ईश्वर के कुछ गुण तो आने ही चाहिए। जैसा कि मै पहले वर्णन कर चुका हूँ, ईश्वर को परिभाषित किया है शास्त्रों ने सच्चिदानंद कहकर और ईश्वर के छः विशिष्ट गुण वर्णित किए जा चुके हैं। जो व्यक्ति उपासक है, जो ऐसे ईश्वर के सान्निध्य में रहता है, तो

उसमें ईश्वर के छः गुणों का या छः गुणों में से किसी एक गुण का भी कुछ न कुछ अंश मात्र अवश्य आना चाहिए और यदि नहीं आया है, तो वह उपासक नहीं है। एक विशिष्ट मस्ती, एक दीवानगी, खोने में एक नशा, यह उपासकों की बाह्य पहचान है और उसका अंतर्जगत आनन्द के एक भव्य सागर में हमेशा डूबा रहता है। गुरुनानक देवजी ने लिखा है

नानक दुखिया सब संसार, सो सुखिया जो नाम आधार

जिसको प्रभु के नाम का आधार मिल जाता है, वही व्यक्ति संसार में सुखी है अन्यथा सभी लोग किसी न किसी कष्ट से ग्रसित है। **ईश्वर का नाम–जाप जीवन का मूलमंत्र है।**

हमारे भीतर की वृत्तियाँ, हमारी इच्छाएं, हमारे जीवन की धारणाएं, हमारे अंदर की कैसेट में जो अंकित हैं, वे ही हमारे बाह्य जगत में प्रकट होती हैं। आप विचार करके देखें, कि मनुष्य मन, हमारी बुद्धि एक क्षण भी चुप नहीं बैठती। जब हम खाली होते हैं या कोई दैहिक कार्य कर रहे होते हैं, जिसमें बुद्धि का कोई विशेष प्रयोग नहीं होता, तो हम देखते हैं कि हमारे दिमाग में कोई न कोई विचार अवश्य उठते रहते हैं। यदि हम थोड़ा सा अन्तर्मुखी होकर देखें, तो हमें महसूस होगा कि हमारे अंदर बहुत उथल–पुथल चलती रहती है। हम कुछ न कुछ सोचते रहते हैं, कही न कहीं हमारा मन अवश्य भागता रहता है। यदि हम कभी एकान्त में बैठकर उस उथल–पुथल और उन विचारों पर, जो हमारे मस्तिष्क में उठ रहे हैं, उनका थोड़ा विश्लेषण करें, तो हम पाएंगे कि अत्यधिक सोच और उससे उठने वाले हमारे यह विचार पूर्णतया निरर्थक और व्यर्थ होते हैं। इस प्रकार उठने वाले विचार हमें तनावग्रस्त ही करते हैं या हम स्वयं में भयभीत हो जाते हैं या चिंतित हो जाते हैं। आपने यह हर रोज़ के जीवन में कभी अनुभव किया होगा, नहीं तो आप करके देखें कि हम खाली समय में अपने अंदर उठने वाले विचारों से हर्षित कम और दुखी ज्यादा होते हैं। इन विचारों की निरर्थकता को या उसकी रिकार्डिंग को, जो हमारे भीतरी जगत में हो जाती है, उस पर अंकुश कैसे लगाया जाए? रोका कैसे जाए? इसके लिए हमारे ऋषियों–मुनियों ने, मनीषियों ने, विचारकों ने जाप का महात्म्य बताया है।

प्रत्येक धर्म में किसी न किसी जाप की मान्यता होती है। यह जाप हम खाली समय में, सफाई करते समय या गाड़ी में बैठे–बैठे, जिस समय हमारे पास कोई विशेष कार्य नहीं होता, उस समय यदि हम जाप करें, तो हमारा मन कुछ न कुछ उस परमसत्ता, उस ईश्वरीय सत्ता में लग जाता है और हमारे अन्दर उन ऊट–पटांग विचारों की कोई रिकार्डिंग नहीं होती।

जाप की सात श्रेणियाँ हम बता चुके है। **एक, बोल–बोलकर जाप करना।** जब हम बहुत विक्षिप्त हों, हमारे अन्दर बहुत ज्यादा उथल–पुथल हो और हम ध्यान न दे सकें, उस समय बोलकर जाप करना चाहिये। **दूसरा,** जब चित्त थोड़ा समाहित हो तो मुहँ बंद करके और **जीभ हिलाकर जाप, तीसरी** श्रेणी का जाप **कण्ठ में** चलता है, **चौथी** श्रेणी में **भृकुटि के मध्य में, पाँचवी** में **हृदय** में, छठे में जाप **ब्रह्मरन्ध** में चलता है और **सातवीं** और अंतिम प्रकार का जाप, जिसको हम **जाप–समाधि** कहते हैं। जाप करते–करते कभी साधक समाधिस्थ हो जाता है और उस समय **जाप** अपनी देह से बाहर कहीं चलता हुआ प्रतीत होता है। जब हमें जाप का अभ्यास हो जाता है, तो उसमें यह आवश्यक नहीं होता, कि हम सोच कर जाप की प्रकार को ढूँढे, बल्कि एक विशिष्ट परिस्थिति में, समय में, स्वतः ही जाप किसी न किसी विविधता के साथ शुरू हो जाता है।

यह है जाप का महात्म्य, उससे किसी प्रकार का कोतूहल या तनाव उत्पन्न ही नहीं होने पाता। हमारे मन में जिसको हम अपना मन कहते हैं वास्तव में यह मन ईश्वरीय है। माया और मन दोनों ही ईश्वरीय है और गलती से हम इस मन को अपना मान लेते हैं, इस पर अधिकार करने की चेष्टा करते हैं, जो कि असम्भव है। जरा गौर करिए, कि जब शिशु माँ के गर्भ में पल रहा होता है, तो कौन सा मन उसका सृजन करता है ? कौन सा मन वहां काम कर रहा होता है? **यह ईश्वरीय मन है और यही ईश्वरीय मन हमारे जीवन काल में, हमारे समस्त जीवन को नियमित करता है, जीवन को चलाता है और यही मन अंत मे हमारा संहार करता है। यही मन और यही माया, ब्रह्मा बनकर सृष्टि का निर्माण करते हैं, विष्णु बनकर सृष्टि का**

पालन करते हैं और शिव बनकर, यही सृष्टि का संहार करते हैं। गफलत में हम इस मन पर अधिकार पाना चाहते हैं, जबकि इसका पूरा नियंत्रण ईश्वर के हाथ में है। यह मन ईश्वरीय है, तो हम मन से कुश्ती करना छोड़ दें। हम देखें कि वह ईश्वरीय मन हमको कहां ले जा रहा है? जैसे ही हमें इस सत्य का भास हो जाएगा कि यह मन ईश्वरीय है, तो भटकने का प्रश्न ही नहीं होगा। जहाँ भी मन हमको ले जाएगा, हम आनन्द का ही अनुभव करेंगें। मन की गतियाँ हमको भटका देती हैं। उस समय यदि हम ईश्वर के सामने प्रार्थना करें तो यही मन, ईश्वरीय मन में परिणत हो जाता है और हमको ईश्वर की ओर, सत्य की ओर ले जाता है। हमारा हर कर्त्तव्य हर कार्य दिव्य हो जाता है और हमारा जीवन आनन्दित हो जाता है। हमारी भटकन समाप्त हो जाती है। हमारे विक्षेप खत्म हो जाते हैं। यह एक आध्यात्मिक खोज है कि हम मन एवं माया को ईश्वरीय शक्तियाँ समझ कर प्रणाम करें। इन पर अधिकार करने का प्रयत्न न करें, यह मेरा व्यक्तिगत अनुभव है।

जब हम मन और माया को समर्पित कर देते हैं, ईश्वरीय मन और माया में, और पूर्णतया उसको दिव्य समझ लेते हैं, तो कभी भी यह मन और माया हमको भटकाते नहीं है। जीवन का प्रत्येक ऐश्वर्य, जीवन की प्रत्येक प्राप्ति हमको आनन्दित करती है, हममें अहम् जाग्रत नहीं होने देती और हम इस जीवन काल में सब प्रकार के सुखों को, ऐश्वर्यो को भोगते हुए उस परमतत्व की प्राप्ति कर लेते हैं। हम जीवन–मुक्त हो जाते हैं, इसी मन के सहारे से, जब मन को ईश्वरीय मान लेते हैं। यह ईश्वरीय है लेकिन दुर्भाग्यवश इसको हम अपना मान लेते हैं।

जैसा कि मै पहले कह चुका हूँ कि इस संसार में यदि हम आनन्दपूर्वक जीवन बिताना चाहते हैं तो यही की किसी भी चीज हमें अधिकार नहीं करना है। **यहाँ का कुछ भी हमारा नहीं है, यह मन एव माया भी हमारी नहीं है। यह देह हमारी नहीं है, यह समस्त जीवन हमारा नहीं है। इस पर ईश्वर का एकाधिकार है।** हमारे हाथ थे कुछ भी नहीं है तो हम अपनी बुद्धि से, अपनी इन्द्रियों से उस महान कलाकार की कृति को, जीवन के हर क्षण, हर

पल, हर पहलू को वाह—वाह करते, इसका आनन्द प्राप्त करें! यही हमारे जीवन का लक्ष्य है। इस सम्पूर्ण कथन का जो तथ्य है, कि हम इस जीवन को, जो कि कोई उपहार नहीं है, जिसकी कोई शै, कोई पहलू हमारे हाथ में नहीं है, यहाँ हमारे द्वारा किया गया कोई भी कर्म, हमारा कर्त्तव्य नही है, तो इन विशिष्ट तथ्यों को अपने हृदय में धारण करते हुए हम अपने वर्तमान को अति सुन्दर और भव्यता से बिताए। अपने हाथ में कुछ भी न रखें और अपने प्रत्येक कर्म को ईश्वर समर्पित करते जाए तो हमारा जीवन एक विशेष भव्यता में और आनन्द में बीतता है और सार्थक हो जाता है।

।। जय जय श्री राम।।

दिव्य उत्प्रेरक

जीवन एक छोटी सी यात्रा है। इस दुनिया में असंख्य लोग प्रतिदिन पैदा होते हैं, प्रतिदिन मरते हैं, सभी लोग समान नहीं हैं। कोई ऊँचे उठते हैं तो बहुत ऊँचे उठ जाते हैं और कोई बहुत निम्न स्तर पर। यहाँ तक कि संसार में अति खोज करने पर भी हम सर्वोच्च और सबसे निम्नकोटि के मानव को ढूँढ नहीं सकते। ऐसा क्यों है? ऐसा क्यों होता है? क्या ईश्वर ने यह सृष्टि भिन्न–भिन्न प्रकार की स्वयं ही बनाई है? या हम स्वयं इसके जिम्मेदार हैं? यह बड़ा विचारणीय विषय है, अति गंभीर विषय है, इसका कुछ निर्णय तो होना चाहिए। इसका कारण तो हमें ज्ञात होना चाहिए, भले ही हम अपने कर्मोंवश, सस्कारोंवश और भाग्यवश किसी विशेष स्तर पर जीवन को बिताकर समाप्त कर दें। किसी शायर ने लिखा है–

खुदी को कर बुलन्द इतना, कि हर तकदीर से पहले,
खुदा बन्दे से खुद पूछे, बता तेरी रज़ा क्या है?

वह खुदा, जो बन्दे की तकदीर को, किस्मत को, मुकद्दर को लिखता है, तय करता है, जो उसके भाग्य का विधाता है, वह खुद उस बन्दे से सलाह ले, 'कि कहो, मैं तुम्हारे बारे में क्या लिखूँ?' यह कोई अतिशयोक्ति नही है, कोई बढ़ा–बढ़ा कर कही गई बात नहीं है। शायद यह सत्य है, कि एक **'खुदी'** जिसको हम **'आपा'** कहते हैं, हमारी खुदी क्या है? और इस हमारी खुदी में और उस खुदा की खुदी में अन्तर कहाँ है? शायद यह रहस्य हमारी समझ में आ जाए, तो हम अपनी खुदी को ऊंचा करने में, अपने आप को बढ़ाने में कामयाब हो जाएं।

खुदा, अर्थात् जो खुला है अर्थात् जो अपनी खुदी का मालिक है और बन्दा जो बंधा हुआ है, जिसकी खुदी बहुत छोटी हो गई है। हमने स्वयं को, अपने आपको बहुत छोटा बना लिया है। शायद, इसलिए हम खुदा से बहुत दूर हो गए हैं। क्या है हमारी खुदी (आपा)? दुर्भाग्यवश और परिस्थितियों वश, सस्कारोंवश हम स्वयं को बहुत छोटा मान बैठे हैं। हम अपने आपकी, स्वयं की पहचान करते हैं अपनी देह से, अपने अमुक–अमुक नाम से, अपने

माता–पिता से, अपने भाई–बहिनों से, अपनी सम्पत्ति से, धन से, पद से, धर्म से, कर्म से और न जाने किन–किन वस्तुओं से हम अपने आपको, स्वयं को बहुत संकीर्ण, अति सकीर्ण स्तर पर लाकर खड़ा कर देते हैं, जो कि हमारी भूल है। जैसे–जैसे उस खुदा का, किसी महापुरुष का, किसी संत का सान्निध्य हमको मिलता है, करीबी मिलती है तो हमारा 'आपा' बड़ा होने लगता है, हमारी दृष्टि उठती है और हम खुद को पाते हैं, कि हम इतने छोटे नहीं है। तमाम दुनिया की हर शख्सियत पर, हर सम्पत्ति पर, कुदरत की हर विधा पर हमारा अधिकार है। हक है हमारा। जब वह हक बढ़ता है उपासना द्वारा, ईश्वर की कृपा द्वारा तो हमारी खुदी बढ़ जाती है। हम खुद में खुद ही बड़े हो जाते हैं और बड़े होते जाते हैं। यह गफ़लत है हमारी कि हम अपने–आपको बहुत छोटा मान बैठे हैं।

कोई भी उपासक, कोई भी खुदा का बन्दा, जब उसके दरबार में बैठता है, तो उसके पीछे उसकी एक सूक्ष्म मानसिकता, एक सोच होती है कि वह खुद को किस प्रकार वृहत कर ले, बड़ा कर ले, उसका भीतरी आकार बड़ा हो जाए, उसके हक–हकूक बढ़ जाएं, शायद इसलिए वो खुदा का आश्रय लेता है। एक समय पर अपने आपको वही व्यक्ति, वही नाम व रूप और उसी परिवार से सम्बन्धित रहता हुआ, अपने आपको बहुत विशाल दायरे में महसूस करने लगता है, यह किसी भी उपासक की पहली पहचान है। जब तक स्वयं में हम बड़े नहीं लगने लगते तब तक समझिए कि उपासना का असर शुरू नहीं हुआ है। धीरे–धीरे सारा ब्रह्माण्ड, कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड हमारे भीतर समाहित हो जाते हैं। ऐसा लगने लगता है, मानो सभी कुछ मुझ में से प्रकट हुआ हो और मुझ में समा रहा हो। यहाँ तक कि एक स्थिति वह आती है, जबकि ऐसा सचमुच लगने लगता है, कि शायद इस खुदा को बनाने वाला भी मै ही हूँ।

सूफी–सन्तों ने कभी–कभी आक्रोश में आकर उस खुदा को भी सुना दिया। उसकी मोहब्बत में, उसकी विरह में कभी–कभी विक्षिप्त होकर वे यह कहने से भी नहीं चूके–

मुझे माफ कर खुदाया, मैने तुझे खुदा बनाया,
तुझे कौन पूछता था, मेरी बन्दगी से पहले?

ऐ खुदा ! तुझे खुदा बनाने वाला मैं हूँ। तेरी बन्दगी कर करके तुझे मैंने खुदा बना दिया,

मै कभी न मुस्कुराता गर मुझे यह इल्म होता,
कि हज़ार ग़म मिलेगें तेरी इक खुशी से पहले।

उस खुदा को झकझोर देते हैं वे उपासक कि, 'ऐ खुदा! मै हूँ तुझे खुदा बनाने वाला। मेरे करीब आ, मेरे पास आ।' विशेष हक के साथ उसके पास बैठते हैं, उसको अपने पास बैठाते हैं। स्वामी राम ने कहा है ***'न मैं बन्दा था, न खुदा था'*** अपने वास्तविक रूप के बारे में। जिस वक्त उपासक विशेष प्रभु कृपा से अपने वास्तविक स्वरूप की झलक पा लेता है, तो उस समय यह विशेष उद्‌गार उसके भीतर से प्रकट होते हैं–

न मैं बन्दा था, न खुदा था,
दोनों इल्लत से जुदा था, मुझे मालूम न था।
चाँद बदली में छुपा था, मुझे मालूम न था।
मैं खुद ही खुद में पर्दा बना था, मुझे मालूम न था।

न मैं बन्दा था, न खुदा था, दोनों इल्लत से जुदा था। देखिए, उस स्थिति में, खुदाई भी एक इल्लत, एक दोष नज़र आने लगती है, कितनी ऊँची स्थिति है–

खुदा नवी दोनों की इन्तहां हूँ मैं, स्वाहा हूँ मैं, महास्वाहा हूँ मैं।

यह खुदाई तो मुझसे शरु होती है। मैं हूँ उसका शुरु करने वाला। इसका मध्य मैं हूँ और इसका अन्त भी मैं। अब सवाल यह उठता है कि वही 'मैं' जो बन्दा बन गई, जो ज़िन्दगी के हर पहलू के लिए उस खुदा के सामने हाथ बढ़ाए कुछ न कुछ माँगती रहती है वहाँ 'मै' जब खुदा को हुक्म देने लगती है, उन दोनों 'मैं' में अन्तर कब आ जाता है? क्यों आ जाता है? बहुत विचारणीय, बहुत सोच समझ का विषय है।

ज़िन्दगी शुरु होती है, चलती है, खत्म हो जाती है, तो क्या है कर्म हमारा? हमारा धर्म क्या है? क्या हम बंधते चले जाएं कि मैं हिंदू हूँ, मैं, पारसी हूँ, मैं ईसाई हूँ। क्या है यह धर्म कि और बँध जाएं हम देश–विदेशों में, विचारों में,

संस्थाओं में, काल में, स्थान में? दुर्भाग्य है, कि पैदा होने के बाद हम जैसे ही होश संभालते हैं, हम बंधते ही चले जाते हैं। कब हम उस खुदा की खुदाई का आनन्द लेगें, जब तक कि एक जुनून सवार नहीं हो जाएगा हमारे अन्दर! इस छोटी सी 'मैं' को कि, 'मै अमुक व्यक्ति हूँ, मैं अमुक देश का वासी हूँ, अमुक धर्म है मेरा, अमुक परिवार है मेरा, अमुक सम्पदा है मेरी'। अरे, ज़रा नज़र डालिए कितना बड़ा विशाल सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। यही नहीं करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं। उसमें हमारी अहमियत क्या है? हैसियत क्या है हमारी? जब उससे हम तुलना करते हैं तो अपने आपको हम कहीं भी नहीं पाते। क्या यही हमारे जीवन का लक्ष्य है? यही उद्देश्य है हमारे जीवन का कि इस छोटी सी 'मैं' में ही हम अपना पूरा जीवन गँवा दें। फिर पैदा हो, फिर वैसे ही मरें और यह सिलसिला चलता रहा है, चलता रहे। नहीं–नहीं। क्या कर्म है हमारा? इष्ट प्रेरणा से मैं यह बगावत भरे शब्द इसलिए रख रहा हूँ, कि हमारा वास्तविक कर्म हमको याद आ जाए, हमें अपनी खुदी याद आ जाए और हमको खुदा भी अपने भीतर से प्रकट होता हुआ नज़र आने लगे। इस खुदी को, इस आपे को वृहद् करने के लिए कुदरत ने उस ईश्वरीय सत्ता ने हमको इसके साधन दिए हैं।

एक बहुत नया दृष्टिकोण, एक नया ख्याल मैं आपके सामने रख रहा हूँ– आज तक आप सुनते आए होगें, कि यह काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार सब विकार है। भला विचार करिए, कि वह परम सच्चिदानन्द सत्ता, ईश्वरीय सत्ता वह अपनी बनाई हुई जीव सृष्टि को विकारों से क्यों पूरित करेगी? क्यों विकार भरे होंगे उसने? मैं अपना अनुभव आपके सम्मुख रख रहा हूँ। यह विकार नहीं है। यह दिव्य उत्प्रेरक हैं। **उत्प्रेरक वे पदार्थ हैं, जो किसी प्रतिक्रिया को बहुत बड़ा देते हैं, लेकिन स्वयं परिवर्तित नहीं होते, परिवर्तन ला देते हैं और खुद वैसे के वैसे बने रहते हैं, उनको कहते हैं उत्प्रेरक–यह काम, क्रोध, मद, मोह अथवा अहंकार, ये सब उत्प्रेरक हैं।** बड़े–बड़े अपराध जब संसार में होते हैं कामवश, क्रोधवश, लोभवश व अहम्वश, विचार करिए, वे ही व्यक्ति जो बहुत शान्त प्रकृति का है, क्रोधवश वह भयानक से भयानक अपराध करने के लिए प्रेरित हो जाता है, कर बैठता है उन अपराधों को और अपना

जीवन नष्ट कर डालता है। इसी प्रकार कामवश, लोभवश, मोहवश, इन उत्प्रेरकों के वश होकर उसी व्यक्ति का स्वरूप बदल जाता है, भाव बदल जाता है, उसके कार्य बदल जाते हैं, उसका दृष्टिकोण बदल जाता है और वही व्यक्ति ऐसे कार्य करने के लिये तत्पर हो जाता है, लालायित हो जाता है, मजबूर हो जाता है, जो एक साधारण स्थिति में वह करने की सोच भी नहीं सकता। तो यह उत्प्रेरक हैं, इसमें दोष किसका है? दोष व्यक्ति का है, **उत्प्रेरक तो एक ऐसी शक्ति हैं, जिसने स्वयं परिवर्तित हुए बिना, स्वयं बदले बिना, व्यक्ति के व्यक्तित्व को बदल दिया** और उस बदले हुए व्यक्तित्व को हमने अपराध करने में लगा दिया। भले ही बाद में हम ग्लानि में उतर जाए, आत्मग्लानि हो जाए हमें। तो क्या हम इन शक्तियों को, इन उत्प्रेरकों को अपने उस स्वरूप के निर्माण के लिए, उस स्वरूप के प्रगटीकरण के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकते, जिसके द्वारा हम उस खुदा को पा ले! उसके नज़दीक पहुँच जाए।

काम का अर्थ है 'कामना'। एक तुच्छ से काम–सुख के लिए पूरा संसार लालायित है, भटक रहा है। उसका जो स्त्रोत होगा सुख का, इसी काम नामक उत्प्रेरक के प्रयोग से क्या हम उसके स्त्रोत पर नहीं पहुंच सकते? पहुँच सकते हैं तो कितना बड़ा सदुपयोग हो गया काम का।

इसी प्रकार **क्रोध,** हमारे और हमारे इष्ट के मध्य में, यदि संसार की कोई बहुमूल्य प्राप्ति भी आती है, भौतिक प्राप्ति, कोई आकर्षण जो हमारे और हमारे इष्ट के मध्य में बाधा बन जाती है, क्रोध रूपी उत्प्रेरक द्वारा क्या हम उस बाधा को नहीं हटा सकते? अवश्य हटा सकते हैं। हमारा व्यक्तित्व बदल जाता है। हम किसी भी चीज़ को अपने और अपने इष्ट के बीच में सहन नहीं कर पाते। कितना सुन्दरतम् प्रयोग है, इस क्रोध नामक दिव्य उत्प्रेरक का। जिस क्रोध के प्रयोग से हमारा व्यक्तित्व बदल जाता है और हम किसी की हत्या करने पर मज़बूर हो जाते हैं, किसी को गाली बकने लगते हैं, किसी की मार–पिटाई करने लगते हैं और बड़े–बड़े अपराध कर डालते हैं। तो क्या इस क्रोध के प्रयोग से, **इसके इस्तेमाल से अपने और अपने इष्ट के बीच का रास्ता साफ नहीं**

कर सकते अवश्य कर सकते हैं।

लोभ–लोभ भी एक दिव्य उत्प्रेरक है। साधारणतः इस लोभ का, इस भौतिक जगन में इस्तेमाल करते हैं धन–सम्पदा एकत्रित करने में, अति आकांक्षी और महत्वाकांक्षी बन जाते हैं हम। बड़ी से बड़ी भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए, पद की प्राप्ति के लिए और अन्य प्राप्तियों के लिए हम लूट–खसूट से भी बाज नहीं आते इस लोभवश। हम बदल जाते हैं इस लोभवश और बड़े जघन्य अपराध कर बैठते हैं। क्या इस लोभ का इस्तेमाल हम अपना वह व्यक्तित्व बनाने के लिए नहीं कर सकते, **जो हर क्षण प्रभु का नाम लेता रहे, जो हमेशा हमें उस प्यारे के समीप रखे। एक क्षण भी हमारे जीवन का खाली हो तो उस इष्ट का नाम–जप चलता रहे।** क्या यहाँ इस लोभ का सुन्दरतम सदुपयोग नहीं है? क्या दोष है लोभ का? इसको विकार किसने कहा? क्यों कहा? हम भेड़–चाल क्यों चल रहे है? चार व्यक्तियों नें इन्हें विकार कहा तो हमने भी विकार कहना शुरू कर दिया। **ये तो दिव्य उत्प्रेरक हैं।** कितना सुन्दर प्रयोग है, इस लोभ नामक उत्प्रेरक का। लोभ नहीं होगा, तो हम उस प्रभु का नाम–जाप कैसे बढ़ाएंगे? चलते–फिरते, सोते, कार्य करते, उठते–बैठते सदा हम उसका चिन्तन करते रहें, उसका नाम जपते रहें। कितना सुन्दर और भव्य प्रयोग है इस लोभ नामक उत्प्रेरक का।

मोह–हम मोह का दुरुपयोग करके बदल जाते हैं। हमारा आपा बदल जाता है। हम अपनी संतान से, अपने धर्म से, अपने कर्म से, अपनी सम्पदा से, अपने धन से, इस मोहवश न जाने क्या–क्या अपराध कर डालते हैं। हमारा लगाव, हमारा बन्धन इन चीजों से हम को कितना नीचा गिरा देता है। सब कुछ भूल जाते हैं हम, मोहवश। क्या इस मोह नामक दिव्य अस्त्र का, दिव्य उत्प्रेकरक का प्रयोग हम अपने उस ईश्वर के साथ, अपने परम पिता परमात्मा उस सच्चिदानंद स्वरूप, अपने इष्ट के साथ स्वयं को बांधने में, स्वयं उस पर मोहित होने में नहीं लगा सकते ? **प्रभु के साथ मोह हो जाए।** देखिए, प्रेम और मोह में अन्तर है– मोह होता है, बंधनयुक्त अनुराग। वया इस मोह के सदुपयोग से हम अपने–आपे को वह स्वरूप नहीं दे सकते, कि जो इतना

मोहित हो जाये उस ईश्वर पर कि उसके बिना पल भर भी जी न सके और उसके बिना यह मर भी न सके। **'जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू है' इतना मोह हो जाये उससे, कि हर शै में, हर कण में, गिरिजा में, गुरुद्वारे में, मन्दिर में, हर तीर्थ में, सब जगह इसको अपना इष्ट ही नज़र आये। हर व्यक्ति में, स्वयं में, यह अपने इष्ट को ही देखे –**

सिया राम मय सब जग जानी, करऊँ प्रणाम जोरि जुग पानी।

क्या है यह? यह है अपने इष्ट के साथ मोह! इतना मोह कि उपासक अपना आपा खो देते हैं। जिस प्रकार बीज उगने से पहले अपना आपा खत्म कर देता है, मिट्टी में मिल जाता है, उसके बाद वह पौधा बनता है। उसी प्रकार इस मोहवश उपासक खुद को भूल जाते हैं। अपनी खुदी को भूल जाते हैं। सब कुछ भूल जाते हैं। कुछ के कुछ बन जाते हैं। **कितना सुन्दर व दिव्य उत्प्रेरक है यह मोह, बशर्ते कि इसका उचिततम प्रयोग हो जाये।**

कहा जाता है, कि एक बार मजनू अपनी लैला की खोज में किसी रेगिस्तान से गुज़र रहा था, तो एक मुल्ला चादर बिछाए बैठा नमाज़ पढ़ रहा था। दीवानगी में मजनू को वह दिखाई नहीं दिया और वह मुल्ले के सामने से गुज़र गया। उस मुल्ले ने उसे फटकारा कि, 'ऐ मूर्ख, बेवकूफ तुम्हें नज़र नहीं आता कि हम नमाज़ पढ़ रहे है। मजनू ने उससे क्षमा माँगी कि, "भैया हमको माफ कर दीजिए। लेकिन एक सवाल का जवाब दीजिए, कि मैं एक बुत के, एक औरत के मोह में, उसकी मोहब्बत में अंधा हो गया हूँ और मुझे तुम नज़र नहीं आए। तुम तो खुदा की मोहब्बत में बैठे हो। तुम्हें मैं नज़र कैसे आ गया?" जब एक बुत की दीवानगी, उसकी मोहब्बत इन्सान को पागल कर देती है, अंधा कर देती है, तो उस खुदा के साथ, मोह, इन्सान को क्या बना देगा! यह मोह, उपासक को कहीं का कहीं ले जाता है–

मुझे ग़म भी उनका अज़ीज है कि उन्हीं की दी हुई चीज़ है,
मुझे तुमसे कुछ भी न चाहिए, मुझे मेरे हाल पे छोड़ दो।

अरे। कुछ ऐसी चीज़ दो मुझे, जिसका ताल्लुक तुझसे हो, सिर्फ तुझसे। उस मोहवश जब उसको खुदाई मोह हो जाता है, तो किसी चीज़ का

खोना–पाना, आबाद होना, बरबाद होना, मिलना–बिछुड़ना उसके लिए कुछ भी अहमियत नहीं रखता। एक दुनियावी मोह, एक सांसारिक मोह हमको कितना ऊँचा उठा देता है। तो क्या दोष है इस मोह में ? क्यों कहा है इसको विकार? अंत में आता है –

अहंकार, मद कितना महादिव्य उत्प्रेरक है यह अहम्? हम छोटी–छोटी वस्तुओं के साथ अपने आपको जोड़ कर कितने अहंकारी हो जाते है कि, 'मैं अमुक व्यक्ति का पुत्र हूँ, मेरी इतनी सम्पदा है, इतना धन है मेरे पास, यह पद है।' इन छोटी–छोटी प्राप्तियों का जिनका ब्रह्माण्ड में कोई तूल ही नहीं है। एक तिनके के समान जिनकी अहमियत नहीं है, हम उस अहम् में ही अपना जीवन बेकार कर देते हैं। भटक जाते हैं हम। हमारी उन्नति रुक जाती है। पगला जाते हैं हम। हमारा व्यवहार बदल जाता है। तो क्या इस अहम् के सदुपयोग से अपने आपको उस ईश्वर के समान सिद्ध नहीं कर सकते, कि ,**'मैं ईश्वर की सन्तान हूँ, ईश्वर मेरा है।"** जब इस अहर के प्रयोग से, इस दिव्य उत्प्रेरक के उचिततम् इस्तेमाल से, अपने आपको उस कोटि–कोटि ब्रह्माण्डनायक के साथ जोड़ लेते हैं, तो हमारी देह, हमारे विचार, हमारे भाव, हमारा पूर्ण प्रगटीकरण, एकदम परिवर्तित हो जाता है, बदल जाता है। दिव्यता हमसे प्रकट होने लगती है, छलकने लगती है। उस परम पिता के पास हम एकदम पहुंच जाते हैं। एकदम उसका सान्निध्य एवं सामीप्य हमको मिल जाता है। यहाँ तक कि जीव, जीवन–मुक्त हो जाता है इस अहम् के प्रयोग से।

देखिये, इन पाँच दिव्य अस्त्रों, दिव्य उत्प्रेरकों के प्रयोग से जब हम इनका प्रयोग सही में करते हैं, तो हम अपने स्वरूप से, जिससे बिछुड़े हुए हमें न जाने कितने जन्म हो गए, हम तुरन्त मिल जाते हैं। हम भटक रहे हैं छोटी–छोटी उपलब्धियों और प्राप्तियों के लिए। हमें मालूम है कि इन्हें छोड़कर हमको संसार से जाना है। हम खाली हाथ संसार में आते हैं और हमें मालूम है कि हम एक दिन खाली हाथ इस संसार से विदा भी हो जायेंगे। हमारी तमाम वस्तुएँ, तमाम प्राप्तियाँ हमें यहाँ विदा कर देंगी। यहीं रह जाएंगी और उन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए जिन्हें हमें छोड़कर जाना है, कितने–कितने, बड़े–बड़े झगड़े और फसाद

होते है। देशों–परदेशों की आपसी लड़ाईयाँ होती है। मानवता का नाश होता है। यह हमारा कर्म नहीं है, कदापि नहीं है।

आज ही हमें, अभी ही यह निश्चय करना है, कि हम क्या जन्मों–जन्मान्तरों में अपने इस छोटे से 'आपे' में ही विचरते रहेंगे, इस छोटे से दायरे में ही घूमते रहेंगे हम? नहीं, तो इन दिव्य अस्त्रों के प्रयोग से हमको ऊँचा उठना है और भीतर से ऊँचा उठना है। इतनी ऊंचाई हो जाएगी, कि खुदा के बराबर हम ऊँचे हो जाएगे। सारा संसार हमारे भीतर समा जाएगा, पूरी धरा, वसुन्धरा, समस्त सागर, नदियाँ, पर्वत, सारा वायुमडण्ल, भूमि के सातों तल, समस्त खनिज, वनस्पतियाँ, समस्त जीवधारी हमें अपने से लगने लगेंगे। हमारे भेदभाव मिट जाएंगे। एक विशेष आकर्षण हो जायेगा हमें, इस जीवन का। हम, हम नहीं रहते, हम बदल जाते हैं। बस यह बदलाव, जब हम इन दिव्य अस्त्रों का उचिततम् प्रयोग करके स्वयं में ले आएं, तो जीवन अति सुखद हो जाता है। दिव्य हो जाता है। ईश्वरीय हो जाता हे। कई बार कुछ बुद्धिजीवी हमसे यह प्रश्न करते हैं, कि आप जो इस आपे को बढ़ाने की बात करते हैं, यह कैसे सम्भव है? तो वे तर्क देते हैं किसी विशेष व्यक्ति का एक विशेष बाहुबल होता है, जिसकी एक सीमा है। एक बौद्धिक शक्ति है, जिसकी एक सीमा है। एक मानसिक शक्ति है, आर्थिक स्थिति है, तो इस आपे को बढ़ाने से इन उत्प्रेरकों द्वारा, वे शक्तियाँ बढ़ कैसे सकती हैं?

उसका एक बड़ा सरल उत्तर है। आपने अनुभव किया होगा, कि जो हमारी ज्ञात शक्तियाँ हैं–शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक, यद्यपि हम अपनी बौद्धिक और शारीरिक शक्ति की गणना, सामान्य स्थिति में कर सकते हैं, लेकिन हम अपनी मानसिक शक्ति की गणना सामान्य स्थिति में नहीं कर सकते। कोई व्यक्ति अति निढाल, कमज़ोर और बीमार पड़ा हुआ है, मान लीजिए उसके सम्मुख कोई भयानक सर्प आ जाए उसे डसने के लिए, तो वह व्यक्ति जो एक स्थिति में पानी का गिलास भी नहीं उठा सकता, वह बहुत बड़ी छलाँग मार देता है और छलाँग मारने के बाद वह स्वयं अचम्भित हो जाता है कि,"मैने ऐसा कैसे किया? कहाँ से आई वह शक्ति ! विशेष परिस्थितियों में हम ऐसे कार्य कर बैठते

हैं, कि जो हमारे लिए बाद में स्वयं ही अचम्भित हो जाते हैं, कि यह काम मैंने कैसे किए ! आदमी खुद ही हैरान हो जाता है अपने किए पर। इस का अर्थ क्या है, कि मनुष्य के भीतर कुछ गुप्त शक्तियों छुपी रहती हैं। उन शक्तियों की उसको स्वयं भी कोई गणना नहीं होती, न किसी दूसरे को होती है। एक विशेष उत्प्रेरणा से, एक विशेष परिस्थिति में भाववश, लोभवश, क्रोधवश हम कुछ ऐसे कार्य कर बैठते हैं, कि वे हमारे लिए स्वयं भी एक अचम्भा हो जाते हैं।

मान लीजिए, कि विशिष्ट परिस्थिति में हमने अदम्य उत्साह का प्रयोग करके कुछ ऐसा विचित्रतम् कार्य किया जो कि हमारी गणना से परे था, जैसा कि आपने स्वयं में या अन्य लोगों में अक्सर देखा होगा। तो प्रश्न यह उठता है कि वह जो हमने विचित्र कार्य किया, विशेष परिस्थिति में उसकी शक्ति यद्यपि सुषुप्त थी, छुपी हुई थी, लेकिन थी तो हमारे भीतर ही। लेकिन उस शक्ति की भी तो एक सीमा होगी। उस शक्ति की जो छुपी हुई थी हमारे भीतर। विशेष उत्प्रेरक द्वारा उसके अधिकतम प्रयोग से भी हम एक सीमित कार्य ही तो कर सकते हैं। यदि हम कोई असीम कार्य करना चाहें, जो हमारी भीतरी अधिकतम शक्तियों की सीमा से परे है। जैसा योगी लोग अपने संकल्प द्वारा कुछ ऐसे कार्य कर देते हैं, जिसकी कोई मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता। तो कोई भी व्यक्ति अपने बाहुबल का कितना भी इस्तेमाल करें, एक पर्वत को नहीं हिला सकता, एक मोटे पेड़ को नहीं उखाड़ सकता, जिसको योगी अपनी दृष्टि से, अपने संकल्प मात्र से कर सकता है। तो यह निश्चित है कि इतनी शक्ति किसी भी मनुष्य की शारीरिक शक्ति से बहुत परे है। ऐसा क्यों होता है इसकी बहुत सरल व्याख्या है।

जब हम इन्हीं उत्प्रेरकों के सदुपयोग से स्वयं को, अपने आपको उस ईश्वरीय सत्ता से जोड़ लेते हैं, उदाहरण के लिये जैसा कि मैं अपने एक पहले प्रवचन में बता चुका हूँ, कि एक गिलास लीजिए, उसका एक अधिकतम आयतन है। इसके अतिरिक्त एक बूँद जल भी उसमें और नहीं पड़ सकता, परन्तु जब हम इसी गिलास को उस सागर में डुबो दें, तो उसी गिलास से हम अथाह, असीम जल निकाल सकते हैं। लेकिन गिलास अन्त में भरे का भरा ही रहेगा।

इसी प्रकार जब जीव, जब यह मनुष्य उस अथाह सागर रूपी ईश्वर से जुड़ जाता है, तो कोई इसका आकार नहीं बदल जाता, कोई इसकी माँसपेशियों की शक्ति, इसकी बौद्धिक शक्तियाँ नहीं बदल जाती, लेकिन इसकी क्षमता अथाह हो जाती है। वह अपने संकल्प से कुछ भी बना सकता है, कुछ भी बिगाड़ सकता है, विनाश कर सकता है, उत्पन्न कर सकता है, कुछ भी कर सकता है।

जब हम साधारणता अपने जीवन में इन आवेगों के इस्तेमाल से जो कि हम हर रोज़ के जीवन में देखते हैं कि हम असाधारण कार्य कर लेते हैं, लेकिन वह असाधारण कार्य जिस शक्ति से होते हैं, यद्यपि वे हमारे भीतर व्याप्त थी, लेकिन थी तो हमारी ही। दूसरी ओर, जब हम इन्हीं उत्प्रेरकों के प्रयोग से स्वयं को उस असीम से जोड़ लें, तब हमारी शक्तियाँ कितनी बढ़ जाती हैं, इसकी हम स्वयं भी गणना नहीं कर सकते, बशर्ते कि हम उनका उचिततम् प्रयोग इसी जीवन काल में आज से ही, अभी से ही करें। तो हम देखेंगे कि इस छोटे से जीवन में हम कितना विस्तृत, कितना विशाल कार्य कर सकते हैं।

यदि कर्म ही करना है तो क्यों न ऐसा करें, कि करोड़ो जन्मों का कर्म एक ही जन्म में हो जाए। हम लोग गुणात्मक नहीं, मात्रात्मक जगत में जी रहे हैं। सभी लोग भागते–दौडते व्यस्त नज़र आते हैं। क्या आपने कभी स्वयं से पूछा है, बन्द कमरे में बैठकर, कि, "मैं क्या कर रहा हूँ', मैं जो कर रहा हूँ इसका अर्थ क्या है ? इस कृत्य का परिणाम क्या है? क्या मिलेगा मुझे? क्या मुझे इसकी आवश्यकता है, इत्यादि–इत्यादि।" जब ये कुछ प्रश्न हम स्वयं से सुबह–शाम प्रतिदिन करें, तो हम देखेंगे, कि हम एक मात्रात्मक जगत में निरर्थक समय बेकार कर देते हैं। हमारा यह अति बहुमूल्य जीवन बीत जाता है, हमारे हाथ–पल्ले कुछ नहीं लगता। नंगे पैदा होते हैं हम और नंगे ही संसार से चले जाते हैं, सब कुछ छोड़कर। तो क्यों न हम गुणात्मक जगत में विचरें और उसका एक ही उपाय है, एक ही तरीका है कि जब हम इन दिव्य उत्प्रेरकों का जिनको काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार कहा है, उचित प्रयोग करें। मै बार–बार इसलिए वर्णन कर रहा हूँ कि **आज तक आप इनको विकारों के रूप में सुनते आए हैं, यह विकार नहीं है। नहीं है ये विकार, दिव्य**

उग्रेरक है ये! दिव्य! इनका इस्तेमाल हम अपने आपको दिव्य करने में, सांसारिक स्तर से उठकर दिव्यता में प्रवेश करने में करें!

हमारी देह वही देह रहेगी, हमारा नाम–रूप वही रहेगा लेकिन हम स्वयं को उस महान ईश्वर से जोड़ लेंगे और उससे जुड़ने के लिए हमें कहीं न कहीं इन पाँचों उत्प्रेरकों से कार्य लेना होगा। इनका सर्वोत्तम प्रयोग करना होगा। बहुत व्यस्त रहकर भी हम इस जीवन में जो थोड़ा–बहुत कर पाते हैं, मात्र, संकल्प मात्र से उससे लाखों–करोडों गुणा बड़ा कार्य बैठे–बैठे कर सकते हैं, यह सत्य है। इसलिए योगियों के लिए कुछ भी असम्भव नहीं होता। कहाँ से आती है वह शक्ति, ऐसे चमत्कारी कार्य करने के लिए? यह मात्र उनका संकल्प होता है। उनका संकल्प नहीं, वह ईश्वरीय संकल्प हो जाता है। **इसको सत्य संकल्प कहा है, क्योंकि वह उस सच्चिदानन्द, सत् चेतन और आनन्द ईश्वरीय सत्ता के साथ, जो मनुष्य का अपना स्वरूप है, उससे जुड़ जाता है!**

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार इन पाँच दिव्य उत्प्रेरकों के सदुपयोग से हम उस ईश्वरीय सत्ता अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। अपने जीवन को महादिव्य बना सकते हैं। हमारे भीतर की सुप्त दिव्यता इन पाँचों उत्प्रेरकों के दिव्य प्रयोग से प्रस्फुटित हो जाती है। उसका प्रगटीकरण हो जाता है। हमारी देह सांसारिक नहीं रहती, दिव्य देह हो जाती है, तो उस दिव्य देह के लक्षण क्या हैं? जब हम निरन्तर अभ्यास करते रहते हैं उस दिव्यता की प्राप्ति के लिए तो शनैः–शनैः हम उस असीम दिव्यता को, चिरकालीन दिव्यता को प्राप्त हो जाते है। इसी सांसारिक वातावरण में रहते हुए हम दिव्य हो जाते हैं। उस दिव्यता के कुछ लक्षण है.–

ऐसे व्यक्ति या ऐसे व्यक्तित्व सदा प्रसन्न रहते हैं। इसे शास्त्रों ने कहा है, मुदिता–वे संतोषी जीव होते हैं, जो कुछ भी उनको प्राप्त होता है उसमें परम संतुष्ट होते हैं। उनको कोई चिन्ता नहीं होती, निश्चिन्त होते हैं। समस्त ईश्वरीय विभूतियों से विभूषित होते हैं। उनकी एक ही प्रार्थना होती है कि, "हे प्रभु, आप हर्ष, उल्लास, अभय, आरोग्यता, सर्वसम्पन्नता, शक्ति, भक्ति, मस्ती, साहस, उत्साह, ईश्वरीय मोह और उस मोह के अश्रु, आनन्द और कृपा के

सागर हो तो मुझे भी दिव्यता दीजिए, ताकि मै आपके इस महासागर में से हर्ष, उल्लास, अभय इत्यादि इन सारे गुणों को थोड़ा–थोड़ा बटोर सकूँ।" यही विचारणीय बात यह है, कि यह सब गुण ईश्वरीय है।

कोई भी सांसारिक प्राप्ति भले ही वह पूरे ब्रह्माण्ड का साम्राज्य हो, भले ही वे अन्य प्राप्तियाँ हों, कामिनी हो, कंचन हो इत्यादि–इत्यादि वे हमको चिरकालीन सन्तोष नहीं दे सकतीं, क्योंकि संतोष ईश्वरीय गुण है। **सन्तोष** दिव्यता से ही प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। दूसरा, सबसे बड़ा गुण जो दिव्य पुरुषों में होता है, वह है **अभय**– ***'न भय का कूँ देत है, न भय का सूँ लेत है'***। संत सत्य का अनुयायी हैं, जो सच्चिदानंद के बहुत करीब हैं, वे कभी भयभीत नहीं होता। विचार करिए, कि भय हमें कब होता है, जब हमें किसी चीज़ के खोने की चिन्ता, किसी दुर्घटना के ग्रसित होने का भय और किसी शारीरिक कष्ट का, मृत्यु का भय इत्यादि, बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं, जो हमें भयभीत किए रहती है।

सच पूछिये, तो समस्त सृष्टि, सारा संसार और सारे संसार का प्रत्येक जीव प्रकट अथवा अप्रकट रूप मे भयभीत हैं। **जैसे ही यह सांसारिक देह, दिव्य देह में परिणत हो जाती है, तो सब भय समाप्त हो जाते हैं।** यहाँ तक कि जन्म और मृत्यु का भय भी समाप्त हो जाता है। अति सूक्ष्म विषय है, दिव्य देह के प्राप्त करते ही जन्म और मृत्यु दोनों एक भ्रम सा प्रतीत होने लगते हैं। वास्तव में देखें तो जन्म या मृत्यु नाम की कोई चीज़ ही नहीं है, यह हमारी एक कोरी कल्पना है। मात्र एक कल्पना। किसी ने अपना जन्म होते नहीं देखा और न ही किसी ने अपनी मृत्यु देखनी है। यह हम हमको दिन–रात सताते रहते हैं, और उन भ्रमों से हम भयभीत हो जाते हैं। तो **भय एक भ्रम में, एक दूसरा भ्रम है।** जैसे हम दिव्य गुणों से ओत–प्रोत हो जाते है, ईश्वर द्वारा दिए गए इन दिव्य उत्प्रेरकों के सर्वोत्तम, अधिकतम प्रयोग से तो हम इन निरर्थक भयों से मुक्त हो जाते हैं। जब हम उस सच्चिदानन्द ईश्वर में, उस वास्तविक स्वरूप में, उस सत् चेतन और आनन्द से ओत–प्रोत हो जाएंगे, जब हम दिव्य हो जाएंगे तो दिव्य हो जाएगी हमारी देह। उस सच्चिदानंद की सृष्टि में असत्य का क्या

कार्य? उस चेतन में जन्म और मृत्यु का कहाँ स्थान हैं? उस आनन्दमय सृष्टि में, उस आनन्दमय कोष में दुख, चिन्ता और भय का स्थान कहाँ है? देखिए, इस दिव्य जीवन के प्राप्त होते ही, पदार्पण होते ही हमारी इस सांसारिक देह में हमारे सांसारिक क्लेश तुरन्त भाग जाते हैं। इनके भागते ही हमारी देह, दिव्य देह हो जाती है और हमारे में दिव्य गुणों का, ईश्वरीय गुणों का तुरन्त पदार्पण होने लगता है।

मैं यह भी वर्णन कर चुका हूँ, कि उस ईश्वरीय सत्ता, जिसको हम ईश्वर कहते हैं, परमात्मा कहते हैं, अल्लाह, खुदा जो भी कहते हैं, वे विशिष्ट छ. गुणों से परिपूरित है–1. अति सौन्दर्यवान है 2. महासशक्त है, अपने में स्वयं शक्ति है 3. वह स्वयं अपने में ज्ञान है, ज्ञानवान है, 4 त्यागवान है 5 अति बलवान है, 6. अति **ख्यातिवान** है। इन विशिष्ट गुणों का समूह है वह ईश्वर। अभयवान है, आरोग्यवान है, सर्वसम्पन्न है, अति उदार है, सारे करोड़ों ब्रह्माण्डों का वह निर्माणकर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्त्ता है। माया और मन जिनकी चेरी है और इसी मन और माया के समागम द्वारा जो विश्व के सारे कार्य करते हैं और स्वयं तटस्थ रहते हैं। ऐसी उस ईश्वरीय सत्ता जो हमारा सद् स्वरूप है, जिसको हम भिन्न–भिन्न नामों व रूपों मे जानना चाहते हैं, वे परम ईश्वरीय सत्ता, जब उसका थोड़ा–बहुत सामीप्य हमें मिल जाता है उपासना से, उसके चिन्तन से, मनन से, भक्ति से, प्रेम से, उसके साथ मोह होने से, तो भला सोचिए, कि आपको संसार का आकर्षण क्या आकर्षित कर सकता है? कदापि नहीं, आप संसार को आकर्षित करते हैं। यह लक्षण, दिव्य पुरुषों के होते हैं। कहा जाता है कि दिव्य पुरुष, संत, महापुरुष भी जिन्हें कह सकते हैं, वे कभी पृथ्वी पर नहीं चलते, उनके पाँव पृथ्वी पर नहीं चलते, चलते से लगते हैं। वे आकाश और पृथ्वी के अधर में, बीच में चलते हैं, वहीं व्यवहार करते हैं। पृथ्वी में एक शक्ति है जिससे सभी पदार्थ पृथ्वी की तरफ आकर्षित होते हैं, उस शक्ति को कहा हैं **गुरुत्वाकर्षण शक्ति**। जब पृथ्वी और उसके सात तलों, आकाश–पाताल और समस्त भूमंडण्ल, समस्त ब्रह्माण्ड के निर्माता, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता उस सच्चिदानंद की किसी भी नाम–रूप में उपासना करते हुए, उपासक इन पाँचों

उत्प्रेरकों से कार्य लेता हुआ उसके समीप पहुँच जाता है, तो उसको पृथ्वी कहाँ आकर्षित कर सकेगी। पृथ्वी के पदार्थ उसका क्या बिगाड़ सकेंगे ! यह पृथ्वी पर रहते हुए पूरी पृथ्वी और पृथ्वी के पदार्थों की तरफ आकर्षित नहीं होता। एक यह लक्षण भी दिव्यता का बड़ा चरम और उत्तम लक्षण है, कि जो पृथ्वी के जीवों को, पृथ्वी के पदार्थों को आकर्षित करता है। वह स्वयं उनके द्वारा आकर्षित नहीं होता। अपने में वह परिपूर्ण, परम संतुष्ट और एक विशिष्ट मुदिता, एक विशिष्ट प्रसन्नता से ओत–प्रोत, अपने में मस्त रहता है।

अच्छे–अच्छे भक्त ईश्वर से मस्ती का वरदान मांगते हैं। सांसारिक पदार्थों के प्राप्त होने से कभी मस्ती नहीं आती, उनके प्राप्त होने से एक भय की जागृति अवश्य हो जाती है, कि कहीं यह पदार्थ मुझसे खो न जाए। जब जीव इन ब्रह्म–अस्त्रों का प्रयोग करके दिव्यता में प्रवेश कर जाता है, इसी देह के रहते हुए तो उसके पाँव पृथ्वी से उठ जाते हैं अर्थात् पृथ्वी और उसके पदार्थ उसको आकर्षित नहीं कर पाते। वे दिव्य जीवन का एक परम लक्षण है तो देखिए, इस दिव्यता के कितने गुण हैं, इस दिव्यता का कितना आकर्षण है, कितना आनन्द है। आनन्द का एक सागर इसके अन्दर हिलोरें खाने लगता है। उसका विशेष नशा होता है, एक विशेष मस्ती होती है, जिसका केवल दिव्य पुरुष ही आभास कर सकते हैं।

जिसकी शब्दों से परे, बुद्धि से परे, तर्क से परे एक अनिवर्चनीय स्थिति होती है। जिसका मात्र आभास ही किया जा सकता है, वर्णन नहीं किया जा सकता। दिव्य पुरुषों की सबसे बड़ी पहचान एक यह भी होती है, कि वे वर्तमान में जीते हैं। उनके जीवन में भूत और भविष्य नाम का कोई तथ्य नहीं होता। वर्तमान ही उनका जीवन होता है। यहाँ हमारा कर्म क्या है ? इस पृथ्वी पर हम आते हैं। बार–बार जन्म लेते हैं और बार–बार मरते हैं। न जाने अपने इस जीवन काल में कितना अंधेरा ढोते हैं। हम निरर्थक कुछ न कुछ कर रहे हैं हम। कभी हम संग्रह करते हैं, कभी हम आपस मे झगड़े करते हैं। क्या पाते हैं हम यहाँ पर आकर? छोटी–छोटी प्राप्तियों का अहम लिए हुए, न जाने हम कितने–कितने विशाल युद्ध मोल ले लेते हैं।

आप इतिहास पर निगाह डालिए, कि किस प्रकार नरपतियों ने, तथाकथित भूपतियों ने छोटे–छोटे भूखण्डों के लिये नरसंहार किए। ऐसे भयानक नरसंहार हुए, कि पृथ्वी आज तक भी लाल पड़ी हुई है उस रुधिर से और वे छोटे–छोटे भूमडण्ल जीतने के बाद संसार से चले गए। आज वे भूखण्ड, उनके महल वैसे ही खड़े हैं, मानो उनका मज़ाक कर रहे हों। क्या इस भूमि को कोई अपने साथ ले जा सका है? क्या इस वायु को, इस जल को कोई अपने साथ ले जा सका है? बँट चुके हैं हम। देश–देशान्तरों में बँट रहे हैं, देश बँट रहे हैं, जातियाँ–धर्म बँट रहे हैं, सब कुछ बँट रहा है और वह बँटाई का काम शुरू होता है हमारी बुद्धि से। हम अन्दर से बँट चुके हैं चूकि हम संसारी हैं। अधिकार चाहते हैं हम इस संसार पर, इस धरती पर, इस वायु पर। अगर, मानव का बस चले तो वह सूर्य की किरणों पर भी अधिकार जमा ले। इस वायुमंडल पर भी अधिकार जमा ले। आज एक से दूसरे देश में जाने के लिये मानव को अनुमति चाहिए, पक्षियों को तो कोई अनुमति नहीं चाहिए। एक देश की वायु दूसरे देश में चली जाती है उसको तो कोई अनुमति नहीं चाहिए। आज बँटवारा हमारी संकीर्ण सोच, हमारी संकीर्णतम विचारधाराओं का बाह्य प्रगटीकरण है। अहं में जी रहे हैं हम। कुछ देश स्वयं को विकसित और कुछ विकासशील कहलाते हैं। भगवान ने इतना बड़ा भूमडण्ल बनाया है, तो यदि ये औपचारिकताएँ समाप्त हो जाए, यदि कोई भी मानव कहीं भी जाकर बस सकने का अधिकारी हो जाए, तो संसार से गरीबी खत्म हो जाएगी।

एक ही सरकार है पूरे ब्रह्माण्ड में और वह है **ईश्वरीय सरकार**। तो क्यों न हम इस विश्व को अपना परिवार मान लें? जैसे एक ही पिता की संतान विभिन्न होती है, कोई काला होता है, कोई गोरा, कोई साँवला, कोई लक्षणहीन, कोई लक्षणयुक्त, कोई बाजुबल में सशक्त, कोई बौद्धिक बल में सशक्त, तो कोई आध्यात्मिक बल में सशक्त, लेकिन वे एक ही पिता की सन्तान होते हैं। यदि उनमें आपस में प्रेम हो, भाईचारा हो, तो परिवार कितना सुखद हो सकता है? ईश्वर ने जीवधारियों की रचना इस प्रकार की है, कि प्रत्येक जीवधारी, चाहे वह पक्षी हो, चाहे वह पशु हो, चाहे वह मनुष्य हो, चाहे वह कैसी भी बुद्धि हो, कैसी

भी संरचना हो उसकी, प्रत्येक जीवधारी को ईश्वर ने कोई न कोई विशेष गुण दिया है। उस विशेष गुण के कारण वह अपना पेट भर लेता है, कहीं न कहीं रह भी लेता है, उसकी जो मौलिक आवश्यकताएँ हैं, वे सब उपलब्ध हो जाती हैं। ईश्वर को परमपिता इसलिए कहा है, कि वह सारे महाब्रह्माण्ड का एक पिता है, जिसने विभिन्न प्रकार के जीवों की रचना की है और सबका पेट भरता है। सबके लिए आवश्यक वस्तुओं, हवा, जल, प्रकाश, वनस्पतियों आदि–आदि सबका प्रबन्ध उसने पहले ही कर रखा है। ज़रा स्वयं से प्रश्न पूछिए, यह बड़ी–बड़ी नदियाँ, यह समुद्र, यह तालाब, यह वन और यह पर्वत श्रृंखलाएँ, यह आकाश में असंख्य ग्रह, उपग्रह, यह सूर्य, चन्द्रमा इत्यादि क्या हमने बनाए हैं? यह संसार नाट्यशाला है। यह पहले ही उस महान निर्देशक ने निर्मित की हुई है। वह पचभूतों, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से जीवन का निर्माण करता है, देह का निर्माण करता है और मानव देह अन्ततः इन पंचभूतों में लीन हो जाती है।

हम जन्म–जन्मान्तरों तक, स्वयं को, अपने आपको इस सांसारिक स्तर पर ही रख कर अंधेरा सा ढोते हुए, कभी हम वस्तुओं की प्राप्ति के पीछे भागते हैं, कभी हम किसी चीज़ के खोने की चिन्ता में और भय में समय व्यतीत कर देते हैं। कभी हम इन सांसारिक क्रिया–कलापों में ही, एक दिन इस जीवन लीला के समाप्त होने का इंतजार करते हैं और वह लीला समाप्त हो जाती है। यह पाँच महा उत्प्रेरक काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह जिनको अब तक हमने विकारों के रूप में सुना है, भूल जाइए यह विकार है। उस ईश्वरीय सत्ता, उस सच्चिदानन्द ईश्वर ने भला अपने बनाए हुए मानवों में विकार क्यों भरे होंगे? बार–बार विचार करिए, इस सत्य पर, कि वह सर्वशक्तिमान पिता, अपने भक्तों में, अपने प्यारों में और अपनी बनाई सृष्टि को विकृत क्यों करेगा? कुछ भी विकृत नहीं है हमारी विचारधाराएं, हमारी सोच ही हमारे कृत्यों को विकृत कर देती है। पाप–पुण्य हमारे विचार है, पाप–पुण्य कृत्य नहीं है। उनके पीछे हमारा जो भाव है, वही भाव हमको पापी और पुण्यी बना देता है। कर्म क्या है? **अपनी चेतन–सत्ता को जानना और जानने के बाद उस विषय में प्रवेश होना।** इस सांसारिक

देह से ऊपर उठकर दिव्य देह को प्राप्त करना और उसको बनाए रखने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना ही कर्म है। हमें अभी से पुरूषार्थी बनना होगा, ताकि हम अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को पा सके जो हमारा जन्म–सिद्ध अधिकार है।

दिल के आईने में है तेरी तस्वीरे यार,
जब जरा गर्दन झुकाई, देख ली।

मेरा यार, मेरा वह सच्चिदानन्द ईश्वर, जो मेरे हृदय में है, उसको मैं कहाँ–कहाँ ढूँढ रहा हूँ–

ढूँढने वाले तुझे बियाबी गए, पर जब मैंने देखा,
अपने दिल में खुलासा देखा,
मैने यार को जांबजा देखा।
शान दुनिया में तेरी निराली देखी,
सारी खलकत तेरे दर पे सवाली देखी।
जिसे खुदा ने आँखे दी, वो पत्थर में खुदा देखे,
जिसका हो दिल पत्थर, वो पत्थर में क्या देखे?

एक पहले प्रवचन में मै वर्णन कर चुका हूँ, कि जीवन कोई उपहार नहीं है। जब किसी को कोई उपहार देते हैं तो व्यक्ति यह समझ लेता है, कि उपहार मुझसे वापिस नहीं माँगा जाएगा, या कम से कम छीना तो नहीं जाएगा। लेकिन हमें ईश्वर ने जो यह जीवन दिया है, इस पर उसका एकाधिकार है। वह कभी भी इस जीवन को वापिस ले सकता है और ले लेता है। यहाँ तक कि कभी छीन भी सकता है। यह सत्य है और इस सत्य को ध्यान में रखते हुए कौन होते है हम अपने भविष्य की बड़ी–बड़ी योजनाए बनाने वाले? जबकि जीवन का अगला क्षण हमारे हाथ में नहीं है। इस संदर्भ में सर्वोत्तम योजना यही है, कि हम इस जीवित वर्तमान में विचरे और प्रत्येक कार्य जो वो महान सत्ता हमसे करवा रही है, उसको ईश्वर के नाम से करते जाएं! उसको हृदय में रखते हुए, उसकी प्रेरणा से, उसकी शक्ति से करते हुए, उसको साथ के साथ समर्पित करते जाएं। उसके इस महाब्रह्माण्ड को देखकर, उसकी नदियों को, पहाडों को, समुद्रों को, आकाश को और आकाश में ग्रहों को, वसुन्धरा को और तमाम वातावरण को

देखकर वाह–वाह! करते रहें। उसकी प्रशंसा करते रहें। यहाँ के ज़र्रे–ज़र्रे में उसका दिग्दर्शन करें!

शायद, उसने मानव को कुछ बुद्धि इसलिए दी कि, "मानव, तू अपनी बुद्धि से मेरी प्रशंसा कर, मेरी बनाई सृष्टि को देख।" दुर्भाग्यवश, हम इस बुद्धि का दुरुपयोग करते हैं। इस बुद्धि को हम वस्तुओं को एकत्रित करने, उन पर अधिकार करने और उस अधिकार को बनाए रखने के लिए और अन्य कार्यों में लगा देते हैं। संसार से जाते समय पुनः हम खाली हाथ लौट जाते हैं। यह सांसारिक वस्तुएँ, यह वसुन्धरा, यहाँ की प्राप्तियाँ, ऐसा लगता है मानो हमसे मज़ाक कर रही हों, हमारा मज़ाक उड़ा रही हों। हम एक हंसी का पात्र बनकर इस संसार से बार–बार विदा लेते हैं और बार–बार आते हैं। कब तक चलेगा यह सिलसिला? कब होगा इस आवागमन का अन्त? उसकी एक ही योजना है, एक ही तरीका है, जिसका वर्णन मैं पहले ही शुरू में कर चुका हूँ, कि हम इन दिव्य उत्प्रेरकों से दिव्य कार्य लेते हुए उस ईश्वरीय सत्ता, उस महाशक्ति के द्वारा दी गई जो सुषुप्त शक्तियाँ हमारे अन्दर निहित हैं, समाहित हैं, उनको जागृत करें। इस सांसारिक स्तर से उठकर, इसी देह द्वारा ही हम दिव्यता में प्रवेश कर जाएं। इसी देह के रहते हुए हम इस दिव्य ज्योति के दर्शन करें जिसका नाम है **'ईश्वर',** जो हमारा अपना स्वरूप है, हमारा अपना है। उसके बाद हमारा जगत एक आनन्दमय मुदिता से परिपूर्ण, एक अलग सा ही हो जाता है, एक विशिष्ट मस्ती लिए हुए जिसमें सन्तोष है, परिपूर्णता है, विशिष्ट सुख है। हमारा जीवन सागर की भांति गम्भीर हो जाता है और सारा विश्व हमारे हृदय में समा जाता है। इस आवागमन के चक्कर से हम छूट जाते हैं। वास्तव में जन्म और मृत्यु का रहस्य हमें मालूम हो जाता है। बहुत सी ऐसी वस्तुएँ, जिनसे कि भम्र मात्र में हम भयभीत रहते हैं और यहाँ तक कि सम्पूर्ण जीवन उस भय में ही काट लेते हैं, उससे हम तुरन्त मुक्त हो जाते हैं। यह सत्य है। परम सत्य है।

आज के बाद हम कभी भी इन महाशक्तियों को, इन उत्प्रेरकों को विकार नहीं कहेंगे। ईश्वर सर्वत्र है, सर्वव्यापक है। भिन्न–भिन्न नाम, रूपों में सारा संसार उसको मानता है। उस एक ही सत्ता के एक नाम असंख्य रूप है, एक

रूप असंख्य नाम है और असंख्य नाम असंख्य रूप है। **सत्ता वही है, एक ही सत्ता, सच्चिदानन्द, सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् उस सत्ता पर हमारा जन्म–सिद्ध अधिकार है।** हम अपनी उस विशुद्धतम् सत्ता से स्वयं ही भ्रमित होकर अपने आपको दूर महसूस करने लगते हैं और सांसारिक कोटि में आ जाते हैं। दुखों–सुखों से ग्रसित हो जाते हैं। एक भ्रमजाल में हम फँस जाते हैं। देखिए, मकड़ी जब जाल बुनती है, तो एक समय में वह दुर्भाग्यवश अपने बुने हुए जाल में ही फँस जाती है। यही हाल हम सबका हुआ है। तो किस प्रकार मकड़ी इस जाल से मुक्त होती है? जब वह एक तरफ से अपने स्वयं के बुने हुये जाल को स्वयं खाना शुरू कर देती है। इसी प्रकार हमने अपने धर्म का जाल अपने चारों तरफ बुन दिया है, उस जाल में हम स्वयं फँस गए हैं। हमको कुछ उत्प्रेरक चाहिए, जो हमारे भीतर समाहित हैं। तो सशक्त होकर हम अपनी इच्छा–शक्तियों से कार्य लेते हुए इस भ्रमजाल को तुरन्त काटें और अपने विशुद्धतम् स्वरूप में प्रवेश करें। इस जीवन का, इस ईश्वरीय देन का, इस विशिष्ट रस का रसास्वादन करें। इस वीणा के माधुर्य का, संगीत का रसास्वादन करें और **उस परम ईश्वरीय सत्ता को नमन करें। वह हमारे में विचरे और हम उसमें विचरे, इसको कहा है दिव्य जीवन। यह दिव्य जीवन हमारा है, हमारा अपना है। हमारा सबका इस पर अधिकार है। इसको प्राप्त करना और इसमें विचरना हमारा पुरुषार्थ है, जो हमारा सर्वोत्तम कार्य है।**

जब हम गंभीरतापूर्वक इस सत्य पर विचार करते हैं, तो यह रहस्य हमारे पल्ले पड़ जाता है, समझ में आ जाता है कि ईश्वरीय सृष्टि किसी मानव पर आधारित नहीं है। हमारा इस संसार में आना, हमारा जाना और अन्य प्रत्येक कार्य केवल उस सत्ता की शक्ति से ही होते हैं, उसी की इच्छा से होते हैं। वह कालेश्वर है, काल का ईश्वर है वह। समय उसके अधीन है, वह समय के अधीन नहीं है और हम सांसारिक कोटि में आकर, काल के अधीन हो जाते हैं। कभी हम अपना जन्म–दिन मनाते हैं, कभी किसी की मृत्यु का। तो इस प्रकार हम काल के अधीन होकर दुखों–सुखों में इस काल–चक्र में फँस जाते हैं। पुरुषार्थ द्वारा हमें इस काल चक्र से बहुत बड़ी छलाँग लगानी है, अभी। वह तभी सम्भव

है, जब हम अपने इन पाँचों उत्प्रेरकों का सर्वोत्तम प्रयोग करें और विश्वास रखें उस शक्ति में, तो हम जन्म–मृत्यु के बंधन से अभी मुक्त हो जाएंगे।

यह प्रेरणा और यह क्रांतिकारी दृष्टिकोण केवल उन व्यक्तियों के लिए है जो मुमुक्ष श्रेणी में आते हैं। साधारण मानव के लिए यह बगावत नहीं है। कोई भी मानव जब अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को छूना चाहता है, पाना चाहता है और उसको पाकर वह मोक्ष को पाना चाहता है, मुक्त होना चाहता है तो उसको इसी समय, इसी वक्त इन दिव्य उत्प्रेरकों से कार्य लेना होगा।

।। जय जय श्री राम।।

पंचमहाभूत

यह अति सरल एव अति जटिल विषय अपने इष्ट देव प्रभु श्री हनुमान जी की कृपा एव आदेशानुसार प्रस्तुत करने जा रहा हूँ, कि किस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एव आकाश ये पाँच महातत्व हमारी इस भौतिक देह का निर्माण करते हैं और इनका हमारे भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत से क्या सम्बंध है? इन सूक्ष्मताओं का वर्णन मैं आपके सम्मुख करूँगा।

ईश्वर की सर्वोत्तम कृति यह मानव देह है। पृथ्वी और पृथ्वी में पाए जाने वाले धातु, खनिज व लवण इत्यादि सूक्ष्म एव सूक्ष्मतर मात्रा में मानव देह में भी होते हैं। जिसको चिकित्सा विज्ञान बखूबी मानता है। आयरन, केल्शियम, मेंगनिसियम, मेंगनीज तथा अन्य प्रकार के तत्व जो पृथ्वी में पाए जाते हैं, वे मनुष्य देह में भी होते हैं। किसी भी तत्व की आवश्यकता से अधिक मात्रा अथवा न्यूनता मनुष्य देह में रोग उत्पन्न कर देती है। यह सर्वविदित वैज्ञानिक सत्य है। **पृथ्वी तत्व के साथ दूसरा है–जल तत्व**। देह में पाया जाने वाला रुधिर अथवा रक्त और अन्य सब प्रकार के रस, देह की समस्त अनगणित असंख्य कोशिकाओं में विद्यमान रहते हैं। जल में पाए जाने वाले सभी तत्व देह में भी उपस्थित हैं। **तीसरा तत्व है वायु**। इस वायुमण्डल में जो वायु है और इस वायु में जितनी विभिन्न प्रकार की गैसें हैं, वे भी न्यूनाधिक मात्रा में मानव देह में सदा रहती हैं। **चौथा तत्व है अग्नि**। यह अग्नि तत्व देह में अति महत्त्वपूर्ण है। किसी भी विशिष्ट दैहिक प्रक्रिया के लिए उसके भीतर अग्नि का होना अति आवश्यक है और **पाँचवा महातत्व है आकाश**। आकाश में जितने ग्रह नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र आदि हैं, वे समस्त हमारे मानव मस्तिष्क में मानव देह में भिन्न–भिन्न स्थानों में पाए जाते हैं और योगी लोग अपने ध्यान में उन विभिन्न लोकों में प्रवेश कर जाते हैं। यह एक नितान्त आध्यात्मिक सत्य है।

भौतिक रूप से आप विचार करके देखिए कि आकाश और पृथ्वी का आपस में कोई मेल नहीं है। पृथ्वी के गर्भ में रहता है जल और जल में रहती है पृथ्वी। आकाश के गर्भ में रहती है अग्नि, तेज। जल और अग्नि का आपस में कोई मेल नहीं है। यह अति विचारणीय विषय है। तो इन दो–दो तत्वों, पृथ्वी एवं जल व

आकाश एव तेज में जो समन्वय स्थापित करता है, वह है वायु तत्व। ब्रह्माण्ड की जितनी वायु है, यह प्राण शक्ति है। **पाँच प्रकार के प्राण हैं जिन्हें योगी लोग प्राणायाम से सिद्ध करते हैं।** यह महातत्व हैं जिसके बिना जीवन का एक मिनट से ज्यादा चलना असम्भव है। अतः सबसे अधिक जो आवश्यक तत्व है, **वह है वायु अथवा प्राण शक्ति। यह एक भौतिक सत्य ?**

इन पाँचों तत्वों का इस देह में शास्त्रीय प्रतिनिधित्व आपके सम्मुख रख रहा हूँ। देह में **पृथ्वी तत्व** का प्रतिनिधित्व करती है **गंध, नाक द्वारा**। **वायु तत्व** का प्रतिनिधित्व करता है–**स्पर्श, त्वचा द्वारा**। **अग्नि तत्व** का प्रतिनिधित्व करती है **दृष्टि, नेत्रों द्वारा**। **जल तत्व** का प्रतिनिधित्व करता है **स्वाद, जीभ द्वारा,** एवं **आकाश तत्व** का प्रतिनिधित्व करती है **ध्वनि, कानों द्वारा**। इस प्रकार इन पाँच तत्वों का देह में प्रतिनिधित्व है। विषय सरल भी है और जटिलतम भी। यदि हम इस रहस्य को थोडा पकड़ लें, तो हम स्वयं में यह जान सकते हैं, कि हम समाधि में कितने स्थिर हैं? कैसे? आपने साधारण जीवन में कभी विचार किया होगा, कि **कभी–कभी हमारी आँखें खुली होती हैं परन्तु हम देख नहीं रहे होते। जब हम व्यवहारिक दृष्टि में ऑखें खुली होते हुए भी न देखें और कान खुले होते हुए भी बात न सुनें और स्पर्श होते हुए भी उस स्पर्श का अनुभव न करें, तो समझिए कि हम किसी गहन विचार में विलीन हैं।** जब हम व्यवहारिक दृष्टि में, किसी गहन चिंतन में व्यस्त होते हैं, तो उस समय भी हमारी इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में से कुछ ज्ञानेन्द्रियाँ, उपस्थित होते हुए भी अपना कार्य नहीं करतीं।

लययोग–जब योगी लययोग में प्रवेश करता है व ध्यान द्वारा अपनी देह को अग्नि में अर्पित कर देता है, स्वयं को शव मानकर, तब कुछ क्षणों बाद उसकी देह पाँचों तत्वों में विलीन हो जाती है। उसका एक प्रमाण है कि अपनी पाँचों इन्द्रियों के होते हुए भी उनका कार्य अनुभव नहीं होता। **वह स्थिति है, लय स्थिति**। आकाश का तत्व आकाश में, जल का जल में, वायु का वायु में और पृथ्वी का पृथ्वी में समाहित हो जाता है। **ध्यान में जब लययोग स्थिति बन जाती है, गंध का, स्वाद का, स्पर्श का, दृष्टि का, ध्वनि का कोई**

भास न हो तब समझिए कि हम भौतिक देह व इसके पाँचों तत्वों से परे हो गए हैं। उसके बाद एक विशेष अनुभव होता है। बड़ा आनन्दमय अनुभव और वह अनुभव होता है हमें अपने वास्तविक स्वरूप का। उसको वास्तविक सत्संग कहा है। **जब तक हम स्वयं की इन पाँच महाभूतों से निर्मित देह के साथ पहचान करते हैं, तब तक हम परम सत्य का आभास नहीं कर सकते–यह एक परम सत्य है।** अपने सच्चिदानंद स्वरूप का दिग्दर्शन और झलक पाने के लिये यह आवश्यक है, कि हम अपने इन पांच महाभूतों की जो प्रतिनिधि है, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, इनसे किसी भी प्रकार हम परे हट जाएं। उन प्रकारों में से लययोग छः प्रकार हैं। एक योग स्थिति है जब हम अपने भौतिक देह के तत्वों से होते हैं। उसके बाद जो शेष रहता है वह है हमारा वास्तविक स्वरूप। मैं अपने अनुभव की बात आपके सम्मुख रख रहा हूँ। जो हमारा वास्तविक स्वरूप है, सच्चिदानंद स्वरूप है, हमारा ईश्वरीय स्वरूप है। वह स्वयं में ज्ञान है, सौन्दर्य है, बल है, शक्ति है और स्वयं में त्याग है, ख्याति है। वहाँ ज्ञान का स्त्रोत फूट पड़ता है। भीतर से ही विशिष्ट अनुभूतियाँ होने लगती हैं और उन अनुभूतियों की यदि हम थोड़ी स्मृति रखें, तो हम पाएंगे कि श्रुतियों, वेदों, शास्त्रों, उपनिषदों इत्यादि का आधार भी वही स्मृतियाँ हैं, जो हमें अपने वास्तविक स्वरूप में प्रवेश होने के बाद होती हैं।

सत्संग–सत्संगग का अर्थ है सत्य का संग और वास्तविक सत्संग जिस मानसिक स्थिति में होता है उसको वास्तव कहा है **'एकान्त'**। एकान्त का यदि हम सन्धिविच्छेद करें, तो एक+अंत। आप विचार करिए, कि यह **एक** क्या है ? यदि हम सूक्ष्मतर विचार करें, तो हमारा पूर्ण ब्रह्माण्ड, हमारी अपनी एक देह पर आधारित है। यह मेरा सम्बन्धी, मेरा पद, धन, सम्पदा, धर्म, काल, परिस्थिति, मेरा यह, मेरा वह आदि। हमारे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मूल हमारी यह मानव देह है। पाँच भूतों से निर्मित इस मानव देह को जब हम उसके पाँचों तत्वों में विलीन कर दें और पाँचों ज्ञानेन्दियाँ अपना कार्य करना बंद कर दें, तो हम अपने सत्य स्वरूप में प्रवेश कर जाते हैं। **एकान्त का वास्तविक अर्थ है, कि 'एक' का अन्त हो जाये और वह एक है हमारी 'मानव देह'।**

तो एकांत स्थिति, वह मानसिक स्थिति है, जिसमें स्वयं ही सत्संग शुरू हो जाता है। यह श्रुतियाँ, उपनिषद् वेद, वेदान्त, समस्त शास्त्र, गीता इत्यादि ये ज्ञान के स्त्रोत स्वयं खुल जाते हैं और भीतर से ही फूट पड़ते हैं। उस समय जो दिव्य विचार चलते हैं, वे शास्त्रीय सत्य होता है और वही विशुद्ध ज्ञान है।

अब यदि हम इन पाँच महाभूतों के भौतिक विश्लेषण में जाएं, तो हम पाएंगे कि **देह में जो पृथ्वी तत्व है, वह स्थिर रहता है। जल, अग्नि, आकाश एव वायु तत्व देश और काल के अनुसार बदल जाते हैं।** मैने अनुभव किया है विदेशों में जाकर, कि अक्सर जो लोग भारत के रहने वाले हैं, जिनका जन्म भारत में हुआ है–भले ही वे आजीवन दूसरे देशों में रहे, लेकिन आकांक्षा करते हैं, कि उनकी मृत्यु भारत भूमि में हो। जिस माटी से, जिस पृथ्वी से उनकी देह का निर्माण हुआ है, वह मिट्टी अवश्य उस मूल मिट्टी में समाहित हो। पृथ्वी तत्व से एक विशेष लगाव अवश्य होता है। यह एक हार्दिक इच्छा रहती है आम लोगों की, कि उनकी देह का अंत, उनकी मृत्यु, उनके अपने देश में हो। शायद यही मातृभूमि का लगाव है और मातृभूमि से प्रेम भी। उसका कारण, शायद यह पृथ्वी तत्व ही है। उस सच्चिदानन्द की समस्त सृष्टि स्वयं में चेतन है। यह पंच–महाभूत–पृथ्वी, जल, तेज, वायु एव आकाश भी अति चेतन हैं। ये गतिमान हैं। इनका भी लय और विलय होता है। लेकिन एक परम रहस्य जो मैं यहाँ प्रकट करना चाहता हूँ, वह यह कि यह पाँचों महाभूत साक्षात् उस महाब्रह्माण्ड नायक ईश्वर के मस्तिष्क से ही कार्य करते हैं। ईश्वर यदि संसार में प्रलय भी लाना चाहते हैं, तो इन्हीं महाभूतों द्वारा। आपने जल, अग्नि, वायु आदि प्रलय का नाम सुना होगा। ऋषि–मुनियों ने इस गहन तथ्य को पाने के बाद हमारे जीवन के विशिष्ट समारोह एवं विवाह आदि संस्कारों में इन पाँच महाभूतों में से एक अथवा अनेक की उपस्थिति का विशेष महत्व दिया है।

इसके अतिरिक्त आपने सुना होगा कि हिन्दू–विवाह में एक परम्परा है, जिसमें अग्नि के सम्मुख सात फेरे लिए जाते हैं। विश्व में सबसे स्थिर और सर्वोत्तम विवाह, हिन्दू विवाह माना जाता है, यह एक घोषित सत्य है, एक

सर्वमान्य सत्य है। सबसे ज्यादा सर्वोत्तम माना गया है–अग्नि संस्कार, दाह–संस्कार। आज इस दाह–संस्कार की परम्परा को विश्व के बहुत से देश एवं लोग मानने लगे हैं और अपनाने लगे हैं। मृत्यु के बाद पृथ्वी में गाढ़ना या अन्य प्रकरणों की मान्यता शनैः–शनैः कम होती जा रही है। जब हम किसी ध्यान में या चिंतन में बैठते हैं, तो अक्सर हम अपने पास जल रखते हैं, धूप–दीप जलाते हैं, ध्वनि करते हैं। यह है अग्नि तत्व का साक्षी रहना। पुराने जमाने में या अभी भी जब कोई विशेष संकल्प लिए जाते हैं, किसी को श्राप या वरदान दिया जाता है, तो हाथ में जल रखकर या अग्नि सम्मुख रख कर या तेज के द्योतक सूर्य आदि की तरफ हाथ उठाकर किए जाते हैं। यह पाँचों तत्व ईश्वर के सीधे प्रतिनिधि माने गए हैं।

अति विशिष्ट तत्व है, वह है **प्राण वायु**। आपने प्राणायाम का नाम सुना होगा। बहुतों ने इसका अध्ययन व अभ्यास भी किया होगा। प्राणयाम कोई साधारण व्यायाम नहीं है। **यह एक आध्यात्मिक व्यायाम है। प्राणायाम द्वारा योगी इस पृथ्वी के इन पाँचो तत्वों पर अधिकार कर लेता है। उसके भीतर अपने पांचों तत्वों को ध्यान द्वारा अलग–अलग करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वह इस परम सत्य को, रहस्य को पा लेता है।** अपनी देह से उठने का जो प्रकरण है, उस मानसिक स्थिति में जाने के बाद, किसी भी अन्य मानव को समझाने मे कोई कष्ट नहीं होता क्योंकि सभी देह इन्हीं पाँचों तलों से बनी हुई है।

'जो ब्रह्माण्डे सो पिंडे' जो जगत हमारे बाहर है, वही जगत हमारे भीतर है, भौतिक रूप से भी। यह थोड़ा सूक्ष्मतर विषय है, जो मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ। परम वेदान्तिक सत्य है। जब एक योगी इन पाँचों तत्वों में अपनी देह को विलीन कर देता है और अपने सत्य स्वरूप में प्रवेश कर जाता है, अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में, तो उस समय स्वभाविक तौर पर बाह्य जगत भी विलीन हो जाता है। बाह्य जगत रहता ही नहीं है। बाह्य जगत के पाँचों तत्व और भीतरी जगत के पाँचों तत्वों में आपस में सीधा तालमेल है। जब हमारा भीतरी जगत समाप्त हो जाता है ध्यान से, समाधि से, तो उसके साथ बाह्य जगत भी

समाप्त हो जाता है। जब हम बाह्य जगत को कोसते हैं, इसके विक्षेपों का बयान करते हैं, तो उसका सीधा अर्थ यह है कि हमारे भीतरी जगत में भी उसी के समान विक्षेप है। उस समय **ध्यान की स्थिति से उठने के बाद यह एक उत्कृष्ट अनुभव हो जाता है, कि बाह्य जगत का निर्माण ही नहीं हुआ है, बल्कि हम बाह्य जगत को अपने भीतरी जगत से ही खड़ा करते हैं।**

जितना कोलाहल और जितनी अस्थिरता और तमाम विक्षेप हमें बाहर नज़र आते हैं, वास्तव में वे हमारे भीतरी जगत का बाह्य प्रगटीकरण है। जब हमारा भीतरी जगत शांत हो जाता है, तो उसके साथ ही साथ उसी के अनुसार ही हमारा बाह्य जगत व्यवहार करता है। जितना भी हम बाह्य जगत में इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा आभास करते हैं, वह वास्तव में हमारे भीतरी जगत का ही प्रगटीकरण है। इस बात को मैने बार–बार इसलिए दोहराया है, कि यह बात अति स्पष्ट हो जाए। यह पांच महाभूतों द्वारा निर्मित जो हमारी देह है, यह स्थूल देह है और जब हम इस स्थूल देह को विलीन कर देते हैं समाधि में या लययोग में तो इसके बाद हम अपनी सूक्ष्म देह में प्रवेश कर जाते हैं। जितना भी हमारा ब्रह्माण्ड है, हमारा संसार है, हमारी स्वयं की जो देह है वह भी इसी में अंकित रहती है और यह समस्त हमारा ब्रह्माण्ड, हमारी सूक्ष्म देह है। सूक्ष्म देह में प्रवेश होने के बाद, कोई योगी इस विश्व में किस स्थान पर क्या हो रहा है वह अपने भीतर ही झांक कर देख लेता है और जब हम इस सूक्ष्म देह से परे हो जाते हैं तो वह तीसरी देह है हमारी कारण देह जिसको ईश्वरीय देह कहा गया है। वहाँ जाकर सूक्ष्म और स्थूल दोनों विलीन हो जाते हैं और वे हमारी परमानन्द स्थिति है ध्यान की, समाधि की। वह हमारी कारण देह में प्रवेश होने के बाद ही हमको प्राप्त होती है।

इन पाँचों तत्वों का जो रहस्य है, इसे हमको बहुत गहनता से समझना और अनुभव करना अति आवश्यक है। जब तक हमारे ध्यान में, समाधि में, हमारी एक भी ज्ञान इन्द्रिय बाधक बन रही है, तो समझिए कि हम देह से परे नहीं हुए हैं। सत्य चिंतन के लिये हमें अपनी देह से परे होना परम आवश्यक है। वह है हमारा **एकान्त जगत**–एक विशेष मानसिक परिस्थिति जिसमें हमें स्वतः ही

ईश्वरीय अनुभव होने लगते हैं। हम कितना भी इस तत्व ज्ञान का, आध्यात्मिक ज्ञान का बाहर श्रवण करें या पुस्तकों में पढें, जब तक वह हमारे भीतर से प्रकट नहीं होता, तब तक वास्तविक ज्ञान नहीं होता। अन्तिम सत्य की प्राप्ति के लिए हमें इन पांच महाभूतों से निर्मित देह से परे हटना अति आवश्यक है। संसार के समस्त जीवधारी पशु, पक्षी एवं मानव इत्यादि सभी की देह इन पाँच महाभूतों से निर्मित है। लेकिन केवल मानव को ईश्वर ने यह अधिकार दिया है, कि वह अपने वास्तविक सच्चिदानंद स्वरूप का दिग्दर्शन कर सके। यह शक्ति पशु और पक्षियों में नहीं है, केवल मनुष्य में है। **मनुष्य जीवन की सार्थकता यही है कि कुछ क्षण हम अपने जीवनकाल में स्वयं को मृतक भी देखें, केवल तभी हम अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन कर सकेंगे, स्वयं का दर्शन। स्वयं का दर्शन ही ईश्वरीय दर्शन है।**

हिमालय में एक बड़े सिद्ध महात्मा थे, जिनकी धूनी सिद्ध थी। दिगम्बर थे वह, वस्त्र नहीं पहनते थे। बड़े राजसी प्रवृत्ति के थे, नग्न रहते थे। धूने पर चौबीस घन्टे अग्नि प्रज्जवलित रहती थी। कुछ ऐसी दैवीय शक्तियाँ थी, कि उनकी धूनी कभी भी शांत नहीं होती थी। बहुत लोग उनके पास अपनी मनोकामनाएं पूर्ण करने के लिए, दर्शन करने के लिए, कुछ उनके श्रीमुख से सुनने के लिए कुछ भेंट अवश्य लेकर जाते। वे चाहते भी थे, कि कोई भी व्यक्ति खाली हाथ न आए और जो भी कोई भेंट लेकर जाता उसकी क्वालिटी पर बहुत ध्यान देते थे। मान लीजिए, आप शाल लेकर गए हैं, तो शाल बहुत सुन्दर और नया होना चाहिए, तभी स्वीकार करते थे। यहाँ तक कि अगर आपने उन्हें कोई धन चढ़ाया है, नोट बढ़ाया है, तो नोट नया होना चाहिए। वह बड़े प्रेम से स्वीकार करते थे और उसके बाद अग्नि में डाल देते थे। लोग भोजन–मिठाई सब ले जाते थे। थोड़ी आवश्यकतानुसार खा लेनी और बाकी धूनी में। धूनी सिद्ध थी उनकी। क्या रहस्य था उस सिद्ध पुरुष का, इसके पीछे? इसी धूनी की शक्ति से उन्होंने सिद्धि प्राप्त कर ली थी, ज्ञान प्राप्त कर लिया था। यह बड़ी विचारणीय बात है, बहुत विचारणीय। प्रायः लोग इसको सुनकर कहेंगे, कि भई महात्माओं की अपनी मौज होती है, 'राजा, अग्नि, योगी, जल, इनकी उल्टी

रीत" इनके ज्यादा नज़दीक नहीं जाना चाहिए। इसका रहस्य क्या था, कि वे धूनी में सब कुछ क्यों चढ़ा देते थे? परम ऐश्वर्यवान थे और लोग उनका आशीर्वाद लेकर अपनी मनोकामनाएं पूरी करके जाते थे, हर चीज़ को वे भस्मित होते देखना चाहते थे। चीज़ बढ़िया स्वीकार करते थे और उनकी जो भस्म बनती थी, उनके सम्मुख, वह ही उनका तप था।

अब दूसरी और भगवान शंकर ले लीजिए, जिनका एक प्रमुख नाम है **विश्वनाथ महादेव**। सारे संसार के नाथ है, स्वामी है और बहुत मस्त देवता है। दिगम्बर है भगवान शंकर, नग्न रहते हैं, सर्पों की माला और भस्मी से ओत–प्रोत रहते हैं। भस्मी उनका भूषण है। उनका श्रृंगार है सर्प और भस्मी। धूनी हमेशा जलती रहती है और स्वयं में वे विश्वनाथ हैं। एक ऐसी पुरानी कथा है, कि जब भगवान शंकर की सगाई हुई तो महाराज हिमाचल ने अपने मत्रियों को और राज्य के विशिष्ट लोगों को शगुन देने के लिये कैलाश पर भेजा। उन्होंने जाकर जब भगवान शंकर को देखा, तो वे लोग हृदय में बड़े दुखी हुए, कि महाराज हिमालय की बुद्धि खराब हो गई है, कि इतने बड़े राजा होकर, इतनी सुन्दर उनकी पुत्री है और इस बाबा को दे रहे हैं, यहाँ पर! मतलब यह, कि कुछ कहते नहीं बनता था, फिर भी उन्होंने भेंट दी और जब वे लौटने लगे, तो वर–पक्ष की तरफ से भी कुछ भेंट दी जाती है। भगवान शंकर के पास वहां कुछ था तो नहीं, उन्होंने शगुन में से थोड़ी–थोड़ी भस्मी सबको दे दी। अब चूंकि यह महाराज हिमाचल के दामाद थे, तो उन्होंने आदरवश वह भस्मी ले ली। जैसे ही भगवान शंकर, उनकी दृष्टि से ओझल हुए, तो जो सेनापति था उसने थोड़ी दूर जाकर वह भस्मी फेंक दी। मंत्री ने भी थोड़ी दूरी पर, वह भस्मी फेंक दी और बाकी सबने भी। लेकिन जो राजपुरोहित था, वह विद्वान था उसने वह भस्मी नहीं फेंकी। थोड़ी दूर जाकर जब सभी भोजन के लिए बैठे, तो राजपुरोहित ने बड़ी श्रद्धा से भस्मी को खोला और भस्मी खुलते ही कुछ देव–इच्छा ऐसी हुई कि उसके हाथ से वह भस्मी छूट गई और जहाँ वह गिरी, वहीं पर विचित्र माणिक और बहुत कीमती हीरे–जवाहरात बिखर गए। राजपुरोहित उन बहुमूल्य रत्नों को देखकर सकपका गया, उसने वे सब एकत्र कर लिए। बाकि लोग जिन्होंने

वह भस्मी फेंक दी थी, उन्होंने विचार किया, कि हम दोबारा भगवान शंकर के पास जाते हैं और थोड़ी भस्मी लेकर आते हैं। वे दोबारा गए, तो भगवान शंकर ने कहा कि तुम्हें जिस समय मैंने वह भस्मी दी थी, वह समय अब निकल चुका है। अब मै तुम्हें भस्मी देता हूँ माँगने पर तो वह भस्मी रत्न नहीं बनेगी। महत्त्वपूर्ण क्या है? उस भस्मी को लेने वाली श्रद्धा ने उसे रत्न बना दिया। बोले, भस्मी तो मैं तुम्हें अब भी दे सकता हूँ, लेकिन तुम माँगकर ले रहे हो, लोभवश। उस समय प्रसादवश लेते। जिसने इसे प्रसादवश लिया, श्रद्धा से लिया तो भस्मी रत्न बन गई, बहूमूल्य रत्न, जो महाराज हिमाचल के पास भी नहीं थे।

यह दो उदाहरण हे–पहला, हिमालय के उस महात्मा का, जो बहुमूल्य वस्तुएँ लेकर ले में डाल देता था, अग्नि में डाल देता था। दूसरा, भगवान शंकर कैलाश में धूने के पास रहते हैं और शरीर पर भी भस्म ही धारण किए रहते हैं और विश्वनाथ कहलाते हैं। तो क्या रहस्य है इस भस्मी के पीछे? इसके पीछे एक बड़ा सरल रहस्य है, जब हम किसी व्यक्ति पर अधिकार करना चाहते हैं, तो हमें उस व्यक्ति की जो पूर्ण सम्पदा है, सम्पूर्ण भौतिक अस्तित्व, उसका धन, उसका पद, सम्पदा और उसका सम्पूर्ण ऐश्वर्य, जो भी उस व्यक्ति के पास भौतिक प्राप्तियाँ और उपलब्धियाँ है, उन उपलब्धियों में सर्वोत्तम एक ही वस्तु को प्राप्त करना होगा। तभी उस पर हम अधिकार कर सकते हैं, क्योंकि **पूजा हमेशा अपने से सशक्त की होती है। अपने से निर्बल की कोई पूजा नहीं करता। जब भी कभी हम आश्रित होते हैं तो हमेशा अपने से ज्यादा सशक्त पर आश्रित होते हैं, चाहे वह भौतिक क्षेत्र में हो, चाहे आध्यात्मिक क्षेत्र में।** भगवान शंकर अपने ऊपर भस्मी को ओढ़ कर रखते हैं। यह परम सत्य है, कि मृत्यु के बाद जब देह जलती है चिता में तो आकाश–**आकाश में**, जल–**जल में**, वायु–**वायु में** और अग्नि–**अग्नि में मिल जाती है, जो कि जलने के बाद दिखाई नहीं देते। जो सामने नज़र आती है, वह है भस्मी, शेष बचा हुआ तत्व।** कोई पूरे महाब्रह्माण्ड का महाशासक हो, कितना बड़ा सम्राट हो, कितना बड़ा यशस्वी हो, ऐश्वर्यवान हो और कितना बड़ा महाप्रतापी हो, उसका जो अन्तिम शेष बचता है, वह है उसकी

भस्मी और भस्मी महापवित्र है। कोई व्यक्ति कितना भी दुष्ट रहा हो, अपने जीवन काल में, पापी हो, पाखण्डी हो, धूर्त हो लेकिन उसकी भी **भस्मी महापवित्र है क्योंकि यह अकर्ता है, विशुद्धतम है। भस्मी ही शेष है।**

देखिए, बड़ा विचारणीय विषय है। **जब व्यक्ति से व्यक्ति में अन्तर निकालते है, शिक्षा, पद, धन, पुत्र, सम्पत्ति व शारीरिक और बौद्धिक बल के आधार पर, तो अन्तर हमेशा निकाला जाता है, घटा करके, शेष करके। तो भगवान शंकर ने एक महाशेष ले लिया है, जो भस्मी है और उस शेष को धारण कर लिया।** दोबारा, हम इसका स्पष्टीकरण करते हैं, कि जब दो व्यक्तियों में हम अन्तर करते हैं, दो व्यक्तियों में कौन व्यक्ति किससे बड़ा है तो वह शेष से किया जाता है। संसार में पूजा हमेशा बड़े की होती है, सशक्त की होती है। निर्बल का आश्रय कोई नहीं लेता और निर्बल को आश्रय देने में भी लोग संकोच करते हैं। भगवान को हम क्यों मानते हैं? क्योंकि वे सर्वशक्तिमान हैं। जब किसी की शक्ति का अनुमान किया जाता है, तो वह शेष से किया जाता है। यह जो बात मैं कह रहा हूँ, यह किसी ग्रन्थ में नहीं लिखी हुई है। कहीं भी हम किसी व्यक्ति की महानता की, किसी प्रकार की श्रेष्ठता की या किसी चीज़ की जब हम गणना करते हैं तो सदा शेष से करते हैं। उस शेष को, उस महाशेष को भगवान शंकर ने अपनी उपासना का महाविषय बना लिया कि उस महाशेष को क्यों न धारण कर लिया जाए। जो शेषनाग है, वह भी शेष के ही प्रतीक है। भगवान विष्णु जिस शेषनाग की शय्या पर सोते हैं, वह शेषनाग भी शेष है। बैकुण्ठधाम के शासक है विष्णु जी, वे सारे विश्व में समाहित हैं। आपने भगवान विष्णु को जब भी किसी चित्र में देखा होगा, लेटे ही देखा होगा और लक्ष्मी उनके चरण दबाती है। इसलिए दबाती हैं कि वे भी शेष पर ही शासन करते हैं। **वहाँ धूना है भगवान शंकर का, यहाँ शेषनाग है।**

यह शेषनाग महाकाल के प्रतीक हैं और इस महाकाल पर वह शासन करते है। जब हमारे सिर पर काल लटकता है, हमारी मृत्यु लटकती है जीते जी, जब हम मृत्यु की स्मृति रखते हैं, तो लक्ष्मी हमारे पाँव दबाती है। यह बहुत बड़ा रहस्य है। ऐश्वर्य उसके चरणों में आ जाता है क्योंकि मरने के बाद तो सभी मर

जाते हैं। जब व्यक्ति जीते जी मरने का अभ्यास करता है, जीते जी मरना बहुत कठिन कार्य है। जब हम जीते जी अपनी मृत्यु का दिग्दर्शन करते हैं और उसको सदा अपने सिर पर, मस्तक पर धारण करके रखते हैं, तो ऐश्वर्य हमारे चरणों में अवश्य आ जाएगा। यह नितान्त सत्य है। **ऐश्वर्य को रोकता कौन है? ऐश्वर्य को रोकती है हमारी जीने की इच्छा, हमारी आकांक्षाएं, महत्वाकांक्षाएं, इच्छाएं। यह हमारे ऐश्वर्य में बाधा डालती हैं।** जो लोग बहुत बड़े अधिकारी हैं वे कुर्सी का भय रखते हैं। कुर्सी मिल जाती है उनको, पद मिल जाता है, लेकिन भयभीत रहते हैं। उनको कुर्सी का भोग नहीं होता, बल्कि उसको छीनने का भय लगा रहता है। धन की प्राप्ति, पुत्र की प्राप्ति, स्वास्थ की प्राप्ति, सुन्दर स्त्री की प्राप्ति, तो इनकी प्राप्ति से भोग कम मिलता है, भय ज्यादा चिपट जाता है कि कहीं यह चीज़ हमसे छिन न जाए। जब उस शेषनाग को हम धारण कर लेते हैं, तो वास्तव में ऐश्वर्य हमारे चरणों में आ जाता है, क्योंकि **भयभीत व्यक्ति कभी ऐश्वर्यवान हो नहीं सकता।** वह तो भयभीत है, जो कुछ थोड़ी बहुत प्राप्ति है उसका भय लगा रहता है, कि कहीं छिन न जाए, तो ऐश्वर्यवान कैसे हो सकता है ? वह तो संसार के भौतिक भोग भी नहीं भोग सकता। भयभीत व्यक्ति कैसे भोग सकेगा?

भोगने के लिए जब हम उस सत्य, मृत्यु को (जब जन्म हुआ है तो मृत्यु अवश्य होगी) सिर पर धारण कर लेते हैं, शेषनाग की शय्या पर लेट जाते हैं, तो उसके बाद हमारा भय समाप्त हो जाता है। जीवन की वास्तविकता का, उस शेष का हमको ज्ञान हो जाता है कि शेष क्या भगवान शंकर ने उस शेष को, भस्मी को धारण दिया हुआ है। दोनों ही पूजनीय है संसार में। विष्णु पूजनीय हैं, क्योंकि वह शेष शय्या पर है, **शेष शय्या मृत्यु की द्योतक है।** वे जीते जी स्वयं को मृत्यु से अलग नहीं रखते, मृत्यु उनके सिर पर लटकती नज़र आती है और लक्ष्मी उनके चरणों में रहती है। परम ऐश्वर्यवान है, विष्णु। इधर भगवान शंकर है, उन्होंने शेष, वह भस्मी लगाई हुई है। मृत्यु के बाद, देह जलने के बाद जो भस्मी बचती है, शेष रह जाती है, उस शेष को उन्होंने धारण किया हुआ है, कि यह जो शेष उनके पास है, बाद में शेष यही बचेगा। जो कुछ भी हो आप

संसार में, यह शेष है। वह शेष के स्वामी है। पाँचो महाभूतों का शेष तत्व, देह के प्रज्जवलित होने के बाद भी जो शेष तत्व बचता है, वह भस्मी है। चाहे वह विश्व विजेता हो बाहुबल से, बौद्धिक बल से, उसका जो शेष बचता है, वह उसकी भस्मी है जिसको वह नहीं जानता, इसलिए वो हमेशा भयभीत रहता है। तो भगवान शंकर उसी भस्मी को या वह महात्मा शायद इस सत्य को प्राप्त कर चुका होगा, कि शेष यह भस्मी है। जिन वस्तुओं के पीछे हम यह सारा जीवन दौड़ते–दौड़ते, हांफते–हांफते बिता देते हैं, उन **सबका शेष है भस्मी**। जब हम संसार से विदा लेते हैं, तो हमारी समस्त वस्तुएँ, हमारे लिए भस्मी हैं, उनका कोई अर्थ नहीं रहता। जिन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए हम सारी उम्र मुकद्दमे बाजियाँ करते हैं और न जाने कितने क्लेश मोल लेते हैं, कितना तनाव, न जाने हम किन–किन मानसिक उलझनों से ग्रसित रहते हैं। जब हम उसको भस्मी रूप में देखते हैं, तो हम भयमुक्त हो जाते हैं, तनावमुक्त हो जाते हैं, बंधनमुक्त हो जाते हैं, असंग हो जाते हैं हम और अपनी उस भस्मी का दिग्दर्शन करके परम शान्त दिमाग से, इस संसार का परिपूर्ण आनन्द लेते ?

जीते जी जिसको मरने का अभ्यास होगा, वह इस वसुन्धरा का भोग कर सकता है, अन्यथा कदापि नहीं। भगवान शंकर, जो शेष बचता है भस्मी, उसको अपने शरीर पर धारण करके रखते हैं इसलिये वह विश्वनाथ हैं। एक नंगा व्यक्ति, दिगम्बर और वह भी भस्मी को ओढ़े हुए, विश्वनाथ कैसे हो सकता है? इसलिए हो सकता है कि बड़े–बड़े प्रतापी, धनाढ्य, ऐश्वर्यवान लोग, उनका जो शेष बचेगा, उस शेष के वे स्वामी हैं। यह अन्तर आ जाता है जब हम जीते–जी इस सत्य में प्रवेश पा जाते हैं। तो भले ही हम भगवान शंकर की तरह दिगम्बर हों, भस्मीभूत हों, उस समय सारा विश्व हमें अपने में समाहित नज़र आता है। यह है भस्मी का दर्शन। उसको केवल शारीरिक रूप से धारण न कर, बल्कि जब हम मानसिक रूप से इसमें प्रवेश कर जाते हैं, कि यही अंत है तो वह हमारे ऐश्वर्य का प्रतीक बन जाता है।

मैं यहाँ दर्शन का वर्णन कर रहा हूँ, किसी विशेष चरित्र का वर्णन नहीं कर रहा हूँ। दूसरी बात, भगवान शंकर के बारे में यह कही गई है, कि उनके पास

कोई भी व्यक्ति, धूर्त, पाखण्डी, डकैत, चोर कैसा भी पहुँच जाये, वे सबका स्वागत करते हैं और इनका निवास शमशान पर है। भगवान शंकर का जो विशिष्ट निवास है, वो शमशान में है और शमशान एक ऐसी जगह है, जहाँ पर कोई दिन–रात जब भी पहुँच जाए, सबका स्वागत होता है। कोई दरवाज़ा नहीं है वहाँ पर, कोई गेट बंद नहीं होता। भगवान शंकर का वास है वहाँ। जितने जीव अपने पाप–पुण्यों के कर्मों के बन्धन में पड़े हुए हैं, यह महामायिक बंधन है। उनके जलने के बाद उनकी भस्मी स्वतः ही बंधन मुक्त होती है। किसी महापापी की, किसी जगद्रोही की भस्मी को अपवित्र नहीं कह सकते। उसको द्रोही नहीं कह सकते। किसी की भी भस्मी का हम सम्मान करते हैं क्योंकि भस्मी चोर, पाखण्डी, धूर्त, जगद्रोही, विद्रोही नहीं हो सकती। जीव का, किसी व्यक्ति का जो विशुद्धतम शेष है–वह है–**'भस्मी'**। इसलिए भगवान शंकर के दरबार में सबका स्वागत होता है। कोई भूत हो, प्रेत हो, पिशाच हो, बेताल हो, डाक–डाकिनी, शाक–शाकिनी, वहाँ सबका स्वागत है **क्योंकि शेष सबका एक ही है और शेष सदा पवित्र है। वह है भस्मी।** जब जीते जी हम स्वयं को मृत्यु शय्या पर, शेषनाग पर लेटा सकते हैं, तो वास्तविक रूप में हमें अपने अंत का ज्ञान हमेशा बना रहता है। जो शेष बचता है–भस्मी, उसका रहस्य मालूम चल जाता है। तब हम इस जीवन के एक–एक क्षण का, एक–एक पल का भरपूर आनन्द लेते हैं।

आप विचार करके देखें, इस दृष्टिकोण पर जो हम आपके सम्मुख रख रहे हैं–देह के, आयु के बढ़ने के साथ–साथ, एक–एक करके हमारी भौतिक शक्तियों, मानसिक, बौद्धिक एवं अन्य प्रकार की जितनी भी शक्तियाँ हैं, क्रमशः क्षीण होती जाती हैं, कमज़ोर हो जाती हैं। चाहे कोई कितना भी बड़ा अधिकारी हो, एक समय पर आकर उसको अवकाश मिल जाता है और इसी प्रकार धन–सम्पदा, स्त्री इत्यादि और अन्य जितने भी भौतिक पदार्थ हैं, या तो वे स्वयं में क्षीण हो जाते हैं या उसको भोगने की क्षमता क्षीण हो जाती है, कम हो जाती है। इसलिए वृद्धावस्था में प्रायः लोग उतना अपना महात्म्य खो दते हैं जितना कि उनका महात्म्य युवावस्था में होता है। वे स्वयं में चिड़चिड़े हो जाते हैं और

एक विशेष प्रकार की हीनता से ग्रसित हो जाते हैं। अक्सर आपने वृद्ध लोगों को अपनी जवानी की, अपनी सशक्त जीवन की घटनाओं का वर्णन करते हुए सुना होगा। और उधर कोई संत, जो सत्य का चहेता है और जो सत्य में ही प्रवेश कर चुका है, जैसे ही इनकी आयु वृद्धावस्था की ओर जाती है, तो उनका सम्मान बढ़ जाता है। ऐसा प्रायः देखने में आता है और यह सत्य है, कि **संतो की, महापुरुषों की, महात्माओं की आयु जैसे–जैसे बढ़ती है, उनकी मान्यता और उनका सम्मान बढ़ जाता है।** इसके पीछे रहस्य क्या है ?

यदि हम इस जीवन के शेष की अवधारणा को परिपक्व कर लें और वह है भस्मी, वह है मृत्यु। जब हमारा सब कुछ लय हो जाएगा, तो शेष भस्मी रहेगी। इस अवधारणा को नित्याध्यासन द्वारा, समाधि द्वारा, चिंतन द्वारा यदि हम पकड़ लें अपनी युवावस्था में ही, तो युवावस्था में जो प्राप्तियाँ होती हैं, हम उसका अति भोग कर सकते हैं आनन्दपूर्वक। क्योंकि उनके खोने की हमको कोई चिन्ता नहीं होती, भय नहीं होता उनका शेष हमारे पास परिपक्व हो जाता है। वृद्धावस्था में उन वस्तुओं के क्षीण हो जाने पर हमें उनके खोने का कोई मलाल नहीं होता, कोई कष्ट नहीं होता। एक अविरल आनन्द की, मानसिक आनन्द की स्थिति बन जाती है, जो निरन्तर बनी रहती है।

इस भस्मी की धारणा, शेषनाग की धारणा, मृत्यु की धारणा का जीते जी यदि हम अभ्यास करते हैं, तो हम इस जीवन का भरपूर आनन्द लेते हैं। आयु भले ही कुछ हो, पद भले ही कुछ हो, न हो। जब उस शेष की अवधारणा की परिपक्वता हो जाती है साधना द्वारा तो एक अविरल आनन्दमय जीवन हो जाता है जिसका न केवल हम, बल्कि हमारे पास आने वाले व्यक्तियों को भी इस शान्ति का अनुभव होता है। इसलिए वृद्ध–महात्मा, ऋषि–मुनि अधिक पूजनीय हो जाते हैं। तो क्यों न हम अपनी उस सम्पदा को जो हमारे पास शेष बचेगी, पहले तो उसकी सत्यता को समझे और उसके बाद नित्याध्यासन द्वारा उस सत्यता को अपने ह्रदय में आत्मसात् करें, ताकि हमारा जीवन अन्त तक अति आनन्द से व्यतीत हो। यह है, इस भस्मी का रहस्य और इस भस्मी का दर्शन।

।। जय जय श्री राम।।

आत्मानुभूति

बहुत सुन्दर विषय है, **आत्मानुभूति**। आत्मानुभूति का तात्पर्य है **अपने स्वयं के सत्य स्वरूप का दिग्दर्शन**। किसी विशेष जन्म में आकर जब जीव पशुता से ऊपर उठता है, मानव शरीर में आता है और मानव शरीर में आकर उसमें जिज्ञासा जाग्रत होती है, कि इस जीवन का रूप क्या है, मैं बार–बार जन्म क्यों लेता हूँ, इसका अर्थ क्या है ? जन्म लेना, जीना, फिर मृत्यु को प्राप्त होना, फिर जन्म लेना, यह सिलसिला समाप्त कब होगा और मैं कर क्या रहा हूँ? जब ऐसी कई जिज्ञासाएँ उसके अन्दर पैदा होती हैं, तो उस मानव को हम जिज्ञासु कहते हैं।

जिज्ञासा की सात श्रेणियाँ हैं, जो अन्तिम जिज्ञासा की श्रेणी है उसको **तीव्रतम जिज्ञासा** कहा है। एक दीवानगी, एक पागलपन, एक जुनून कि मेरा स्वरूप क्या है? मै कौन हूँ, कहाँ से मै आया हूँ और कहाँ मुझे जाना है, मैं बार–बार जन्म–मरण के चक्कर में क्यों पड़ता हूँ, कौन सी शक्ति यह सब करवाती है? यह प्रश्न कभी न कभी तीव्रतम जिज्ञासुओं के हृदय में उठते हैं। इनका उत्तर मिलने के बाद जिज्ञासा का स्तर समाप्त हो जाता है और एक अन्य श्रेणी शुरु होती है, जिसे हम **मुमुक्षु** कहते है।

आत्मानुभूति क्या है? दूसरे शब्दों में कहेंगे कि मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? आपने कार्बन के बारे में सुना होगा। एक होता है जलाने वाला कोयला और एक है– हीरा, दोनों ही कार्बन है। शुद्ध हीरा और जलाने वाला कोयला, दोनों के कार्बन में अन्तर क्या है, जो **जलाने वाला कोयला है वो अशुद्धतम कार्बन है और जो हीरा है वह शुद्धतम कार्बन है।**

इसी प्रकार जब मानव को उसके विशुद्धतम स्वरूप की झलक पाने की सनक पैदा हो जाती है, उसे कहते है आत्मानुभूति की परम इच्छा, विशुद्धतम इच्छा और यह इच्छा ईश्वर की इच्छा के बिना कभी पैदा नहीं होती। यह इस इच्छा का रहस्य है। इसमें यह मान लीजिए कि आपकी इच्छा ही नहीं है। यही इच्छा, इच्छुक, इच्छा–पूरक और इच्छा–फल केवल ईश्वरीय सत्ता बनती है। आज हम इष्ट इच्छा से, इष्ट कृपा से, उन्हीं की बल, बुद्धि,

विद्या से, उन्हीं के सामर्थ्य से, शक्ति से इसका वर्णन कर रहे है।

अपने सच्चिदानन्द स्वरूप के दिग्दर्शन को आत्मानुभूति कहा है। मेरा सच्चिदानन्द स्वरूप क्या है, मैं अपने स्वरूप से परे क्यों हूँ और मैं अपने उस परम–स्वरूप को प्राप्त कैसे कर सकता हूँ? सच्चिदानन्द अर्थात् सत्, चेतन और आनन्द। यह एक परमब्रह्म परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है, जो सत्य है, चेतन है अर्थात् जन्म–मरण रहित है और आनन्द है। इन तीन गुणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इन तीनों का अत्यधिक और अति विशिष्ट सम्मिश्रण है ईश्वरीय सत्ता। मेरा परम स्वरूप। जिसकी मै अनुभूति करना चाहता हूँ, जो मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, जिज्ञासुओं में यह विशिष्टतम् और अंतिम जिज्ञासा बिना इष्ट इच्छा के उत्पन्न नहीं हो सकती।

अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को जानने की इच्छा के उत्पन्न होने के लक्षण क्या है? जब यह इच्छा उत्पन्न होती है, तो हमारा मन एक विशिष्ट हर्षोल्लास से परिपूरित हो जाना है। कई विभिन्न बाधाएं, चिन्ताएं, त्रास, व्याधियाँ जो हम अपने ह्रदय में लिए घूमते हैं, वे स्वत. ही समाप्त हो जाती हैं। यदि वे उस समय समाप्त नहीं होती हैं, तो समझिए आत्मानुभूति की इच्छा नहीं है। इस इच्छा का उत्पन्न होना ही उस सच्चिदानन्द की प्राप्ति का, उसके सानिध्य का द्योतक है। **आत्मानुभूति की प्रथम अवस्था में आत्मानुभूति की इच्छा उत्पन्न होना और इच्छा उत्पन्न होने के बाद, उस व्यक्ति में आत्मानुभूति के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं।**

एक विशेष जिज्ञासा, एक विशेष हर्षोल्लास, अभय, रुग्ण होते हुए भी आरोग्यता की स्थिति, सर्व सम्पन्नता, एक विशेष साहस, उत्साह और ईश्वर के प्रति मोह के अश्रु, एक विशेष आनन्द का सागर, उल्लास का और कृपा का सागर उस व्यक्ति के मन में, ह्रदय में हिलोरें खाने लगता है। यह आत्मानुभूति की पहली स्थिति है क्योंकि यह विशेष इच्छा, ईश्वरीय इच्छा का अंश है। इसके बाद जो आखिरी पड़ाव है, वो है, **मुमुक्ष पद**। उसके बाद वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।

आत्मानुभूति की इच्छा के उत्पन्न होने का दूसरा लक्षण है, वह व्यक्ति

कर्मबन्धन से स्वयं मुक्त हो जाता है। पाप, पुण्य, शुभ, अशुभ, अच्छा, बुरा, जप, तप, दान, पुण्य, हवन, यज्ञ, सारे कर्मों से उसको मुक्ति मिल जाती है, सभी कर्मबन्धन स्वयं कट जाते हैं।

विभीषण जब रावण की लात खाने के बाद श्री राम की शरण में आकर दण्डवत् प्रणाम करते हैं और कहते हैं, 'त्राहिमाम। प्रभु, मैं राक्षस कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, मै राक्षस हूँ, अधम हूँ, नीच हूँ मैं, मेरे पर कृपा करें।' प्रभु श्री राम उनको सुनने के बाद कहते हैं, 'शान्त हो जाइए विभीषण! आप इस वक्त हमारे सम्मुख हैं

'सन्मुख होई जीव मोहि जबही, जन्म कोटि अध नासही तबही'

मेरा यह धर्म है कि जीव जब मेरे सम्मुख होता है, तो उसके एक जन्म के नहीं, उसके करोड़ों जन्मों के पाप, मैं उसी समय काट देता हूँ। अब आप साक्षात् मेरे सम्मुख हैं। आप स्वयं को अधम, नीच आदि की संज्ञा मत दीजिए। आप हमारे मित्र हैं, आप हमारे ह्रदय से लगिए।" आत्मानुभूति की जिज्ञासा जब होती है, तो जीव न केवल पापों से, बल्कि पुण्यों से भी मुक्त हो जाता है। उसको सब प्रकार के कमी से मुक्ति मिल जाती है। इस मुक्ति की जो अनुभूति है, अनुभव है, उसका स्वयं जिज्ञासु ही आभास कर सकता है क्योंकि यह अनिवर्चनीय पद है, वक्तव्य से बाहर। जिज्ञासु की एक विशेष आनन्दमय स्थिति हो जाती है। वह उस विशेष आनन्दमयस्थिति के बाद अपने उस सच्चिदानन्द स्वरूप का दिग्दर्शन करना चाहता है।

आत्मानुभूति का अंतिम लक्ष्य इष्ट–दर्शन है, उसके सच्चिदानन्द स्वरूप की झलक है। लेकिन उससे पहले उसकी झलक का विशेष आनन्द उसे अनुभव होने लगता है। उसके बाद उपासक को अपने इष्ट का दर्शन मात्र शेष रह जाता है जो कि इष्ट कृपा पर ही मिल सकता है। **यहाँ एक बात विशेष वर्णन करने योग्य है कि यह एक कृपा–साध्य दशा है, कर्म साध्य नहीं है।** जप, तप, दान, पुण्य, यज्ञ, हवन, इन सबका जब पूर्ण समर्पण का समर्पण हो जाता है। इसमें विशेष है, समर्पण का समर्पण कि उनको **समर्पण करने के बाद, समर्पण की अनुभूति तक समाप्त हो जाती है, इसको कहा है, समर्पण का समर्पण।** जब इन कर्मों का समर्पण का समर्पण हो जाता है, तो

उसके बाद जीवन की स्थिति एक अबोध बालक की तरह हो जाती है। वह रुदन कर उठता है। उस रुदन को सुनकर एक ममतामयी माँ की तरह आपका इष्ट स्वयं द्रवीभूत हो उठता है।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा, मोहि कपट छल छिद्र न भावा।

कोटि–कोटि मानवों में किसी–किसी पर इसकी जब विशिष्टतम कृपा होती है, तो उस महाशक्ति सच्चिदानन्द की एक झलक मिल जाती है जीव को।

सबकी साकी पर नज़र हो, यह जरूरी है मगर,
सब पे साकी की नज़र हो, यह जरूरी तो नहीं।

अब आत्मानुभूति की जब अन्तिम झलक मिलती है, तो उसका प्रमाण यह है कि कोई भी मानव बुद्धि, मानव हृदय, उस झलक को सहन नहीं कर सकता। वह अवश्य झल्ला बन जाता है। उसका पागल होना अति आवश्यक है। यदि उस झलक को पाने के बाद वह सामान्य मानव रहता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसको वह झलक नहीं मिली। यह मस्ती, यह पागलपन, उसे निरन्तर प्रसन्न रखता है–

इन बिगड़े दिमागों में भरे खुशियों के लच्छे हैं,
हमें पागल ही रहने दो, हम पागल ही अच्छे हैं।

उसको अपने इक के दर के इलावा और कुछ अच्छा नहीं लगता।

पड़ा रहने दो अपने दर पर, मुझको क्यों उठाते हो?
मेरी किस्मत सरती है, तुम्हारा क्या बिगड़ता है?

बड़ी अटपटी स्थिति हो जाती है, उसकी गतियाँ समाप्त हो जाती है। अपने उस अन्तिम स्वरूप की एक झलक, उस व्यक्ति को अवश्य झल्ला कर देती है। उसको संसार बेकार सा नज़र आने लगता है। क्या नज़र आने लगता है, वह यहाँ बयान नहीं किया जा सकता, अनिर्वचनीय पद है। उसको सोना, जागना, जन्म, मृत्यु, खोना, पाना, किसी में कोई भी भेद नहीं रहता। मनुष्य सांसारिक ही नहीं रहता। आत्मानुभूति की जिज्ञासा के उठते ही उसके बारे में जानने की इच्छा से ही विलक्षणता आनी शुरू हो जाती है और उसका अन्त भी विलक्षणता में होता है।

अक्सर परम जिज्ञासु और परम साधक मायिक बाधाओं का और मानसिक बाधाओं का प्रश्न करते हैं। साधना के, ध्यान के सिद्धि के और आत्मानुभुतियों के क्षेत्र में यह मायिक शक्तियाँ बाधा डालती हैं। इस बारे में इष्ट कृपा से जो अनुभव हुआ, उसका आपके सम्मुख थोड़ा प्रकाश डालूँगा।

परम ईश्वरीय सत्ता, सच्चिदानन्द जिसे ठोस–घन–शिला कहा है, अपनी दो विशिष्ट शक्तियों मन और माया से ब्रह्मा, विष्णु और महेश की संरचना करती हैं। यह तीनों मायामय है। ब्रह्मा इन कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों का सृजन करते हैं, विष्णु पालन करते हैं और महेश इसका संहार करते हैं। यह एक विशुद्ध दर्शन है, जो भारत की देन है। हम इस मन और माया पर अपना अधिकार जमाना चाहते हैं। आप स्वयं से यह प्रश्न पूछिए, कि जब आप अपनी माँ के पेट में नौ महीने रहे, तो उस समय कौन सी शक्ति हमारा निर्माण कर रही थी? एक कोशिका से इतनी विशालतम देह का निर्माण हुआ, कोटि–कोटि जन्मों के संस्कारों को लेकर जीव आता है। एक विशिष्टतम् प्रकृति की संरचना यह मानव देह, एक सम्पूर्ण विश्व का प्रतिनिधित्व है। इसको कौन सा मन, कौन सी माया बना रही थी ? यह है **ईश्वरीय माया व मन**।

वास्तविक रूप में यही ईश्वरीय माया और मन इस जीवन का संचालन भी करते हैं। महाकालेश्वर, जो काल के ईश्वर है समय जिनके अधीन है, उनकी कृपा से, काल के विशिष्ट पहलू से जीवन में विशिष्ट मोड़ आते हैं, विशिष्ट स्वरूप आते हैं और एक समय में इसका अन्त हो जाता है। जीवन फिर चलता है। **यह किसी मानव बुद्धि के अधीन नहीं है, किसी मानव–कर्म के अधीन नहीं है बल्कि मानव कर्म उस कालेश्वर की इच्छा के अधीन है, यह परम सत्य है।** यदि कोई व्यक्ति कहे कि मैने अमुक कर्म करते हुए सफलता पाई है तो वह व्यक्ति मूर्ख है। जब कोई विशिष्ट कार्य किसी व्यक्ति द्वारा होना होता है, उस समय उसकी परिस्थितियां वैसी बन जाती है।

आपुन आवइ ताहि पहि, ताहि तहाँ लै जाइ।

हमारे जीवन का समय, महा–कालेश्वर के अधीन है। सम्पूर्ण जीवन महाकालेश्वर की विधाओं के नियंत्रण में है। हमारे नियंत्रण में एक पल भी नहीं

है। जब हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है, तो हम अपने हाथ में रखना ही क्यों चाहते हैं? जब प्रभु की विशिष्ट इच्छावश इस रहस्य को बुद्धि से समझने के बाद हम बुद्धि का समर्पण कर देते हैं, तो हमें विशिष्ट अनुभूति होने लगती है कि यह विशेष ईश्वरीय माया, ईश्वरीय मन के अधीन करोडों ब्रह्माण्डों का व्यापार चल रहा है और मूर्खतावश, अज्ञानवश हम उस मन और माया पर अपना अधिकार जमाना चाहते हैं। जो ईश्वरीय शक्तियाँ हैं, उनको वश में करने का न तो आपको अधिकार है और न ही क्षमता। आप मात्र प्रार्थना कर सकते हैं, उसके सामने गिड़गिड़ा सकते हैं, रो सकते हैं अबोध बालक की तरह।

जब आप मन और माया के ऊपर विजय की सोचने लगते हैं तो मन और माया आप पर हावी हो जाते हैं। ईश्वरीय शक्तियों के साथ आप मुकाबला कैसे कर सकते है? माया की तीनों विशिष्ट शक्तियाँ–तमोगुणी, रजोगुणी और सतोगुणी प्रबल रूप में आपके सम्मुख आती है। आपको एक क्षण में न जाने कहाँ फेंक देती हैं। माया बहुत प्रबल है। यह मन और माया ईश्वर के दो प्रहरी है। किसी अति विशिष्ट व्यक्ति को, किसी ऊँचे पदाधिकारी से यदि आपको मिलना हो तो एकदम नहीं मिल सकते। उनसे पहले समय लेना पड़ता है। उनको प्रसन्न करना पड़ता है। फिर कभी उनकी कृपावश हमारी कुछ समय के लिए उनसे मेल–मुलाकात होती है।

जरा सोचिए, आप उस महान ईश्वरीय सत्ता से, जो कोटि–कोटि ब्रह्मांड नायक है, हजारों ब्रह्माण्डों का सृजन, पालन और संहार जिसका भृकुटी विलास है, उससे समय लेना चाहते हैं, उसका साक्षात्कार करना चाहते हैं, तो निश्चय ही आपको उस मन और माया की शरण में जाना होगा। आज के बाद यह मूल–मन्त्र जो अपने अनुभव से, इष्ट कृपा से, आपके सम्मुख रख रहा हूँ, कि इस मन और माया पर कभी अपना अधिकार मत करो, इनकी शरण में जाओ, इनको प्रणाम करो, इनके सामने रूदन करो, फिर शायद इनकी कृपा से आपको उसका दिग्दर्शन हो जाए! एक झलक मिल जाए!

जब आत्मस्वरूप का दर्शन होता है, अपनी सच्चिदानन्द स्थिति का भास होता है तो एक परमानन्द की स्थिति होती है जिसका वर्णन नहीं

किया जा सकता। अब प्रश्न यह उठता है, कि आदमी उस स्थिति में क्या पाता है और क्या खोता है? वास्तविकता यह है कि जो हमारा सच्चिदानन्द स्वरूप है, उस पर हमारा एकाधिकार है, वह हमारा स्वरूप है। हम जन्म–जन्मान्तरों की परिस्थितियों वश, भय, वश, विक्षेप, वश, क्रोधवश, कामवश, लोभ एवं मोहवश न जाने कितने धूमिल हो जाते हैं, प्रदूषित हो जाते हैं और अपनी उस वास्तविक चमक, उस वास्तविक स्थिति से दूर हटे से अनुभव करने लगते हैं।

साधना द्वारा, उपासना द्वारा, संतों की कृपा द्वारा, आत्म कृपा द्वारा और न जाने किन–किन कृपाओं के द्वारा, जब कभी विशेष अन्तिम इष्ट कृपा हो जाये, तो हमें अपने स्वरूप का, अपने इष्ट का पुनः दिग्दर्शन होता है, अनुभूति होती है, अनुभव होता है। एक विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। **हमारा वह सच्चिदानन्द स्वरूप, जिससे हम बिछुड़ से गए थे, वह पुनः भीतर से ही हमें मिल जाता है।** तो जहाँ तक किसी प्राप्ति का प्रश्न है, हमने कुछ खोया ही नहीं था, खोया सा महसूस हुआ था। इस कथन की पुष्टि के लिए मैं आपको एक कहानी के रूप में उदाहरण देता हूँ।

एक राजा के घर एक पुत्र उत्पन्न हुआ और महल की परम्परा के अनुसार उसके दाएं कंधे पर पैदा होते ही एक राज–चिन्ह अंकित कर दिया गया ताकि बालक कभी गुम भी हो जाए, तो इस चिन्ह से उसकी पहचान की जा सके। दुर्भाग्यवश, कुछ दिन के बाद वो बालक उठा लिया गया और उठाने वाले ने बालक को भयवश किसी झाड़ी के पास फेंक दिया। उस रास्ते से गुज़रने वाले एक धोबी दम्पति ने बालक को देखा तो उसे उठा लिया। उनकी कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने बालक को अपने पुत्र की तरह पाला। जब बालक 20 वर्ष का नौजवान हो गया, तो अपने तथाकथित माता–पिता धोबी एव धोबिन के साथ घाट पर कपडे धोने के लिए जाया करता था।

एक दिन जब बालक घाट पर कपड़े धो रहा था तो उसी राज्य के दीवान ने वहाँ स्नान करते हुए बालक को देखा। बालक की सुन्दरता, देह के आकार–प्रकार को देखकर दीवान प्रभावित हुआ। पास जाकर उसने उसके दायें कंधे पर राजचिन्ह देखा, तो उसे विश्वास हो गया कि यह वही बालक है, जो

बीस वर्ष पहले हमारे राज्य से उठा लिया गया था? दीवान द्वारा बालक की पहचान होने के पश्चात् बालक को राज–महल वापिस लाया गया। राजचिन्ह द्वारा राजकुमार की पहचान होने के बाद उसकी पोशाकें बदल दी गई, आरतियाँ उतारी गई और उसे युवराज घोषित कर दिया गया।

यदि हम इस कहानी का विश्लेषण करें कि यह बालक पैदाइशी राजकुमार था, अब बीस वर्ष के बाद यह युवराज घोषित हुआ और बीच के अन्तराल में भी यह राजकुमार ही था, लेकिन भ्रमवश और अज्ञानतावश वह स्वयं को धोबी की सन्तान समझता रहा। इसी प्रकार **जब हमें आत्मानुभूति होती है, आत्म–साक्षात्कार होता है तो हमें अपने खोए हुए स्वरूप, सच्चिदानन्द स्वरूप का आभास हो जाता है।** जिस आनन्द से हम वंचित हो चुके होते हैं, पुनः अपने भीतर से उसी आनन्द की प्राप्ति हमें हो जाती है और इस प्राप्ति के बाद यदि कुछ खोता है, तो वे इस संसार के मिथ्या आडम्बर होते हैं, जिनको हम सत्य मानकर उनसे लिप्त हो जाते हैं। यह है परमानन्द की अनुभूति।

आज सारे विश्व में कोलाहल, अशान्ति, भय और विक्षेप का वातावरण है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे प्रत्येक मानव का कुछ खो गया हो और वह उसे ढूँढ रहा हो। आज की भाग–दौड़ और इस तनाव पूर्ण जीवन का कारण क्या है? इसका आध्यात्मिक पहलू क्या है? इस भाग–दौड के पीछे वास्तविकता क्या है? बहुत विचारणीय विषय है।

आप मुझसे सहमत होंगे, कि जब किसी भी व्यक्ति की कोई बहुमूल्य वस्तु या अति प्रिय वस्तु खो जाती है, तो वह स्वयं खोया–खोया सा इधर–उधर उस वस्तु को ढूँढता सा प्रतीत होता है। इस खोज के दौरान उस वस्तु से मिलती–जुलती सी कोई वस्तु उसे जब नज़र आती है, तो क्षण भर के लिए उसके चेहरे के हाव–भाव बदल जाते हैं। उसके चेहरे पर मुस्कान आ जाती है। लेकिन उस नकली वस्तु का विश्लेषण करने के बाद जब उसे मालूम चलता है, कि यह वास्तविक वस्तु नहीं है, तो वह पुनः उदास हो जाता है और वह खोज फिर प्रारम्भ हो जाती है। यदि गहनता से विचार करें, तो आज की जो यह भाग–दौड़ और तनाव हैं, **इसके पीछे यही दर्शन है, कि हम अपने**

वास्तविक स्वरूप, उस सच्चिदानन्द स्वरूप से बिछुड़ से गए हैं। हमारा वह स्वरूप, वह आनन्द, वह सत्य अथवा चेतनता कहीं खो से गए है।

वास्तविकता में हम यह समझ नहीं पाते कि हमारा क्या खोया है और कहाँ खोया है? एक अज्ञात अशान्ति हम हृदय में लिए भटक रहे हैं। न जाने उस भटकन में हम कहाँ–कहाँ दौड़ते हैं? कभी धन के पीछे, कभी स्त्री के पीछे, कभी पद के, कभी सत्ता के और न जाने क्या–क्या प्राप्त करना चाहते हैं? प्राप्तियों होती हैं, कुछ क्षण के लिए हमारे चेहरे की रूप–रेखाएँ भी बदल जाती हैं, थोड़ी प्रसन्नता का आभास भी होता है। उन बड़ी–बड़ी प्राप्तियों के बाद, एक क्षणिक सन्तुष्टि के बाद पुनः हमारी दौड़, हमारी खोज शुरू हो जाती है और वैसी ही विक्षिप्त मानसिक स्थिति पुनः बन जाती है। हम फिर किसी अन्य भौतिक प्राप्ति के लिए अग्रसर हो जाते हैं और उस प्राप्ति को ही हम अपना लक्ष्य मान लेते हैं। उसको प्राप्त करने के लिए न जाने हम क्या–क्या कर डालते हैं? इस जीवन का हम कितना समय व्यर्थ कर देते हैं। इस बहुमूल्य निधि का जो ईश्वर ने हमें दी है। यदि भौतिक प्राप्ति हो भी जाए, हमारी अशान्ति फिर भी बरकरार रहती है। कारण कि वह वस्तु वस्तुतः हमारी खोज का मुद्दा नहीं थी। हम नहीं जानते कि हम कहाँ जा रहे है? क्या कर रहे है?

किसी भी अति बुद्धिजीवी विशिष्टतम् व्यक्ति से पूछे, कि वह जा कहाँ रहा है? क्या चाहता है वह? किस चीज़ को प्राप्त करना चाहता है? यदि वह चीज़, वह सत्ता उसको प्राप्त हो भी जाए, तो फिर क्या हो जाएगा? ऐसे प्रश्न जब विशेष ईश्वर कृपा से किसी महामानव के अन्दर घर कर लेते हैं, कि मैं कौन हूँ, मैं कहाँ से आया हूँ? मैं कहाँ जाऊँगा? मेरा आरम्भ क्या है? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? मैं बार–बार जन्म क्यों लेता हूँ? जन्म का वही कार्यक्रम मैं बार–बार क्यों अपनाता हूँ? मुझे क्या मिलता है इससे? यह दौड़ क्यों है? मैं जिस लक्ष्य के पीछे दौड़ रहा हूँ, क्या वास्तव में मेरा यही लक्ष्य है? और इस लक्ष्य की प्राप्ति के बाद यह दौड़ क्यों खत्म नहीं होती? विश्राम क्यों नहीं मिलता? इत्यादि–इत्यादि। अपने आनन्द स्वरूप से बिछुड़ कर, उस आनन्द की प्राप्ति के लिए न जाने हम जन्म–जन्मान्तरों में कहाँ–कहाँ भटकते रहते हैं,

कितना कुछ प्राप्त करते हैं, खोते हैं, लड़ाईयाँ–झगड़े उत्पन्न होते हैं, मार–काट होती है। अशान्त, उत्पन्न होते हैं और अशान्त ही मर जाते हैं। सारा जीवन अशान्ति में ही बिता देते हैं। चन्द भौतिक प्राप्तियों को हम अपने जीवन की उपलब्धियाँ कहते हैं। लेकिन कोई महामानव जब सत्यतापूर्वक इन तथाकथित प्राप्तियों पर एकाग्र करता है, ध्यान करता है, विचार करता है तो उसे मालूम चलता है कि वह कुछ और खोजना चाहता है और खोज कुछ और रहा है। क्या खोया है, क्यों खोया है और कहाँ खोया है? यह हृदय को झुंझला देने वाले प्रश्न हैं। इन प्रश्नों का उत्तर पाना चाहता है वह, और उनका उत्तर पाना ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। ऐसे महा–मानव को जिज्ञासु की संज्ञा देते हैं। जीवन की धाराएं बदल जाती हैं, लक्ष्य बदल जाते हैं, उद्‌देश्य बदल जाते हैं और जीव की हर वस्तु की परिभाषा बदल जाती है।

अपने वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह अपनी सर्वोत्तम बुद्धि द्वारा, एक–एक वस्तु का विश्लेषण करता है, कि क्या आनन्द इन वस्तुओं में है? क्या समस्त इन्द्रियों के भोगों में आनन्द है? यह आनन्द क्या है? जहाँ पर मानव मन रुक जाता है कुछ समय के लिए, उस स्थिति को कहा है–**आनन्द**। **वास्तविक दृष्टि से देखा जाये, तो आनन्द हमारे भीतर की वस्तु है। जब तक हमारे भीतर आनन्द नहीं होता, तब तक हम किसी भी बाह्य सुख, बाह्य प्राप्ति का आनन्द नहीं ले सकते।** इस परम सत्य की भ्रान्ति हो जाने पर मानव को बाह्यमुखी प्रवृत्ति का बढ़ावा मिल गया है। वस्तुओं में आनन्द चाहते हैं हम, भ्रमित हो चुका है सारा विश्व।

यहाँ मै एक विशेष तथ्य का उल्लेख करना चाहूँगा, कि भ्रम की स्थिति कब होती है? मान लीजिए, कि एक टेढ़ी–मेढ़ी रस्सी पड़ी है। यदि अति अंधकार है तो वह रस्सी दिखाई नहीं देगी, वहाँ पर कोई भ्रम नहीं होगा और यदि अति प्रकाश है, तो उस समय हमें वह रस्सी दिखाई दे जाएगी और उसके वास्तविक स्वरूप का मालूम चल जाएगा, कोई भी भ्रम नहीं होगा। तो भ्रम कब होता है? जब न प्रकाश होगा, न अंधकार होगा, उस समय वह रस्सी हमें साँप सी लगने लगती है। एक भ्रम पैदा हो जाता है।

अतः जो मानव अति अज्ञानी है, अंधकार है जिनके हृदय में, उनको इस संसार में कोई भ्रम नहीं होता। उनकी जो धारणाएं है, वह उन्हीं धारणाओं में विचरते हैं। उनके आनन्द की परिभाषा अलग होती है। पशुवत् जीवन होता है उनका और जो मानव परम ज्ञानी है, जहाँ ईश्वर की विशेष कृपा है उनको भ्रम नहीं होता और वह सत्य व असत्य का निर्णय कर लेते हैं। वास्तविक और भ्रमित स्वरूप का ज्ञान होता है उनको। वे संसार के इन आडम्बरों में, दिखावे में और इस दौड़–धूप में भ्रमित नहीं होते, वे ठहर जाते हैं और अपने वास्तविक भीतरी आनन्द का रसास्वादन करते हैं। जीवन की विभिन्न क्रियाएं उनका लक्ष्य नहीं होतीं, उनकी लीला हो जाती हैं। वे भी खेलते हैं लेकिन इस खेल में बँधते नहीं है।

वास्तविकता का आभास होने पर वे खेल जीवन का लक्ष्य नहीं रहते, मात्र खेल बन जाते हैं जिनको हम आनन्द में खेलते है, आनन्द के लिए नहीं खेलते। यह बात बहुत विचारणीय है। जब हम किसी भी भौतिक और सांसारिक कर्म को आनन्द के लिए करते हैं, तो समझिए, कि हम भौतिक जगत में विचर रहे हैं। कोई भी कर्म या कोई भी सांसारिक उपलब्धि या प्राप्ति जब हम आनन्द के लिए करते हैं, तो निश्चित मान लीजिए कि उससे हमको कोई आनन्द नहीं मिलेगा और जब हम यह कर्म आनन्द में करते हैं, तो उस कर्म का आरम्भ, मध्य और अन्त तीनों आनन्दमय होते हैं और जीवन आनन्दमय हो जाता है। हमारा जीवन एक आनन्दमय खेल बन जाता है जिसको हम आनन्दमय मानसिक स्थिति से खेलते हैं। हमारा कोई बन्धन नहीं रहता और न वो हमारे जीवन के किसी पहलू को बांधने की क्षमता रखता है।

मानव जीवन एक ईश्वरीय देन है। जिसका एकाधिकार उस सर्वशक्तिमान परमात्मा के हाथों है। यह नितांत सत्य है कि इस संसार में जो उत्पन्न हुआ है, जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। जीवन की यह लीला कहाँ समाप्त हो, कैसे समाप्त हो और कब समाप्त हो? इसको कोई नहीं जानता। इस सत्य को जानने के बाद इस जीवन में खेला हुआ प्रत्येक खेल हमारे लिए मात्र खेल बन जाता है। खेल तो बस खेल है, हार और जीत इसके दो पहलू हैं। तो जो अच्छे खिलाड़ी हैं, वे बस खेल का आनन्द लेते हैं, बल्कि वह खेल को

आनन्द देते हैं। इस प्रकार हम कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि उस परमात्मा ने हमको इस जगत में केवल एक ही कर्म के लिए भेजा है और वह है कि मानव अपनी समस्त शारीरिक, मानसिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों से पुनः–पुनः यह विचार करे, कि इसके हाथ में न कुछ है, न कुछ था और न कुछ होगा। यदि हम सुबह सवेरे उठकर, एकान्त स्थान पर बैठकर अपने अतीत पर विचार करें, तो हम पाएंगे, कि तब से आज तक घटी विशिष्ट घटनाओं में, हमारी बुद्धि की योजनाओं की या हमारी शारीरिक, मानसिक शक्तियों की कुछ भी भूमिका नहीं थी। वे घटनाएं स्वयं घटी है। हम मात्र निमित्त होते हैं।

जब कोई विशेष घटना जीवन में घटनी होती है, तो स्वतः ही उसकी परिस्थितियाँ बनती हैं और मानव मात्र निमित्त बनकर उसमें भूमिका निभाता है लेकिन अज्ञानवश हम स्वयं को कर्ता मान लेते है। **जहाँ हम अपने को कर्त्ता मान लेते हैं तो हमें उसका भोक्ता भी बनना पड़ता है।** तभी जीवन में कष्ट आते हैं, कठिनाईयाँ आती हैं। जब हम कुछ खो देते हैं तो उसको हम अपने बुरे कर्मों की और जब हमें कुछ सद् उपलब्धियां होती हैं, तो इसको हम अच्छे कर्मों की संज्ञा दे देते हैं। यही हमारा धर्म है। जीवन का प्रत्येक पहलू, प्रत्येक श्वास, जन्म से लेकर मृत्यु–पर्यन्त कुछ भी हमारे हाथ में नहीं है।

यदि हम अति प्रयत्नपूर्वक, नित्याध्यासन पूर्वक इस सत्य को आत्मसात कर लें, तो शायद विशिष्ट प्रभु कृपा से, इष्ट कृपा से, आत्म–कृपा से हम इस परम रहस्य को, परम सत्य को पकड़ पाए और जीवन अति आनन्दमय हो जाए। यह जप, तप, पूजापाठ, ध्यान, चिन्तन, समाधि आदि क्यों की जाती है? केवल इस बात को दृढ़ता से जानने के लिए कि जिस आनन्द की हम बाह्य जगत में खोज कर रहे हैं वे हमारे भीतर की वस्तु है। वह हमारा स्वरूप है। जब हम अपने स्वरूप को पा लेते हैं तो उसके बाद समस्त जप–तप, बड़े–बड़े अनुष्ठान यज्ञ–हवन, ये सब निरर्थक लगने लगते हैं, गौण हो जाते हैं। इनका करना भी मात्र एक खेल ही हो जाता है।

अत. हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **इस जगत में आने के बाद, जन्म लेने के बाद और मृत्यु तक, जो अकारण और निरर्थक दौड़ और उससे**

उत्पन्न तनावमय जीवन हम जीते हैं, उससे छुटकारा पाने का एकमात्र साधन अपनी वास्तविक स्थिति, जो हमारा अपना भीतरी आनन्द है, उसको अपने भीतर से पाने की चेष्टा करना है। उसके बाद हमारे जीवन की धाराएं बदल जाती है। यही आत्मानुभूति है।

।। जय जय श्री राम।।

कर्म व कर्म की गतियाँ

यह एक बहुत विचारणीय एव अति जटिल विषय है, जो युग–युगान्तरों से मानव के हृदय एवं मस्तिष्क के लिये एक विचार का हेतु बना हुआ है, जिसकी थाह पाना यदि असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य है, यह विषय है–**कर्म**। कर्म क्या है? कहाँ से इसका प्रारम्भ होता है? इसका मध्य क्या है? इसका अन्त कहाँ होता है? मानव जब इस संसार में पैदा होता है, तो होश सम्भालते ही कुछ न कुछ करने लगता है और यह प्रक्रिया उसकी मृत्यु तक निरन्तर चलती रहती है। यदि. कर्म को परिभाषित करें, तो मेरे विचार से **प्रत्येक मानसिक, बौद्धिक अथवा शारीरिक प्रक्रिया, जिसके अस्तित्व को मानव मन मान्यता देता है, उसका नाम है 'कर्म'।**

'प्राप्य की प्राप्ति' अध्याय में मैने बताया था, कि जब जीव उत्पन्न होता है तो उसके सम्पूर्ण जीवन की रूप रेखा पहले से ही बनी होती है। उसको प्रारब्ध कह दीजिए अथवा भाग्य कह दीजिए। उसी रूप रेखा के अनुसार जीवन शुरु होता है, चलता है और जीवन का अन्त होता है। यह जो रूप रेखा मैं वर्णन कर रहा हूँ, इसमें विचारणीय विषय यह है कि क्या इस जन्म की रूप रेखा हमारे पूर्व जन्मों के कर्मो अथवा उन कर्मो द्वारा उत्पन्न वृत्तियों के परिणाम पर आधारित है? बहुत सोचने का विषय है कि प्रत्येक कर्म को जब हम करते हैं, तो उस कर्म की समाप्ति के बाद एक विशेष मानसिक स्थिति बनती है और उस स्थिति का बनना इस पर निर्भर करता है कि उस कर्म से हमारी कैसी वृत्ति बनी? यद्यपि कर्म का आरम्भ भी किसी वृत्ति का ही प्रभाव होता है। तो मृत्यु के समय जीवन भर के किये हुए कमी द्वारा हमारे अन्तकरण पर जो एक अन्तिम परिणाम इन वृत्तियों का अंकित हो जाता है, उसी के अनुसार हमको अगला जन्म मिलता है।

प्रश्न यह उठता है कि कर्म महत्त्वपूर्ण है या वृत्ति? अति विचार द्वारा इसका विश्लेषण किया जाए, तो हम देखते हैं कि **किसी भी कर्म का उतना महात्म्य नहीं होता, जितना उस कर्म के पीछे वृत्ति का महात्म्य होता है, जिस वृत्ति से वह कर्म किया जा रहा है और उस कर्म की समाप्ति के बाद जिस वृत्ति से उस कर्म को किया गया है, वही फलीभूत होती है।** आने

वाले जीवन की रूपरेखा, वो वृत्ति ही निर्धारित करती है। प्रश्न यह उठता है कि मानव वृत्तियों के बनने के लिये क्या कर्म आवश्यक है? यहाँ मै अपना अनुभव आपके सम्मुख रख रहा हूँ, कि किसी विशेष कृति के बनने के लिए कर्म की कोई विशेष भूमिका नहीं होती। मानसिक एकाग्रता द्वारा भी कोई वृत्ति उत्पन्न की जा सकती है। कई बार ऐसा देखने में आता है, कि कुछ मानव, जीवन भर अति व्यस्त रहते हैं और अनन्य प्रकार के शुभ कर्म करते हैं। तो अति शुभ कर्म करने के बावजूद भी वह कष्टों का सामना करते हैं।

यह हम अपने जीवन का विश्लेषण करें, तो हम पाएंगे, कि इन कर्मों के आकार एवं प्रकार से इनके परिणाम की गणना करना अति कठिन है। कई बार ऐसा देखा गया है, कि किसी विशेष कर्म को हम किसी अन्य के लिए करते हैं, लेकिन उसका फल कोई दूसरा भोगता है या **किसी विशेष भाव से हम किसी कर्म को करते हैं और कर्म की समाप्ति के बाद वही कर्म किसी अन्य भाव से जाना जाता है या किसी कर्म को हम एक विशिष्ट मात्रा में फल की इच्छा से करते हैं, लेकिन उस कर्म की समाप्ति के बाद, उसका फल उससे असंख्य गुणा अधिक हो जाता है अथवा उससे बहुत कम हो जाता है।** कभी–कभी कर्म कोई और करता है, फल कोई दूसरा भोगता है। तो कर्म के अथाह रूप है।

कभी कर्म कोई और करता है और उसके फल का श्रेय अथवा अपयश किसी दूसरे को मिल जाता है। कभी हम किसी कर्म द्वारा संसार को जताना कुछ और चाहते हैं, लेकिन कर्म की समाप्ति के बाद उसका रूप कुछ और हो जाता है, अर्थ कुछ और हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी कर्म पर यदि हम अति गम्भीरता से विचार करें, तो उसके करते समय, उसके परिणाम की गणना कर पाना किसी भी मानव बुद्धि के लिए अति जटिल एवं कठिन कार्य है। हम सोच कर कुछ और चलते है, मिल कुछ और जाता है लेकिन फिर भी हम कर्म करते हैं, कुछ न कुछ हम करते हैं। आज की इस विवेचना के पीछे मेरा गम्भीरतम तात्पर्य यह है, कि क्या कोई ऐसा रास्ता है कि जीवन भर में हमारे द्वारा किए गए कर्मों को कुछ ऐसा पुट मिल जाए, ताकि यही

कर्म अति गुणात्मक हो जाए और समय निरर्थक व्यर्थ न हो।

हम लोग कर्मों के बन्धन में उलझे रहते हैं। जब किसी के जीवन में कुछ अच्छी उपलब्धि हो जाती है, तो हम उसको सौभाग्यशाली मानते हैं, लेकिन जब किसी व्यक्ति के जीवन में अति कठिनाइयाँ आती हैं, कष्ट आते हैं तो हम उसके दुष्कर्मों का, बुरे कर्मों का प्रभाव मानते हैं। इन सबके पीछे सत्यता क्या है? इसकी हमें अवश्य जानना होगा। इस कर्म–बन्धन के पीछे छूट कैसी है? हमारे अन्तः करण पर इन कर्मों की जो छाप पड़ चुकी है, अच्छी या बुरी, उससे हम छुटकारा कैसे पा सकते हैं? यदि हम वास्तव में विचार करके देखें, तो पूरा महाब्रह्माण्ड उस एक सर्वशक्तिमान ईश्वरीय सत्ता के आदेश से एवं शक्ति से चल रहा है। उसी शक्ति से हम प्रेरित होते हैं, निर्देशित होते हैं और हम कुछ विशिष्ट कर्मों की तरफ चल पड़ते हैं व उनको करते हैं। **यद्यपि कोई भी कर्म इस महाब्रह्माण्ड में बिना ईश्वर के आदेश के और इच्छा के नहीं होता, लेकिन अज्ञानतावश हम कर्मों का स्वयं को कर्त्ता मान लेते हैं। जब हम किसी कर्म के कर्त्ता बनते हैं तो निश्चय जान लीजिए कि उसका भोक्ता भी हमको बनना पड़ता है। जहाँ हम कर्त्ता बनेंगे तो उसका भुगतान भी हमको ही भुगतना पड़ेगा, यह एक निश्चित सत्य है।**

इस कर्मबन्धन से मुक्ति के तीन उपाय (प्रथम सस्करण, अध्याय–4) आपके सम्मुख रखे थे। **पहला,** हम किसी भी कर्म से अपने कर्त्ताभाव को हटा दें और समस्त कर्मों को हृदय से, मन से, आत्मा से, ईश्वर के निमित्त कर दें कि, 'प्रभु, यह सारे कर्म आप ही ने किए है, आप ही ने करवाए है।' **दूसरे,** किसी भी शुभ, अशुभ, अच्छा, बुरा, पुण्य, पाप, यज्ञ, हवन, जप, तप, दान, पुण्य इत्यादि **समस्त कर्मों से छुटकारा पाने के लिए हम इन समस्त कर्मों को ईश्वर को समर्पित कर दें कि, "प्रभु, यह सब कुछ आप ही की इच्छा से हो रहा है।" तो जितनी गहनता से हम यह समर्पण भाव उत्पन्न कर लेते हैं, उतना ही शीघ्र हम इस कर्म–बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।** अथवा हमारे द्वारा किए या हुए प्रत्येक कर्म को हम स्वीकार कर लें, भले ही उसकी रूप रेखा कैसी भी हो और अपने इष्ट, उस सच्चिदानन्द ईश्वर के सम्मुख जब हम यह

मान लेते हैं तो भी हम कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

तीसरा, कर्मों से छूटने की विधि जो कि बहुत कठिन है कि हम अपनी खुदी को, अपने आप को इतना ऊँचा कर लें कि ईश्वरीय स्तर पर आ जाए तो हमारे द्वारा किए हुए या हमारे द्वारा हो चुके प्रत्येक कर्म के बन्धन से हमको मुक्ति मिल जाती है।

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले,
खुदा बंदे से खुद पूछे, बता तेरी रज़ा क्या है?

जैसा कि मैं कर्म की परिभाषा में वर्णन कर चुका हूँ, कि **किसी भी मानसिक, बौद्धिक एवं शारीरिक प्रक्रिया को जब हमारा मन मान्यता देता है, तो वह कर्म बन जाता है।** यदि विचार कर देखें, इस पूरे महा–ब्रह्माण्ड की संरचना को, तो हम देखते हैं, कि उस परम पिता परमात्मा ने इसकी अति भव्य रचना की है। पशु, पक्षी, कीट, पतंगे, नदियॉ, समुद्र, वन, पर्वत, असंख्य वनस्पतियाँ और मानव देह, असंख्य खनिज, पूरा ब्रह्माण्ड और आकाश, करोड़ों नक्षत्र और न जाने क्या–क्या रचा है उस प्रभु ने। जिसको देखकर हम मात्र वाह–वाह कह सकते हैं। असीम है उसका दृष्टिकोण,जिसकी हम अपनी सीमित बुद्धि और विचारों से पूर्ण प्रशंसा भी नहीं कर सकते।

विचार कर देखिए, जंगली जानवर, समुद्री जन्तु, पशु, पक्षी अपने भोजन, अपने निवास, रहन–सहन, और अन्य प्रक्रियाओं का अपनी बहुत सीमित बुद्धि से ही काम चला लेते हैं, लेकिन हम मानव उन्हीं प्रक्रियाओं के लिए, उन्हीं चीज़ों की प्राप्ति के लिए अपनी समस्त प्रखर बुद्धि का दुरुपयोग करने लगे हैं। हमने अपनी बुद्धि का दुरुपयोग न केवल सब साधनों को जुटाने में, बल्कि उनके संग्रह तक में करना शुरू किया और अपने आपको हम कर्मयोगी कहलाने लगे। अपनी कर्मण्यता का झूठा प्रदर्शन करने लगे, उन वस्तुओं के लिए, जिनके लिए पशु–पक्षी और जानवर भी परवाह नहीं करते।। यहाँ से आरम्भ हुई हमारे दुखों और हमारे कष्टों की कहानी। यदि मुझ से कोई सच पूछे, तो 19 वर्ष हिमालय में रहने के बाद और प्रभु की असीम कृपा से इस चिन्तन के बाद मैं एक ही बात कहूंगा, कि मानव बुद्धि का सुन्दरतम् उपयोग यही है, कि हम प्रभु की लीला की,

प्रभु द्वारा निर्मित इस सृष्टि को देखें, सुनें, स्पर्श करें, उसका रसास्वादन करें और उसकी प्रशंसा करें। आज सारा विश्व कष्ट भोग रहा है। शायद इसलिए कि हम अपने उस परम सच्चिदानन्द स्वरूप, उस ईश्वरीय सत्ता से विमुख हो गए हैं। कहाँ से कहाँ पहुँच गया है मानव! लेकिन स्वयं से दूर हो गया है, अपने आप से बहुत दूर हो गया है, अपनी धुरी से परे हट गया है और उतना ही विक्षिप्त हो गया है।

जितने भी कर्म हमारे द्वारा होते हैं, उनमें वास्तविक कर्म वही है, जो दैवीय प्रेरणा से होते हैं। वही ईश्वरीय कर्म हैं। यदि हम बहुत ध्यान से मनन करें, तो जो कार्य स्वयं होते है, **स्वतः–भाव में, उन कार्यों के प्रारम्भ में, उनके मध्य में हमें आनन्द का अनुभव होता है और वे कार्य आनन्द में ही समाप्त होते हैं। जब प्रारम्भ, मध्य और अन्त के तीनों आनन्द मिल जाते हैं, तो निश्चित समझ लीजिए, कि वे कार्य ईश्वरीय इच्छा से हुआ है** और जो कार्य जीव इच्छा से होता है, उसमें इन तीनों आनन्दों में से कम से कम एक आनन्द से हम वंचित रह जाते हैं। तो मानव बुद्धि या जीव इच्छा से किया गया कार्य भले ही अपना फल दे जाए, भले ही उसमें सफलता मिल जाए, लेकिन उस कार्य के फल का हम आनन्दपूर्वक भोग नहीं कर सकते।

तो ऐसा हम क्या करें जिससे हमारे द्वारा किया हुआ मानसिक, बौद्धिक अथवा शारीरिक कर्म ईश्वरीय बन जाए। यहीं हमें सतर्क रहना होगा। यदि हम विचार करके देखें, तो प्रत्येक कार्य की एक इच्छा होती है और उसके हम स्वयं इच्छुक होते हैं। इच्छा एवं इच्छुक होने के बाद एक इच्छापूरक शक्ति उस कार्य को पूरा करती है अथवा करने का प्रयत्न करती है। तो तीसरा हुआ इच्छापूरक और कार्य की समाप्ति के बाद, चौथा जो पहलू है, उसका नाम है इच्छाफल। तो **इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल यह किसी भी कार्य के, किसी भी कर्म के चार अंग हैं।** अक्सर जीव बुद्धि में आकर हम स्वयं इच्छुक बन जाते हैं और स्वयं इच्छुक बनने से जो इच्छा उत्पन्न होती है, उसे हम अपनी स्वयं को इच्छा मान लेते हैं और उस इच्छा की पूर्ति के लिए हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं। अर्थात् हम परमात्मा को अपने द्वारा उत्पन्न हुई इच्छा का,

इच्छापूरक मान लेते हैं, तो अक्सर हम देखते हैं कि हमारी बहुत सी इच्छाएं अधूरी रह जाती हैं और इस स्थिति में यदि वे पूर्ण भी हो जाए, यदि कार्य सफल भी हो जाए, तो अक्सर हम उसके इच्छाफल से असन्तुष्ट ही रहते हैं।

आपने कई बार देखा होगा कि कुछ ऐसे कार्य जिनकी बहुत वर्षों से इच्छा हमारे हृदय में बनी रहती है, जब पूर्ण हो जाती है तो कई लोग यह कहते देखे गए हैं कि उफ! यदि इच्छा पूर्ण न होती, यह कार्य न ही होता तो अच्छा था। इच्छाफल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। **यदि हम किसी कार्य के चारों अंग ईश्वर निमित्त कर दें कि, "हे प्रभु, आप ही मेरे हृदय में इच्छुक बन कर बैठे हैं, आप ही इच्छा है, इसके इच्छापूरक भी आप ही हैं और इसके पूर्ण होने पर जो फल होगा– इच्छा का फल वो भी आप ही हैं, तो देखिए, कितना आनन्दमय जीवन बन जाएगा।**

यदि उस कार्य की इच्छा और इच्छुक भी हम उस ईश्वर को मान लें, जो वास्तव में सत्य है, बिना उसकी इच्छा के और बिना उसके इच्छुक बने, हमारे में किसी कार्य की इच्छा भी उत्पन्न नहीं हो सकती। तो मानव बुद्धि के दुरुपयोग के कारण हम स्वयं इच्छुक और इच्छा बन जाते हैं। यदि हम इन दो आधारभूत बिन्दुओं को, इच्छा और इच्छुक को भी ईश्वर के निमित्त कर दें, तो उस कार्य की सफलता की हमें चिन्ता नहीं होगी। यदि वह कार्य सफल हो जाता है, तो उसका इच्छाफल हमारे लिए बहुत आनन्दायक होगा और यदि कार्य असफल होता है तो भी उसमें कोई आनन्दमय रहस्य ही होगा।

किसी भी कर्म की गुणवत्ता को, गुणात्मकता को हम किस प्रकार अधिक से अधिक बढ़ा सकते हैं? इसके लिए उस कार्य के, उस कर्म के प्रत्येक अंग को हम ईश्वर निमित्त कर दे। हमारी बुद्धि की, हमारे शरीर की एक सीमा है। हमारी शक्तियों की एक सीमा है, लेकिन ईश्वरीय शक्तियाँ असीम हैं। यदि हम इस सीमित को उस असीम में समाहित कर दें, तो हमारे द्वारा किए गए कार्य भी अपने में असीम फलदायक हो जाएंगे, जिसकी हम परिकल्पना भी नहीं कर सकते। उदाहरण के लिये जब एक विद्यार्थी, विद्या ग्रहण के लिए बैठता है और पढ़ने से पहले यदि वह केवल एक दो मिनट इस भाव में लगा दे कि,– हे प्रभु!

आप ही शिक्षा हैं, आप ही शिक्षार्थी हैं, आप शिक्षक हैं और आप ही शिक्षाफल हैं और एक परीक्षार्थी परीक्षा देने से पहले जब वह एक धारणा बनाकर बैठता है कि, "हे प्रभु, आप ही परीक्षा हैं, आप ही परीक्षार्थी हैं, आप ही परीक्षक हैं, आप ही परीक्षाफल हैं' तो इस अवधारणा से जब कोई विद्यार्थी विद्या ग्रहण करता है और परीक्षा देता है, तो उसका परिणाम बदल जाता है, भले ही वह विद्यार्थी साधारण अंक लेकर उत्तीर्ण हो। लेकिन जब वे वास्तविक जीवन में प्रवेश करते हैं, तो उनका परिणाम विलक्षण होता है। बहुत निपुण विद्यार्थी अपने तुच्छ अहम् के कारण जीवन की दौड़ में बहुत पीछे रह जाते हैं, न केवल विद्या के क्षेत्र में, जीवन के अन्य क्षेत्रों में, कारोबार में, व्यवसाय में और किसी भी क्षेत्र में यदि हम अपने द्वारा कर्मों को ईश्वर निमित्त करके चले, तो हम देखते हैं, कि जीवन का परिणाम अति–विशिष्ट हो जाता है, जो मानव बुद्धि की कल्पना एव गणना से बहुत परे होता है।

वास्तव में कोई भी गति, कार्य, कोई भी क्रिया बिना ईश्वर इच्छा के होती ही नहीं है, लेकिन दुर्भाग्यवश उसको हम अपना कर्म मान लेते हैं। इसी प्रकार जैसा कि मै पहले वर्णन कर चुका हूँ, कि कर्मों के साथ–साथ हम कई कर्त्तव्यों का बोझ भी ढोने लगते हैं। भला विचार करके देखिए, **यदि कोई कर्म जगत में हमारे बिना भी हो सकता है, तो वह हमारा कर्त्तव्य कैसे हो सकता है?** बहुत विचारणीय प्रश्न है। आज हम अपने कष्टों का, दुखों का, मूल कारण स्वयं हैं। जन्म–जन्मान्तरों से हम निरर्थक बोझ ढोते आ रहे हैं, बँधे से हैं हम अपने कर्मों व कर्त्तव्यों की श्रंखलाओं से। एक विचार द्वारा हम इस बन्धन से, अभी इसी समय छुटकारा पा सकते हैं, यदि हम पाना चाहें तो। '**जीवन**' ईश्वर ने एक आनन्दमय रचना की है और आनन्द के लिए दिया है। जो स्वयं सच्चिदानद है, वह संसार में कष्ट क्यों देंगे? यह एक सकारात्मक दृष्टिकोण है, जो सत्य है।

संसार में जितने भी कष्ट हैं, दुख हैं, वे हमारी मानव बुद्धि की उपज हैं। स्वयं को जब हम कर्त्ता मान लेते हैं, तो वहाँ से शुरु होते हैं सारे कष्ट। मानव के जन्म से लेकर, जब से वह होश सम्भालता है और मृत्यु–पर्यन्त, कुछ न कुछ

कर्म चलते ही रहते हैं मानसिक, बौद्धिक एव शारीरिक। मानसिक और बौद्धिक कर्मों का प्रगटीकरण होता है देह में, परन्तु यह आवश्यक नहीं है। बहुत से कर्म ऐसे हैं, जो कि मानव बुद्धि एवं मन तक ही सीमित रह जाते हैं। मानव के संस्कारों के निर्माण में कौन से कर्म महत्त्वपूर्ण हैं? मानसिक कर्म। पूरे जीवन काल के कर्मों की पृष्ठ भूमि माँ के गर्भ मे ही निर्धारित हो जाती है।

जैसा कि मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ, कि लगभग पाँचवे महीने के गर्भ में, जीव का प्रवेश होता है और उसके साथ ही पूर्व जन्मों के संचित सस्कारों का भी। प्रत्येक संस्कार के साथ जीव अनेक विधाएँ लेकर आता है। अगर इन विधाओं को, इन वृत्तियों को, इन संस्कारों को श्रेणीबद्ध किया जाए, तो उसमें कुछ निन्म संस्कार होते हैं, कुछ तीव्र होते हैं और कुछ तीव्रतम होते हैं। अनुभव से ऐसा देखा गया है, कि शिशु के जो तीव्रतम संस्कार हैं और तीव्रतम वृत्तियाँ हैं, उनके अनुसार वह माता के गर्भ में ही परिस्थितियों का निर्माण करना प्रारम्भ कर देता है। आप में से बहुत लोगों ने यह देखा होगा, कि कुछ शिशुओं के गर्भ में आते ही घर की, समाज की, देश की और यहाँ तक कि विश्व की परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। यह निर्भर करता है कि वह उत्पन्न होने वाला बालक जो अभी गर्भ में ही है, उसके विशिष्ट तीव्रतम संस्कार कौन से हैं? उन संस्कारों का और उन वृत्तियों का अच्छा या बुरा होना एक अलग चीज़ है। उसके बाद विशिष्ट समय के अनुसार बालक की उत्पत्ति होती है और उसके उत्पन्न होने के समय एक विशिष्ट वातावरण होता है, जिसको मानव बुद्धि द्वारा जाँचा नहीं जा सकता। घर का एक विशेष वातावरण होता है।

अति सूक्ष्म दृष्टि से यदि उसका अध्ययन किया जाए, तो बालक के जीवन काल की रूप–रेखा का कुछ थोड़ा बहुत आभास अवश्य हो जाता है। प्रश्न यह उठता है, कि उस बालक के प्रति माता–पिता का कर्त्तव्य क्या है? यदि शिशु में कुछ विशेष बुरी वृत्तियों के मन संस्कार है, उनको समाप्त करने के लिए या अच्छी ओर मोड़ने के लिए यदि घर में अति भव्य और पवित्र वातावरण का निर्माण किया जाए, तो अवश्य उस बालक के निन्म कोटि के मन्द संस्कार अशक्त हो जाएगे अथवा समाप्त हो जाएंगे।

यहाँ एक बात मै विशेष रूप से कहना चाहता हूँ कि जब बालक माँ के गर्भ में होता है उस समय उसकी ग्रहण करने की शक्ति अति तीव्र होती है, जिसको प्रायः लोग अनदेखा कर देते हैं। उस समय जो घर का वातावरण होगा और माँ का जो मानसिक वातावरण होगा, यद्यपि वह भी बालक के विशिष्ट संस्कारों द्वारा प्रभावित हो जाता है, फिर भी यदि प्रयत्न द्वारा उन दिनों माँ के मानसिक वातावरण को शुद्धतम किया जाए, तो उसका शिशु के कोमल मानस पटल पर बहुत सुन्दर प्रभाव पड़ता है। यह एक नितान्त दार्शनिक सत्य है, जो अकाट्य है। चिकित्सा विज्ञान और चिकित्सा वैज्ञानिकों द्वारा इस सत्य की थाह नहीं पाई जा सकती।

ध्यान द्वारा और ईश्वर की विशेष कृपा से इस सत्य का दिग्दर्शन किया जा सकता है। जो लोग यह चाहते हैं कि उनके शिशु असाधारण हों, वे उनके परिवार के लिए, समाज के लिए और देश के लिए रत्न हों, तो बालक की क्रियाओं पर अति सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें। इससे उस बालक के जीवन की रूप रेखा का हमको हल्का सा दिग्दर्शन अवश्य हो जाता है। यदि उसके विशिष्ट और तीव्रतम संस्कारों और वृत्तियों का हमको थोड़ा बहुत आभास हो जाए तो हमें माता–पिता होने के नाते उस बालक को वह वातावरण अवश्य प्रदान करना चाहिए। यद्यपि वह उस वातावरण पर निर्भर नहीं होता। वह किसी भी वातावरण में से, किसी भी परिस्थिति से अपने अनुकूल परिस्थितियों को स्वयं चुन लेता है। रही बात सामान्य संस्कारों की और मन्द संस्कारों की, वे संस्कार, अनुकूल परिस्थितियों न पाकर अति मन्द हो जाते हैं या विलीन हो जाते हैं।

हमारा यह सब कुछ कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मों की पृष्ठ भूमि बालक स्वयं लेकर आता है। उसको कुछ सिखाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसके अनुसार उसके जीवन काल में विशिष्ट समय पर, विशिष्ट प्रकार के कर्मों की जागृति हो जाती है अनुकूल परिस्थितियों के अनुसार। यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है, कि इन कर्मों के प्रगटीकरण का कोई क्रम नहीं होता। इसका मानव बुद्धि के उस समय के स्तर से भी कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता। यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि बहुत छोटी आयु के बालक बहुत बड़े

बुर्जुगों की तरह व्यवहार करने लगते हैं तो एक अगाध गति है कर्म की। मानव देह धारण करने के बाद कर्म तो चलेंगें ही, कर्मों की श्रंखला को तो रोका नहीं जा सकता न ही जागृत अवस्था में, और न ही स्वप्न अवस्था में। तो कौन से कर्म ऐसे हैं, जो बंधन का हेतु बनते हैं और कौन से कर्म ऐसे हैं जो छूटने का हेतु बनते हैं, जो हमारी मुक्ति का कारण बनते हैं, जो हमारे जीवन को बन्धन रहित बना देते हैं?

इसमें तीन बातों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है, जो अपने अनुभव से हम आपको बता रहे हैं—कोई भी कर्म जब स्वतः भाव से हो, जिस कर्म को करने के लिए हमें पहले कोई योजना न बनानी पड़े, अनुकूल परिस्थिति में एक विशिष्ट वातावरण में एक विशिष्ट समय पर कोई कार्य स्वयं आनन्द में प्रारम्भ हो जाए, आनन्द में चले और आनन्द में ही विलीन हो जाए और उस कार्य का प्रारम्भ, मध्य और अन्त कोई भी हमारी ईश्वरीय आराधना या उपासना में बाधा न बनें, बल्कि सहायक बनें। उस सच्चिदानन्द स्वरूप हमारे इष्ट और हमारे बीच उस कार्य का कोई भी संकल्प—विकल्प हमारे सम्मुख न आये। तो यदि यह तीन बातें सत्य हो जाएं, तो समझिए वह **कार्य ईश्वरीय** है और वह हमारे बन्धन को छुड़ाने का हेतु है, हमारे मोक्ष का कारण है भले ही यह कार्य कुछ भी हो।

दूसरी ओर, जिस कार्य को करने के लिये हमें विशिष्ट योजनाएँ बनानी पड़े और कार्य की पूर्ति के लिए कई बार हमको दुविधाएँ, विपत्तियाँ और बाधाएं देखनी पडें और जिस कार्य का अन्त तीनों में से एक आनन्द या एक से अधिक आनन्दों को खोकर हो और जो कार्य भले ही सफल भी हो जाए, उसकी सफलता हमारे इष्ट चिन्तन में बाधा बन जाए, तो वह कार्य **जीवीय कार्य** है, मानविक कार्य है। वह हमारे बन्धन का हेतु आज नहीं तो कल अवश्य बन जाएंगे। **यह दो विशिष्ट अन्तर है—कि जीवन में किए गए कार्यों के द्वारा किस प्रकार हम बन्धन—मुक्त होते है या बन्धन—युक्त होते हैं।**

हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है यह हमको मालूम होना चाहिए। हम बार—बार जन्म लेते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं, क्योंकि संसार में जब कोई आता है तो जाता अवश्य है। क्यों जीते हैं हम। जन्म इसका अर्थ क्या है? यह

बार–बार जन्म लेने से हमको मिलता क्या है? हम अग्रसर कहाँ हो रहे हैं? यह हमको स्वयं निर्धारित करना है। कहीं हम जन्म दर जन्म बँधते तो नहीं चले जा रहे है? **जब हम पैदा होते ही अपने ऊपर अधिकारों व कर्त्तव्यों का बोझ या बोझ सा अनुभव करने लगते हैं, तो समझिए हम बँधते चले आए हैं।** कुछ देव पुरुष, देव मानव केवल लीला करने यही आते हैं, मनुष्य देह धारण करते हैं। उनको कर्त्तव्यों का भास नहीं होता। उनका हर कर्म एक लीला होती है, जो न केवल उनको मुक्त रखता है, वे तो मुक्त होते ही हैं, उनके सम्पर्क में आने वाले लोग भी प्रायः मुक्त से हो जाते हैं। वे लीला करने आते हैं जिस प्रकार कि अवतार, अंश–अवतार इस पृथ्वी पर कभी–कभी उतरते हैं। वे राजा बन कर जिए या रंक बनकर जिए, उनकी प्रत्येक क्रिया, उनका प्रत्येक कर्म एक लीला होती है। लीला और वास्तविक कर्म में यह अन्तर है कि **लीला में किये गये कर्म, बन्धनरहित होते है। उनका फल केवल आनन्द होता है और आनन्द के अतिरिक्त कुछ नहीं होता।** ऐसे युग पुरुष समय–समय पर इस भूमि पर, इस वसुन्धरा पर अवतीर्ण होते रहते हैं।

शुभ कर्म क्या है और अशुभ क्या है यह एक बहुत वाद–विवादों वाला विषय है, जो कि सदियों से मानव के मस्तिष्क को झझकोरता रहा है–कि अमुक कार्य अशुभ है, अमुक शुभ है, यह सुखद है, यह दुखद है, यह अच्छा है, यह बुरा है, इसका निर्णय होना भी बहुत आवश्यक है। कोई भी कर्म जो मोक्ष का हेतु है, कोई भी **ऐसा कर्म जिसको करते समय और जिसके करने के अन्त में हमारे और हमारे इष्ट के बीच दरार नही पड़ती, हमें अपने सच्चिदानन्द स्वरूप के चिन्तन, मनन, ध्यान इत्यादि में कोई बाधा नहीं पड़ती, वे समस्त कर्म शुभ हैं** और वे कर्म भले ही देखने में, सुनने में ईश्वरीय कर्म लगते हों, यदि उनको करने में, हमारे और हमारे इष्ट के बीच में बाधा आ जाती है तो वे हमारे लिए **अशुभ कर्म** हैं। परन्तु किसी कर्म को अशुभ की संज्ञा नहीं दी जा सकती। एक कर्म जो एक व्यक्ति के लिए अशुभ है, दूसरे व्यक्ति के लिए वह महा–शुभ भी हो सकता है। यह पूरा कर्म शास्त्र है जिसकी शास्त्र भी स्वयं थाह नहीं पा सका।

एक व्यक्ति द्वारा किया हुआ कर्म हो सकता है उसके लिए अशुभ हो और वही कर्म दूसरे के लिए शुभ हो। एक ही व्यक्ति द्वारा कोई किया हुआ कर्म एक परिस्थिति में अशुभ और दूसरी परिस्थित में वही कर्म उसके लिए महाषुभ हो जाता है। तो किसी कर्म को हम शुभ अथवा अशुभ नहीं कह सकते। उसकी परिस्थिति क्या है? व्यक्ति कौन है? स्थान क्या है? काल क्या है? देश क्या है? यह सारी बातें विचारणीय हैं। युद्ध भूमि में एक वीर द्वारा किसी वीर का वध वीरगति को प्राप्त होना कहलाता है और वह स्वर्ग या बैकुण्ठ का अधिकारी हो जाता है और अन्य परिस्थितियों में किसी व्यक्ति का वध, किसी व्यक्ति द्वारा उसके लिए पाप कर्म बन जाता है। इस प्रकार यह एक विशिष्ट और विस्तुत विषय है।

उस समय हमारी विचारधारा क्या है जो उस समय उस कर्म का निर्धारण करती है कि यह कर्म कैसा है? भले ही कोई कर्म स्वार्थ अथवा परमार्थ हेतु किए गए हैं, उनका एक ही प्रमाण है जो हम बता चुके है, कि **वह कर्म स्वतः भाव में हो और वह कर्म तीनों आनन्दों से युक्त हो। वह कर्म हमारे और हमारे इष्ट के बीच में किसी भी प्रकार की न्यूनतम बाधा न उत्पन्न करे।** वही कर्म हमारे लिए शुभ है, हमारे लिए एक लीला मात्र है, जिसका फल भी आनन्दमय होता है और ऐसे कर्म हमें बन्धन से मुक्त करा देते हैं। हम जीवन को आनन्दमय जीते हैं और हमारे जीवन का अन्त भी आनन्दमय होता है और पुनर्जन्म भी आनन्द में ही शुरु होता है।

हमें किसी कार्य की कभी प्रशंसा या आलोचना क्यों मिलती है? यदि तत्व दृष्टि से देखा जाए, तो मानव मन एक ही है। जब भी कोई विधा उत्पन्न होती है, तो उसकी परिपूरक विधा उसके साथ अवश्य जुड़ी रहती है। इसी प्रकार उस कर्म की भी एक परिपूरक विधा होती है। यह थोड़ा गहन विषय है। उस कर्म की परिपूरक विधा किस मानव में प्रकट होती है, यह बात कोई भी व्यक्ति तय नहीं कर सकता। इन अति विस्तृत मानसिक परिस्थितियों पर विचार करने के बजाय, यदि हम किसी भी कर्म को ईश्वर निमित्त मानकर चलें प्रारम्भ से ही, तो उसके फल का रसास्वादन कौन करता है, कौन नहीं करता, हमें इस पर

चिन्तन करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। हम उसके प्रत्येक पहलू का आनन्द लेते हैं। **मानसिक कर्मों में भी निरर्थक कर्म होते हैं क्योंकि मन गतिशील है। हमारी बुद्धि गतिशील है, तो इनकी निरर्थक गतियों को रोकने के लिए ईश्वरीय जाप का महात्मय है, यह बहुत बड़ा वैज्ञानिक तथ्य है। जो सार्थक गतियाँ हैं वे स्वतः भाव से समय आने पर ईश्वर इच्छा, कृपा से स्वयं ही जागृत हो जाती हैं** और उसके अनुकूल हमें परिस्थितियाँ दिखाई देने लगती हैं और उस कार्य के परिपूर्ण होने में कोई भी कठिनता नहीं होती। वो आनन्द में समाप्त हो जाता है। तो यह रहा सक्षिप्त वर्णन बन्धन–रहित और बन्धन–सहित कर्मों का, भले ही वे स्वार्थ के लिए ही या परमार्थ के लिए ही।

यदि परमार्थिक कार्य जैसा कि अभी मै वर्णन कर चुका हूँ, यज्ञ, हवन, जप, तप, दान, पुण्य इत्यादि भी हमारी चिन्ता का और विक्षेप का हेतु बनते हैं, तो वे कार्य भी स्वार्थी कार्यों से निकृष्ट हैं, वे हमारे बन्धन का हेतु हैं। ऐसे कार्यों से हमें दूर रहना आवश्यक है, सतर्क रहना होगा हमको, यह कर्म–बन्धन एक बहुत बड़ा माया–जाल है।

जिस प्रकार कि एक मकड़ी अपने चहुँ ओर एक बहुत बड़ा जाल बुन लेती है और अन्ततः उसी जाल में स्वयं फँस जाती है, इसी प्रकार जन्म–जन्मान्तरों से हम कर्मों के जाल में फँसे हुए हैं। तो जिस प्रकार कि मकड़ी अपने स्वयं के बनाए हुए जाल से बाहर आने के लिए एक तरफ से उस जाल को स्वयं खाना शुरू कर देती है, उसी प्रकार हमें कर्म–बन्धन के जाल से छूटने के लिए अभी इसी समय, अपना कर्त्ता भाव समाप्त करना होगा। क्यों न यह जगत, यह सारा जीवन स्वतः की तरह निकल जाए **जिस प्रकार कि हम स्वप्न में किए गए कार्यों को महात्मय नहीं देते जागृति में, उसी प्रकार हमारा जीवन और जीवन में किए हुए कर्म, ऐसा प्रतीत हो जैसे स्वप्न ही देख रहे हैं, तो यह जीवन–मुक्ति के लक्षण हैं।**

कर्म–बन्धन बहुत बड़ा बन्धन है। बहुत बड़ा जाल है, जिसको काटने के लिए, अपने कर्म के बन्धनों से मुक्त होने के लिए उस ईश्वरीय सरकार के

सामने अभी हमें प्रार्थना–पत्र देना होगा कि, "हे प्रभु। मुझे कर्म–बन्धन से मुक्त कर। मैंने अच्छा, बुरा, जप, तप, शुभ, अशुभ, यज्ञ, हवन, दान, पुण्य कुछ नहीं किया और यदि हे महाप्रभु, मैंने जाने–अनजाने में कुछ किया है, तो मुझे हे क्षमा के सागर! मुझे अभी क्षमा कर दो। हे महाबली! महायोद्धा! हे महाशक्ति! हे सर्वशक्तिमान! मुझे बल–बुद्धि–विद्याहीन, असमर्थ और अशक्त कर दो, ताकि भविष्य में मै किसी कर्म को करने योग्य ही न रहूँ।" बड़ी सार्थकता है इस भाव में। मेरे इस भाव से विचलित मत होइएगा कि,"हे प्रभु। मुझे बल–बुद्धि–विद्याहीन कर दो।" अर्थ क्या हुआ कि, "हे प्रभु, यह जीवन तुमने दिया है, यह प्राण तुम्हारे हैं। इन पाँच महाभूतों, पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश से तुमने यह देह निर्मित की है। इसको तुम्हीं खिलाओ। तुम्हारी ही बल–बुद्धि, विद्या, समर्थ और शक्ति से यह देह पले और जब तुम चाहो आनन्दपूर्वक मेरे प्राणों का तुम हरण कर लो।" तो कितना हल्कापन, कितना आनन्दमय यह जीवन बीत जाएगा।

क्यों हम कर्मों पर अपना बन्धन डालना चाहते हैं। आज कुछ कर्म हमारे प्रशंसा करने से बनेंगे, तो कल हमको निंदा का सामना भी करना पड़ेगा। जीवन के एक–एक पग पर हमको अति सतर्क रहना है और किसी भी कर्म का बोझ हमें अपने सिर पर नहीं ढोना है। शायद, **साधना का सबसे बड़ा अंग यही है कि जीवन आनन्दमय बीत जाए। यही जीवन का लक्ष्य है।** संसार की कोई भी वस्तु हमारे साथ नहीं जाती। जब हम जन्म लेते हैं, तो पूर्ण नग्न, एक अशक्त देह को ही लेकर इस संसार में आते हैं, जो बल, बुद्धि, विद्या–हीन होती है और जब इस संसार से विदा लेते हैं, तो हम वैसे ही खाली हाथ संसार से चले जाते हैं। तो क्यों लें हम किसी कर्म का बोझ, क्यों हम अपने संस्कारों को प्रदूषित करें? इसलिए हमें पग–पग पर, हर क्षण, उस प्रभु का स्मरण अति आवश्यक है–

पड़ा रहने दो अपने दर पे, मुझको क्यों उठाते हो?
मेरी किस्मत सँवरती है, तुम्हारा क्या बिगड़ता है?

उसके चरणों में पड़े रहें और जो भी करवाए, वह करवाए, शायद जीवन का यही लक्ष्य है। यह सारा विषय अति विचारणीय है। इस भाव से कर्म की समाप्ति नहीं होती बल्कि निष्काम कर्म भाव की उत्पत्ति होती है। निष्काम कर्म–योग, वह

मानसिक स्थिति है, **जिसमें किसी कर्म का होना सा प्रतीत होता है।** यहाँ कर्त्तव्यभाव का नितान्त अभाव होता है। कहीं भी कर्त्ताभाव उसमें नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कुछ कर्म हो सा गया है। यह है निष्काम कर्मयोग। एक मानसिक अवस्था जिसमें इस देह द्वारा हुए कर्मों को एक अबोध शशुवत् निहारते रहते हैं और उसका आनन्द लेते हैं। यह सम्भव है, यदि हम अपनी प्रत्येक प्रक्रिया को और कर्म को प्रत्येक अंग को हृदय से ईश्वर को समर्पित कर दें।

।। जय जय ही राम।।

सामान्य एवं विशिष्ट जगत

आज का विषय है **'सामान्य एवं विशिष्ट जगत'**। आध्यात्मिक दृष्टि से ईश्वर को समस्त ब्रह्माण्डों का अर्थात् कोटि–कोटि ब्रह्माण्डनायक, सृजनकर्ता, पालनकर्त्ता एव सहारकर्त्ता माना है। इस कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों का एक छत्र साम्राज्य ईश्वरीय सत्ता का है फिर भी हम लोगों ने जीव कोटि में आकर उस आधिपत्य को, उस ईश्वरीय सत्ता को अपने हिसाब से दो भागों में विभक्त कर दिया है।

सामान्य एवं विशिष्ट सामान्य सम्पत्ति, जिस पर सभी का अधिकार रहता है। जिसको भोगने के लिए किसी को किसी की आज्ञा नहीं लेनी पड़ती। जैसे सूर्य की किरणें हैं, हवा हैं, पृथ्वी हैं। इन पर किसी का आधिपत्य नहीं है। जल सागर का, झरनों का, नदियों का, पर्वत स्थानों का, ये सभी सामान्य सम्पदा है, इन पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि किसी पशु विशेष अथवा जानवर तक का भी नहीं। पशु विशेष क्योंकि पशु भी किसी विशिष्ट सम्पदा पर अपना अधिकार कर लेते हैं। जैसे कि एक कुत्ते के क्षेत्र में अगर कोई दूसरा कुत्ता आता है, तो वह भौंकने लगता है, जब तक कि वह कुत्ता उसके अधिकार क्षेत्र से जो उसने स्वयं मान रखा है, लौट नहीं जाता तब तक पहला कुत्ता भौकता रहता है।

इस प्रकार हम लोगों ने, मनुष्यों ने भी अपनी सामान्य एव विशिष्ट सम्पदा, चल अथवा अचल जो विशिष्ट हैं व्यक्तिगत हैं, वहाँ पर हमारा तथाकथित अधिकार होता है। हम समझने लगते हैं कि यह हमारा है–कानूनन या गैर कानूनन। इसी प्रकार संसार में जितने भी लोग हैं उनमें कुछ विशिष्ट लोगों को हम अपना समझ लेते हैं। उदाहरणतया–एक लड़की जिसका विवाह नहीं हुआ है, उसको यह ज्ञात नहीं है कि उसका पति कौन है और पुरुष को यह ज्ञात नहीं है कि उसकी पत्नी कौन है? **विवाह से पहले वह स्त्री या पुरुष एक दूसरे के लिए सामान्य होते हैं, जुड़ने के बाद वे विशिष्ट हो जाते हैं।** हम लोगों का जो मोह है, प्रेम है, वह भी हमारी सामान्यता और विशिष्टता की मान्यताओं पर आधारित है।

विशिष्टता और सामान्यता हमारी मान्यता है। यह मेरा है, इतना स्थान मेरा है, यह सम्पत्ति मेरी है, यह व्यक्ति मेरा है, यह पत्नी मेरी है, यह बच्चे मेरे हैं, यह देश मेरा है, यह धन मेरा है। यहाँ प्रश्न यह उठता है, कि इस सामान्य और विशिष्ट सम्पदा के पीछे हमारा अर्थ क्या है? पशु–पक्षियों को ही लें, वे जहाँ–तहाँ अपना घर–घोंसला व गुफा बनाते हैं। रात्रि में विश्राम करने के लिए अपने स्थान पर जाते हैं। उस घोंसले में, उस गुफा में उनकी मान्यता हो जाती है, अपनत्व हो जाता है कि यह स्थान उनका है। तो कुछ लोग बहुत विस्तृत जगत में अपना अपनत्व और कुछ बहुत सूक्ष्म जगत में अपना अपनत्व रखते हैं। अपनत्व सभी को होता है।

जिस प्रकार सागर में नदियाँ व नाले मिल जाते हैं, तो वे अपनी पहचान खो देते हैं, इसी तरह यह जीव उस ब्रह्म में लीन होकर अपनी पहचान खो देता है, उसका स्वरूप बदल जाता है। जिस प्रकार एक बीज पृथ्वी में डाल दें, तो पहले वह अपना अस्तित्व समाप्त करता है, उसके बाद ही वह पौधा बनना शुरू होता है। इसी तरह ह**म विशिष्ट से सामान्य होना चाहते हैं, व्यष्टि से समष्टि में।** उसके लिए पहले आवश्यक यह है कि हमें अपनी पहचान, अपना अस्तित्व, अपनी खुदी को खोना पड़ेगा। इस संसार में असंख्य जीव है। उन सबकी अपनी एक पहचान है। उसी पहचान के अनुसार उनकी सामान्य एवं विशिष्ट सम्पदा और उस पर उनका अधिकार होता है। जैसे–जैसे उसकी व्यष्टि विस्तृत होती है, विशाल हो जाती है उसी के अनुपात में उसकी सामान्य अथवा विशिष्ट सम्पदा का दायरा बढ़ता जाता है। एक समय ऐसा आता है कि पूरे कोटि–कोटि ब्रह्माण्डनायक के साथ उसका साक्षात्कार होने लगता है, भले ही वह क्षणिक ही हो, उस समय वह पूरे ब्रह्माण्ड को अपना समझने लगता है।

यह बता इसलिए रहे हैं, कि आखिर **हमारी इस उपासना का अर्थ क्या है? क्यों करते है हम उपासना? उपासना हमेशा सशक्त की ही की जाती है। सशक्त जिसका सामान्य अथवा विशिष्ट अधिकार क्षेत्र व्यापक है, बड़ा है, कम से कम हमसे बड़ा है।** इसी तरह लोग देवी–देवताओं को

पूजते हैं। यह सब करने के बाद भी उन्हें सन्तुष्टि क्यों नहीं होती? इसलिए कि उन्हें किसी और बड़े हुए दायरे की, किसी और सत्ता की तलाश रहती है। तो हम जिस भी ईश्वरीय सत्ता को अपना इष्ट मान लेते हैं, उस इष्ट को हम सर्वोपरि माने। अब प्रश्न उठता है कि इष्ट को सर्वोपरि कैसे मान लें? समाज में विभिन्न–विभिन्न जातियाँ, समुदाय, लोग, परिवार, ईश्वर को विभिन्न नाम और रूपों में मानते हैं। उसकी विभिन्न सत्ताओं एवं प्रकारों को मानते हैं। इनमें किसी को निराकार में आस्था है, तो किसी को साकार में। इस तरह उपासकों के मन में कहीं न कहीं भ्रम होना स्वभाविक है। यह स्थिति किसी विपत्ति पड़ने पर ज्यादा महसूस होती है, तब हम अपनी आस्थाएँ अपनी मान्यताएँ बदल डालते हैं, अपने गुरु बदल लेते हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि प्रतिकूल परिस्थितियों में हम किस प्रकार उस सामान्य ईश्वर, उसमें ही अपने इष्ट को कैसे देखें? यह बडा विचारणीय विषय है। यही अच्छे से अच्छे उपासक भी भ्रमित हो जाते हैं।

इसका एक उपाय है। हमने जन्म–जन्मान्तरों की साधना या उपासना अथवा पारिवारिक सस्कारों के वश या अपनी विशिष्ट मान्यताओ के वश ईश्वर को किसी एक नाम व रूप में मान लिया है, तो उसको सर्वव्यापी मानें। वही सर्वव्यापक, सर्वत्र है। जबकि हम तहेदिल से बुद्धि से यह जानते हैं, कि ईश्वर की विभिन्न मान्यताएँ हैं। अपने इस दायरे को हम किस प्रकार विस्तृत करें? सामान्य ईश्वरीय सत्ता को लोग अपने–अपने ढंग से मानते हैं। उसके लिए जो रणनीति ईश्वरीय सत्ता के लिए काम करती है, वही सांसारिक सत्ता के लिए है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, जितना हमारा दिल–दिमाग उस ईश्वरीय मान्यता में खुलता है, वही व्यवहार हमारा साधारण जगत के लिए भी हो जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

अब हम अपने इष्ट, ईश्वरीय सत्ता को सर्वत्र रूप में कैसे देखें? इसके लिए एक प्रार्थना दिन में कई बार करनी आवश्यक है कि, "हे प्रभु, आप एक नाम असंख्य रूपों में, एक रूप असंख्य नामों और असंख्य नाम असंख्य रूपों में आप और केवल आप ही है।" इस ब्रह्माण्ड में जहाँ–जहाँ भी किसी की मान्यता है, कोई आराध्य शक्ति है, वह किसी की भी हो, वह आप और केवल आपका ही

रूप है। मै उसको बार–बार नमन करता हूँ, प्रणाम करता हूँ। अतएव ईश्वरीय विभाजन सामान्य और विशिष्ट, सामान्यता और विशिष्टता में संसार के धार्मिक झगड़े हमारी सकीर्ण बुद्धि, सकीर्ण दृष्टि का अभिव्यक्ति मात्र है। हम उस इष्ट को मानें अपने जन्म–जन्मान्तरों के संस्कारों वश, लेकिन उस इष्ट को हम संकीर्ण दायरे में मत लाए, उसको हम सर्वव्यापी बनाएं। जहाँ–जहाँ जिसकी मान्यताएँ हैं, वहाँ हमें विभिन्न नामों में, विभिन्न रूपों में अपना इष्ट ही जब तहेदिल से नज़र आने लगे, तो समझिए कि हमारी उपासना का दायरा अति विस्तृत हो गया है। यहाँ मेरे–तेरे का भाव नहीं है। जहाँ जिसकी मान्यता है वह वही श्रद्धापूर्वक नतमस्तक हो। इसमें किसी को भी कतई संकोच नहीं करना चाहिए।

यदि हम ऐसा विचार मन में लाकर इष्ट का रूख करेंगे, तो हमें अपने उसी इष्ट का स्वरूप ही नज़र आएगा। यह स्थिति जब एक उपासक की हो जाती है तो वह सर्वत्र अपने इष्ट को विभिन्न नामों में श्रद्धा से देखने लगता है, महसूस करने लगता है। इस प्रकार संसार में सम्पूर्ण सम्पदा पर उसका स्वतः ही अधिकार हो जाता है। बड़ा रोचक विषय है। भला हम अपना यह अमूल्य जीवन एक संकीर्ण दायरे में क्यों बिताएं ? मत बिताइए इसे संकीर्ण दायरे में। हम इस जीवन को इतना व्यापक बना दें, कि उसके बाद विस्तार का क्षेत्र ही समाप्त हो जाए। हमारी उपासना के पीछे यही सूक्ष्म मनोविज्ञान है। विस्तृत हैं हम, संकीर्ण से हो गये थे।

इबतदा हूँ मैं, फनाह हूँ मैं, स्वाहा हूँ मैं,
महास्वाहा हूँ मैं, खुदानवी दोनो की इत्तहां हूँ मैं।
इकदा हूँ मैं, शुरुआत मैं हूँ, मध्य मैं हूँ, अन्त मैं हूँ।

इस स्थिति के आने पर प्रत्येक जीव में, प्रत्येक प्राणी में हमें अपना स्वरूप नज़र आने लगता है। केवल हमें ही नहीं, उन सभी प्राणियों को आप में अपना स्वरूप और अपनत्व नज़र आने लगता है। यही उसकी परीक्षा है। सारे संसार की जितनी सम्पदा है चल–अचल, जीवधारी–अजीवधारी, सब पर उसका अधिकार होने लगता है। यह उपासकों की पहली पहचान है।

अब उस अधिकार क्षेत्र का आप स्वयं कितना उपभोग करते हैं, यह दूसरी बात है। मान लीजिये, मेरे पास 100 करोड़ रुपए हैं और मुझे अपना जीवन–यापन और अन्यान्य जरूरतों के लिए दो–एक लाख रुपये चाहिए, तो उस महान सम्पदा पर मेरा अधिकार हो जाता है। अब जो बुद्धिमान लोग हैं, वे उस सम्पदा को जो यद्यपि उनके अधिकार में होती है, वितरित कर देते हैं, ताकि उसका उपयोग दूसरे लोग कर सकें, क्योंकि स्वयं के लिए इतनी नहीं चाहिए। ठीक इसी तरह वास्तविक उपासक सारे करोडों ब्रह्माण्ड, महाब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण सत्ता पर अपना अधिकार समझने लगते हैं, कि यह सब मेरे लिए हैं। वह यह महसूस करने लगता है, कि संसार में जो भी कोई ऐश्वर्य भोग रहा है, धन–सम्पत्ति भोग रहा है, यह सब मेरी है। यह सब मेरे परिवार के लोग हैं जो इसका आनन्द ले रहे हैं। यही एक सच्चे उपासक की उपासना का मूल दृष्टिकोण है। उसकी उपासना की गहनता का अनुमान लगाना हो तो आप उस व्यक्ति के वास्तविक जीवन को देख लीजिए। वास्तविक जीवन में उसकी जितनी उदारता है, उसकी उपासना का दायरा भी उतना विशाल होता है। उसने खुलापन आ जाता है। उसकी प्रत्येक वस्तु सभी के लिए होती है। वह अधिकारपूर्वक बच्चों की तरह माँग लेते हैं, कि अमुक वस्तु हमारे लिए लाए। वह जिसे आदेश देते हैं अथवा अनुग्रह करते हैं, उसको भी आनन्द आता है।

इसलिए उपासक किसी विशिष्ट वस्तु से, किसी विशिष्ट व्यक्ति से, सम्पदा से, विचार से, धर्म से, संगठन से, वस्त्र से, चिन्ह–चक्र से नहीं बँधते, क्योंकि समस्त विचारधाराएँ, चिन्ह, संगठन, धर्म उनके अपने होते हैं। वे सबका सम्मान करते हैं। यह जितनी भी भिन्न–भिन्न असंख्य रूपों में ईश्वर की मान्यताएँ हैं, उनको ऐसा लगता है कि उनके इष्ट को ही लोग विभिन्न नाम व रूपों में मान रहे हैं, आकार में, साकार में, निराकार में। यह जो विनारधारा है, विचारों का दायरा है, यह उपासना के प्रतिफल का सीधा अनुपातिक है। अर्थात् जैसे–जैसे हम उपासना के क्षेत्र मे अग्रसर होते हैं, उसी प्रकार हमारे जीवन की उपलब्धि बदल जाती है, ठीक उसी तरह जिस तरह नदियाँ समुद्र में मिलकर अपनी पहचान खो देती है।

आध्यात्मिक जगत और धार्मिक जगत में भी लोग भ्रमित रहते हैं। अक्सर कुछ लोग आध्यात्मिक जगत को ही धार्मिक जगत मान लेते हैं। ऐसा नहीं है। धार्मिक जगत विशिष्ट जगत है, जहाँ विशिष्ट व्यक्तियों के एक समूह की अपनी मान्यताएँ होती हैं, उनके विशेष रीति–रिवाज होते हैं, विशेष ग्रन्थ, नियम, कायदे–कानून, दर्शन, प्रदर्शन इत्यादि। नदियों का अन्तिम लक्ष्य है समुद्र में मिलना। उसी प्रकार धर्म का लक्ष्य है, आध्यात्मिक सागर में मिलना। उस स्थिति में मिलना, उस मानसिक स्थिति में मिलना जहाँ पर कोई धर्म, धर्म नहीं रहता। ऐसे में संसार के समस्त धर्म उसे अपने लगने लगते हैं, समस्त मान्यताएँ उसको अपनी लगने लगती हैं। यही वास्तव में आध्यात्मिक जगत है। यद्यपि देह रूप से, नाम रूप से, परिस्थिति रूप से वह किसी एक धर्म को मानता सा है, लेकिन आध्यात्मिक जगत मे विचरने के बाद उसकी ये सारी मान्यताएं हृदय से समाप्त हो जाती है।

इसमें एक विशेषता यह भी है कि जिस तरह नदी सागर में मिलकर अपने पुराने स्वरूप में नहीं आ सकती, उसी तरह आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करने के बाद आप किसी एक धर्म में परिवर्तित नहीं हो सकते। इसके बाद भी यदि कोई किसी विशेष धर्म को, किसी विशिष्ट मान्यता को अपनाए हुए हैं, तो निस्सन्देह उसने आध्यात्मिक जगत में प्रवेश ही नहीं किया है। अतः **धार्मिक और आध्यात्मिक जगत में नदी और समुद्र का अन्तर है। जिस प्रकार सूर्य भगवान का कोई धर्म नहीं है, हवा का, पृथ्वी का, जल आदि का कोई धर्म नहीं है, इसी प्रकार आध्यात्मिक व्यक्तियों का कोई धर्म नहीं होता।** सभी धर्म उनके होते हैं, सभी मान्यताएँ उनकी होती है। विभिन्न नाम, रूप, आकार, प्रकार, निराकार ईश्वर की मान्यताएं जितनी भी है, सब उनके एक इष्ट की होती है। तो जिसको भी आप इष्ट मानते हैं, उस इष्ट को आप सर्वोपरि मानिए। सर्वोपरि का अर्थ यह नहीं है, कि वह दूसरे इष्टों से बड़ा है, बल्कि जितनी भी मान्यताएँ हैं, जिसके जो भी इष्ट हैं, वह आपके इष्ट के ही नाम व रूप है इसलिए वह सर्वोपरि है।

इस प्रकार हम संसार में एक जीवधारी बनकर एक विशिष्ट नाम व रूप में

आकर, एक विशिष्ट परिवार में, एक विशिष्ट धर्म का अनुसरण कर, विशिष्ट सम्पदा, सम्पत्ति, चल अथवा अचल का भोग करते हुए अपने मानसिक दायरे को विस्तृत बना सकते हैं। यदि हमारा उपासना का दायरा बड़ा हो गया है, तो हमारा सांसारिक दायरा बड़ा हो जाएगा। इसलिए आध्यात्मिक लोगों का किसी से कोई सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि सभी सम्बन्ध उनके होते हैं। एक व्यक्ति में वे किसी समय कोई भी सम्बन्ध उत्पन्न कर लेते हैं, इस बात को ज़रा विस्तार में बताएंगे।

यह बड़ा गहन विषय है। जब कोई पुरुष पैदा होता है, तो उसके भीतर एक स्त्री होती है और कोई भी स्त्री जब पैदा होती है तो उसके भीतर एक पुरूष होता है। उस स्त्री अथवा पुरूष जो उसके भीतर समाहित है, उसकी असंख्य विधायें होती है, उसके रूप होते हैं। उदाहरण के लिये जैसे कोई स्त्री उत्पन्न होती है उसका पुरुष उसके भीतर होता है। भीतर है उसका पुरुष बाहर नहीं। तो उसके भीतर का पुरुष अपने भीतर विभिन्न विधाओं को संजोए हुए होता है और ये विधाएँ समय–समय पर बड़ा जगत में एक अथवा अनेक नामों व रूपों में प्रकट होने लगती है। वही पुरुष कभी उसका पिता बनता है, कभी पुत्र, कभी उसका पति, भाई, मित्र, शत्रु तो कभी गुरु इत्यादि–इत्यादि वही स्त्री उसकी माँ बनती है, बहिन बनती है, पत्नी बनती है, सखी बनती है, गुरु बनती है, वही लक्ष्मी बनती है, कुलक्षिणी बनती है, उसके भीतर की स्त्री और उसके भीतर का पुरुष। उदाहरण के लिए किसी स्त्री का किसी व्यक्ति से सम्बन्ध विच्छेद अर्थात् तलाक हो जाता है या उसकी मृत्यु हो जाती है, तो वह जो नाम, रूप में विशेष उसका पति जिसकी मान्यता थी, उसका उस नाम व रूप से सम्बन्ध विच्छेद होने पर या उसके संसार से विदा होने उसकी भीतर की स्त्री या उसके भीतर का पुरुष नहीं मरता। उसका प्रगटीकरण जिस नाम व रूप में था, वह हमारी मान्यताओं का नाम व रूप चला जाता है। यह गहन विषय यदि हमारी समझ में आ जाए तो हमारे कष्टों व दुखों के कारण स्वतः ही दूर हो जाते हैं।

आजकल हमारे पास जो डिप्रैशन के केस आते हैं उनमें किसी को अपने प्रिय के खोने की निराशा दोती है, किसी को धन, सम्पदा के गवाने की, किसी चीज़ के खो जाने की या कोई अपने स्वास्थ्य के कारण निराश है। जब हमारा

दायरा इतना विस्तृत हो जाता है कि सारे विश्व की सम्पदा हमें अपनी लगनी लगे तो खोना क्या और पाना क्या? यदि किसी विशिष्ट नाम व रूप में आपने जो उस स्त्री की विधा को प्रकट किया है, माना हुआ है, उसके चले जाने के बाद भी आपकी स्त्री आपके भीतर है और उस स्त्री की विशिष्ट पत्नी विधा भी आपके भीतर ही है। आवश्यकतानुसार, समय अनुसार, परिस्थिति अनुसार, भाग्य अनुसार वह किसी अन्य नाम व रूप में भी प्रकट हो सकती है। जब यह ज्ञात हो जाये, कि मेरा भीतरी जगत ही बाह्य जगत बनकर प्रकट हुआ है, तो बाह्य जगत से किसी नाम व रूप का समाप्त हो जाना या सम्बन्ध विच्छेद हो जाना आपको कष्ट या डिप्रंशन नहीं देता जो कि परम सत्य है।

आप कहेंगे कि खून के रिश्तों से हमारा क्या अभिप्राय है? पुत्र, बहिन–भाई, माता–पिता क्या यह भी विधा है? हाँ। यह सारा जगत हमारी मान्यताओं पर ही आधारित है। यदि हम आपसे पूछें, कि क्या आपने अपना जन्म किसी विशिष्ट स्त्री से होते देखा है? आप कहेगें नहीं। उस समय बुद्धि अविकसित होती है। किसी ने भी अपना जन्म होते नहीं देखा है। हम जिसे माँ कहते हैं, वह हमारी मान्यता है। किस पुरुष के अंश से हम उत्पन्न हुए हैं, यह भी हमारी एक मान्यता है। उस स्त्री या पुरुष जिसको हम माता–पिता माने हुए हैं, उनके द्वारा जो सन्तान उत्पन्न होती है, उनको हम अपनी बहिन अथवा भाई मान लेते हैं तो यह दूसरी मान्यता है। पहले हमने माता–पिता को माना, फिर उनके द्वारा जिस सन्तान को उन्होंने जन्म दिया, हमने उसको माना। तो इस प्रकार सारा जगत हमारी मान्यता है।

मुमुक्षु जड़ को पकड़ते हैं, मूल को पकड़ते हैं, कि इस संसार में रहते हुए हम इस संसार से मुक्ति कैसे पाएं? साधारणतः लोग मुक्ति का अर्थ नहीं समझते। मोक्ष क्या है? हमारी विशिष्ट मान्यताएँ यह मेरी देह, मेरा पुत्र, मेरा पति, मेरी पत्नी, मेरा धन, मेरी सम्पत्ति आदि पर हमने अपनी मान्यताओं की मोहरें लगाई हैं और अन्ततः हम इन सम्बन्धों में फँस जाते हैं। **जब हम एक मान्यता ईश्वर को दे देते हैं और उससे जुड़ जाते हैं, तो इस मानसिक स्थिति को मोक्ष कहते हैं। जो व्यक्ति अपने जीवन काल में ऐसा करने**

में इष्ट कृपा से सफल हो जाते हैं, उन्हें जीवन–मुक्त कहा गया है। इसलिये महापुरुषों ने जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है, उपासकों के लिए चार और ज्ञानियों के लिए एक मोक्ष का वर्णन किया है। उपासकों के लिए **सायुज्य, सामीप्य, सालोक्य व सारूप्य मोक्ष** और ज्ञानियों के लिए **कैवल्य मोक्ष**।

हमारी जितनी भी उपासना है, वह ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से हमारे अधिकार क्षेत्र को बढ़ाने के लिए है, हमें मुक्ति की तरफ, मोक्ष की तरफ ले जाने के लिए है। मोक्ष मे ऐसा नहीं है, कि हमसे कुछ चीज़ छूट जाती है, वस्तुएँ रहती हैं, मान्यताएँ छूट जाती हैं। संसार की एक–एक वस्तु से या रिश्तों से किस तरह हम अपना सम्बन्ध तोड़ेगें? महापुरुषों ने बहुत साधारण रणनीति अपनाई है कि आप ईश्वर को किसी भी नाम व रूप में मान लीजिए। ईश्वर को नाम व रूप में मानना कोई संकीर्णता का द्योतक नहीं है। बाद में वही नाम व रूप आपको संसार में जहाँ–जहाँ ईश्वर की मान्यता है, वहीं अपना इष्ट नज़र आने लगता है। हम सम्बन्धों में बँधे हुए हैं। जहाँ हमने सम्बन्ध बनाए किसी विशिष्ट व्यक्ति से, व्यक्तियों से, सम्पत्ति से, वही हमारे कष्ट शुरु हो जाते हैं। महापुरुष उन सम्बन्धों को विस्तृत करके इष्ट से सम्बन्ध बना लेते हैं। सारे सांसारिक सम्बन्ध ढीले पड़ जाते हैं। एक विशिष्ट मुदिता आ जाती है, जिसे **प्रसन्नता** कहते हैं, एक नशा सा उपासक को चढ़ा रहता है।

उपासक की पहचान है उसका **नशा**। यह उपासक की विशिष्ट पहचान है। यह तब होता है जब इष्ट कृपा से उसका मानसिक दायरा बढ़ता है, उसका शारीरिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक सारे दायरे, सारी शक्तियों उसी के अनुसार विस्तृत होती हैं। सारा ब्राह्माण्ड उसके भीतर विचरने लगता है, क्योंकि वह उसके अधिकार क्षेत्र में आ जाते हैं। यह है अर्थ उपासना का, जिसके सर्वोत्तम निर्णायक हम स्वयं हैं। मेरा–तेरा भाव हममें कितना है उससे हम अपनी मानसिक स्थिति का स्वयं अंदाज़ लगा सकते हैं। हमें कोई भी उपासना संकीर्णता की तरफ न ले जाए, इसके लिए हमें सावधान रहना पड़ेगा। अब प्रश्न यह उठता है कि व्यष्टि जगत या व्यक्तिगत जगत जिसे विशिष्ट जगत कहा है

वे विभिन्न व्यक्तियों का विभिन्न क्यों होता है? प्रत्येक व्यक्ति की सम्पदा और वह सब कुछ जो उसकी प्राप्ति है, व्यक्ति से व्यक्ति में भिन्न है। यह निर्भर करता है किसी व्यक्ति की क्षमता, पात्रता व ईश्वर कृपा पर। क्षमता के साथ पात्रता का होना अति आवश्यक है। मात्र सक्षम होना ही काफी नहीं है। कोई कितना बड़ा सुपात्र है और सक्षम है, उसी के अनुसार जब विशिष्ट प्रभु कृपा हो जाती है, तो वह व्यक्ति एक विशिष्ट सम्पदा का अधिपति हो जाता है। यहाँ **तीन बातों का महत्त्व है–क्षमता, सुपात्रता एवं इष्ट कृपा। सत्य तो यह है कि इष्ट कृपा से ही सुपात्रता बनती है और उसकी कृपा से ही क्षमता। तो कृपा होना आवश्यक है। उस कृपा को ग्रहण करने के लिये सुपात्रता होनी चाहिए और उस कृपा का भोग करने के लिए क्षमता।**

यदि हम सांसारिक सम्पदा का आनन्द लेना चाहते हैं, तो उसके लिए एक बात विशेष विचारणीय है, कि व्यष्टि या व्यक्तिगत सम्पदा की प्राप्ति अथवा उसका भोग कुछ विशेष अर्थ नहीं रखता, क्योंकि आनन्द जीव का स्वरूप है। इसका सांसारिक सम्पदा से कोई ताल्लुक नहीं है, कोई भी सम्बन्ध नहीं है। आनन्द भीतर ही है, जो कि जीव का वास्तविक स्वरूप है–सच्चिदानंद। तो **सच्चिदानन्द परमेश्वर, परमपिता, की सन्तान होने के नाते जीव उसका अंश है। इसलिए आनन्द पर इसका जन्मसिद्ध अधिकार है।** इसका स्वरूप है आनन्द, यह चेतन स्वरूप है और यह सत्य है। इस आनन्द की प्राप्ति के लिए यह समझना कि मैं विशिष्ट सम्पदा का अधिपति होकर ही इसे प्राप्त करूँगा, यह बहुत बडी भूल है।

जब इष्ट कृपा से जीव अपने विशिष्ट आन्तरिक आनन्द में लीन हो जाता है, समाहित हो जाता है, उसे अपने भीतरी स्वरूप का दिग्दर्शन हो जाता है, तो बाह्य सम्पदा उसके जीवन में कोई अर्थ नहीं रखती। विषय थोड़ा गूढ़ है, व्यक्ति को जब भीतरी आनन्द की प्राप्ति हो जाती है, ईश्वर कृपा से, तब जब जीव को विश्वास हो जाता है, कि वस्तुओं की प्राप्ति और उनके भोग से जो मै आनन्द ले रहा हूँ, यह आनन्द उन वस्तुओं से नहीं है बल्कि यह आनन्द भीतरी और मेरा व्यक्तिगत, मेरा अपना आनन्द है। आप कभी

विचार करें, कि जिस समय आप किसी विशिष्ट चिन्ता व शोक में होते हैं, मन निराश है, बुद्धि किसी कारण से विक्षिप्त है, मलिन है, ग्लानियुक्त है, ऐसे समय में कोई भी सांसारिक भोग अच्छा नहीं लगता। कोई भी सांसारिक प्राप्ति अच्छी नहीं लगती, स्त्री सुख, सन्तान सुख, सम्पदा का सुख, पद का सुख इत्यादि। जीभ का आनन्द, भोजन का आनन्द, विशिष्ट संगीत का आनन्द, विशिष्ट दृश्यों का आनन्द, विशिष्ट स्पर्श का आनन्द तो यह समस्त आनन्द हम गलती से मान लेते हैं कि बाह्य पदार्थों से मिल रहे हैं?

हमारा आनन्द हमारे भीतर है। हम जिस समय भीतरी आनन्दमय स्थिति में होते हैं, तब बाह्य पदार्थ भी हमे बहुत आनन्द देते हैं। हमारी भीतरी स्थिति जब अव्यवस्थित और विक्षिप्त होती है, तो वही पदार्थ जिन्हें हम गलती में, आनन्द का कारण मान रहे थे, वह हमें कोई आनन्द नहीं देते। स्पष्ट है, कि हम जिसे आनन्द कहते हैं, उसका विशिष्ट सम्पदा की प्राप्ति एवं उसके भोग के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जब विशिष्ट इष्ट कृपा से और जिज्ञासा से जीव अन्तर्मुखी हो जाता है और अपने भीतरी वास्तविक आनन्द के स्त्रोत में समाहित होने लगता है, तो उसे बाह्य जगत की प्राप्ति व भोग की इच्छा ही नहीं रहती। लेकिन जब वह किसी पदार्थ का भोग करता है, तो वह अतिशय आनन्द लेने के लिए नहीं, बल्कि आनन्द में खेलने के लिए करता है। पदार्थ उससे आनन्द लेते हैं इसलिए वह किन्हीं सांसारिक पदार्थों के बंधन में नहीं बंधता। जब हम बाहा जगत में वस्तुओं पर या व्यक्तियों पर निर्भर हो जाते हैं तो हमारी आत्मनिर्भरता क्षीण हो जाती है। जिसने अपने हृदय में अपने प्रभु को पा लिया हो, उसकी भटकन समाप्त हो जाती है।

दिल के आइने में है तेरी तस्वीरे यार,
जब जरा गर्दन झुका ली, देख ली।

इसका परम सौन्दर्यमय, परम–आनन्दमय, परम–सशक्त, ज्ञानमय, ख्यातिमय स्वरूप बहुत ही सुन्दर है–

क्या–क्या बताऊँ मै, तेरे मिलने से क्या मिला,

मुद्दत मिली, मुराद मिली, मुद्दा मिला
सब कुछ मुझे मिला, जो तेरा नकशे पी मिला।

करोडों जन्मों से भटका हुआ जीव, जब कभी विशेष इष्ट कृपा से, अपने स्वरूप में समाहित होने लगता है, तो अपने उस भीतरी परम सौन्दर्य को, परम ऐश्वर्य को देखकर बहुत मस्त एवं आनन्दित हो उठता है।

सामान्य जगत में विशिष्ट जगत निहित है। यह विशिष्ट जगत किसी भी व्यक्ति की मानसिकता पर आधारित है। जब कोई व्यक्ति अपना दिल–दिमाग खोल लेता है और अपने हृदय में सारे विश्व को समेट लेता है। धर्मों, कर्मों से उठकर, चिन्ह–चक्रों और जाति–पांति से उठकर, उस समय वह व्यक्ति एक विशेष व्यक्तिगत आर्कषण का केन्द्र बन जाता है और वह सभी लोगों को अपने परिवार का सदस्य मानने लगता है, यही उसकी परीक्षा है। भेदभाव की दृष्टि समाप्त हो जाती है। यह परमानन्द की स्थिति है जिसे जीवन–मुक्ति कहते हैं। इस रहस्य को जानने और अनुभव करने में भी अन्तर है। **हम किसी वस्तु को इन्द्रियों या बुद्धि द्वारा जानते हैं, लेकिन अनुभव करने के लिए न इन्द्रियों की आवश्यकता है और न कि बुद्धि की।** यह विषय अनुभव का है।

इस तरह जब हम उस समस्त ईश्वरीय सत्ता के साथ अपना समन्वय स्थापित कर लेते हैं तो कुछ मानव निर्मित सीमाएं स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं। पारिवारिक, धार्मिक, क्षेत्रीय, देश–विदेश की सीमाएं स्वतः ही समाप्त हो जाती है, क्योंकि प्रभु असीम है और मानव सीमित। तो एक सीमित और एक असीमित का पारस्परिक सम्बन्ध, पारस्परिक मेल भला कैसे हो सकता है? वह बन्दा अर्थात् बँधा हुआ और खुदा अर्थात् खुला हुआ, तो बंदे और खुदा में तनिक यही भेद है। ऐसे मे बन्दे की उस खुदा से मित्रता, दोस्ती कैसे हो? दो रास्ते हैं– एक, वह बंदा खुद खुदा बन जाए, दूसरे वह अपने ईश्वर, अपने खुदा को, बन्दा बना दे। इसके अतिरिक्त उसकी मित्रता का होना असम्भव है और यदि हो जाए तो वह परम अस्थाई होती है। जीव और ब्रह्म की मित्रता के लिए यह परम आवश्यक है कि जीव अपनी जीव–कोटि से इतना ऊँचा उठ जाए, कि–

खुदी को कर बुलन्द इतना, कि हर तकदीर से पहले

खुदा बन्दे से खुद पूछे, बता तेरी रज़ा क्या है?

जब यह स्थिति आ जाती है, उपासना द्वारा, ईश्वर कृपा द्वारा तो वह व्यक्ति स्वयं में समष्टि हो जाता है। संसार की सम्पूर्ण सम्पदा पर उसका अधिकार सा हो जाता है और उसको इस अधिकार वृत्ति में **भीतर से एक विशिष्ट आनन्द की उपलब्धि होती है और वही आनन्द उसकी उपलब्धि है, उसकी प्राप्ति है।** उस भीतरी आनन्द का स्पर्श करने के लिए, परम विशिष्ट ईश्वरीय कृपा का होना परम आवश्यक है।

यदि गहनता से विचार करें, तो जो **अतीन्द्रिय आनन्द** है, जिसको हम दुर्भाग्यवश अथवा गफलतवश सोच लेते हैं कि बाह्य प्राप्तियों से, बाह्य वस्तुओं से मिल रहा है, ऐसा नहीं है, यह मात्र भ्रम है। सम्पदा की प्राप्ति हमारा लक्ष्य नहीं, क्योंकि प्राप्ति और भोग के लिए भौतिक सम्पदा का होना आवश्यक नहीं है। **इस समष्टि, इस सामान्य जगत में से विशिष्ट जगत को हासिल करना हमारा अन्तिम लक्ष्य नहीं है, क्योंकि किसी वस्तु की प्राप्ति हम इसलिए करते हैं कि हम यह मानकर चलते हैं कि प्राप्ति के बाद उस वस्तु का भोग होगा, जो कि आवश्यक नहीं है।** उदाहरण के लिए एक व्यक्ति बहुत धनी है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह अपने अर्जित धन का स्वयं सदुपयोग कर सकेगा। तो सामान्य सम्पदा से विशिष्ट सम्पदा की **'प्राप्ति'** के बाद दूसरा मुकाम है, **'भोग'** परन्तु भोग के बाद यह आवश्यक नहीं कि आनन्द भी आए। ज्यादातर किसी वस्तु के भोग का आनन्द से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि आनन्द का जो स्त्रोत है, वह मानव के भीतर है। तो भौतिक पदार्थो की प्राप्ति और उनका भोग और उनके भोग के साथ आनन्द, यदि हम चाहते हैं तो यह परम आवश्यक है कि उन पदार्थो को हम ईश्वर समर्पित कर दें। एक शायर ने कितना सुन्दर लिखा है–

यूँ तो तेरे बगैर मुझे कुछ कमी नहीं,
यह और बात है कि मयस्सर खुशी नही।
जिस ज़िन्दगी पे नाज़ है इतना हजूर को,
उस ज़िन्दगी का क्या अभी है अभी नहीं।

जब हम अपने उस सच्चिदानन्द स्वरूप में समाहित हो जाते हैं, उसकी एक झलक मात्र हमें मिल जाती है, तो हम अनावृत हो जाते हैं, हमारा आवरण हट जाता है, विक्षेप दूर हो जाता है और एक भीतरी आनन्द की अविरल धारा फूट सी पड़ती है। उसकी प्राप्ति के बाद, हमें बाह्य जगत मात्र खिलौना लगने लगता है, उसकी प्राप्ति की सनक समाप्त हो जाती है। यह एक बहुत अन्तर है, पूर्वी और पाश्चात्य देशों की विचारधारा में, विशेषकर यूरोप और अमेरिका में एक होड़ सी छिड़ गई है, अधिक से अधिक उन वस्तुओं के अविष्कारों की, जो हमारे जीवन को अधिक से अधिक आरामतलब और सुखमय बनाए।

भला सोचिए, कि यदि हमारे हृदय में आग लगी हुई है और हमारी मानसिकता विक्षिप्त हे, तनावग्रस्त है तो क्या आपको किसी वातानुकूलित कमरे में निद्रा आएगी? कदापि नहीं। जब तक हमारे भीतरी कोलाहल भरे जगत में वातानुकूल नहीं लगेंगे, तब तक हमें मानसिक शान्ति नहीं मिलेगी। इसका एक मात्र उपाय ईश्वरीय चिन्तन है, उसका नाम, उसका भजन। मेरी इस बात का यह अर्थ कदापि नहीं है कि मै बाह्य पदार्थों को कोई तूल नहीं दे रहा हूँ।

इस जगत में यदि हम अपने जीवन को सुखमय, आनन्दमय बनाना चाहते हैं तो थोड़ा समय प्रतिदिन, नियमित निकालना होगा। इसके लिऐ हमें स्वयं के साथ बैठना होगा, ध्यान करना होगा। ध्यान की परिभाषा पिछले अध्याय में बता चुके हैं। हम जब स्वयं के साथ बैठेंगे, तो हमें मालूम चलेगा कि हम कहाँ हैं? जब तक हमें अपनी त्रुटियों का ज्ञान नहीं होगा, तब तक भला उनको सुधारने का प्रयत्न हम क्यों करेगें? इसके लिए जरूरी है, कि अपने इष्ट के सामने, अपने स्वयं के साथ बैठे और अपना आत्म–विश्लेषण करें। ईमानदारी से अपनी त्रुटियों पर नज़र दौड़ाएं, अपने इष्ट से प्रार्थना करें, कि हमारे अन्दर शुद्धता आए और जब शुद्धता आएगी, पवित्रता आएगी तो समृद्धि भी स्वतः हमारे पास आनी आरम्भ हो जाएगी। पवित्रता और समृद्धि का चोली–दामन का साथ है। जब हमारा खान–पान, रहन–सहन, हमारी कमाई, हमारे विचार और सब कुछ विशुद्ध और अति विशुद्ध होता चला जाएगा, तो अधिक से अधिकतम् स्मृद्धि अर्थात् ऐश्वर्य हमारी ओर स्वतः ही बहने लगेगा। हमारा जीवन सरस हो जाएगा,

आनन्दित हो जाएगा और हम इस जीवन का भरपूर आनन्द उठाते हुए उस आनन्द, उस परमानन्द में ही देह त्याग करेंगे।

आगाज़ को कौन पूछता है, अंजाम अच्छा हो ज़िन्दगी का। सुबह का थका–हारा जब शाम को घर में आकर विश्राम कर ले, तो समझिए दिन भर की उसकी थकावट छूमंतर हो जाती है। इसी प्रकार जब हमारे जीवन का अन्त आनन्दमय होता है, तो जीवन सार्थक हो जाता है। वैसे तो यहाँ प्रारम्भ का आनन्द, मध्य का आनन्द और अन्त का आनन्द तीनों ही आवश्यक हैं, लेकिन जो अन्तिम आनन्द है, वह परमानन्द है। **जब हम उस महाप्रस्थान के समय आनन्द में ही अपने नेत्र मूदँते हैं, तो अवश्य अगला जन्म आनन्द में ही शुरु होता है 'अंतमति सो गति'। यह एक विशिष्ट दर्शन है, एक परमसत्य है। जब हम अधूरेपन, विक्षिप्तता और मलिनता में देह त्यागते हैं, तो आगामी जन्म भी उसी विक्षिप्त स्थिति में ही शुरू होता है उसका प्रारूप भी विक्षिप्त ही होता है।**

सुबह–शाम हम ध्यान में क्यों बैठते हैं? सुबह जब हम ईश्वर–चिन्तन, ध्यान करते हैं, तो हमारा सम्पूर्ण दिन परमानन्द में बीतता है। संध्या के समय हम फिर ध्यान में बैठते हैं, तो स्वयं को सहज, सुखद स्थिति में पाते हैं, ऐसे में हमारी रात्रि जितनी भी निद्रा आती है, आनन्द में आती है और सुबह हम बहुत तरोताज़गी, स्फूर्ति का और आनन्द का अनुभव लिए हुए ही उठते हैं। आप अपने दैनिक जीवन में इस विचार को अंर्तनिहित अवश्य करिए, विचारिए, कि **जिस दिन सुबह हम आनन्द में उठेगें–तो वह दिन हमारा आनन्दमय ही होता है और जब सोते समय हम आनन्द में सोते हैं तो हम उठते भी आनन्द में ही हैं।** मै बार–बार इस आनन्द का वर्णन क्यों कर रहा हूँ, क्योंकि यह आनन्द ही हमारा परम लक्ष्य है। जीवन आते रहते हैं, जाते रहते हैं। जहाँ जन्म होता है, मृत्यु अवश्य होती है। यदि जन्म है, तो मृत्यु भी है। तो यह सिलसिला तो चलता रहता है और चलता रहेगा। हमारा परम लक्ष्य क्या है? **अपने भीतरी आनन्द की आत्मानुभूति कर, अपना सम्पूर्ण जीवन आनन्द में बिताना और विचार करते–करते सत्संग द्वारा, इष्ट कृपा द्वारा**

मोक्ष–पद का अधिकारी होना। मुमुक्ष बनना ताकि हम किसी न किसी जीवन में किसी न किसी जन्म में जाकर जीवन मुक्त हो जाएं। जीवन–मुक्त वह स्थिति है जब हम जीवन के रहते हुए मोक्ष पद को प्राप्तकर लेते हैं।

।। जय जय श्री राम।।

सुखद परिवार

यह विषय हमारे आज के सामान्य एवं साधारण पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित है। आज हम चहुँ ओर लगभग **प्रत्येक परिवार में एक अशान्ति, बेचैनी एवं कलह का सा वातावरण अक्सर देखते हैं, सुनते हैं, पाते हैं।** यदि हम उसके कारणों पर गहन विचार करें, तो हम देखते हैं यह समस्त कलह एव मानसिक परेशानियाँ अकारण हैं या तो उनके पीछे एक सूक्ष्म अहम् छुपा रहता है और या एक नासमझी। **इस कलह में एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या जो है, वह है पति–पत्नी का पारस्परिक असहयोग, मनमुटाव और तनाव।** यह इतना मधुरतम् एवं भावात्मक सम्बन्ध है, इसमें ऐसा तनाव क्यों? यह आज के जगत में बहुत विचारणीय विषय है। यद्यपि हम इस सबका विश्लेषण तो यहाँ नहीं कर पाएंगे लेकिन जो मुख्य तथ्य है, मुख्य–मुख्य कारण हैं, उनको हम एक–एक करके अवश्य लेंगे।

जब कोई रिश्ता या सम्बन्ध आपस में श्रद्धा से रहित हो जाता है, श्रद्धा–**जहाँ श्रद्धा भाव का समन्वय होता है या पदार्पण होता है, तो वही आदर प्रथम लक्षण होता है। जहाँ एक दूसरे के प्रति समर्पित व आदर भाव नहीं होता, तो वो सम्बन्ध, सम्बन्ध नहीं होता।** वहाँ भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं और एक सौदेबाजी जिसे हम कहते हैं व्यवसायिक जगत में, शुरु हो जाती है। जहाँ सौदेबाजी होती है, वहाँ बहुधा दरारों का पड़ना कोई अस्वाभाविक नहीं है। जहाँ हम अपने अधिकारी को देखते हैं, कर्त्तव्यों को नहीं देखते तो जो सम्बन्ध मधुरता पर, भाव पर, धर्म पर आधारित होते हैं, जब उनमें सौदेबाजी का पदार्पण होता है, तो वहाँ दरारों का पड़ना स्वाभाविक है। शंकाभाव, शंकालू प्रवृति और एक दूसरे से दूर भागने की इच्छा, अक्सर उत्पन्न हो जाती है। प्रश्न यह उठता है ऐसा क्यों है? क्यों होता है ऐसे? वे सम्बन्ध जिसको हम आजीवन साथ निभाने का सम्बन्ध कहते हैं, वे कुछ ही वर्षों में इतना तनावपूर्ण क्यों हो जाता है कि एक दूसरे से दूर जाना चाहते हैं। इसमें कोई भी दोषी नहीं है।

कई बार ऐसा देखा गया है कि पति अति बाह्यमुखी और पत्नी अन्तर्मुखी

या पत्नी अति शान्त प्रकृति की और पति अति हलचल और रजोगुणी प्रकृति का और अन्य कई प्रकार की ऐसी बातें होती हैं, जहाँ दोनों की प्रकृति एक–दूसरे से काफी विपरीत होती है, वहाँ पारस्परिक सामंजस्य नहीं बन पाता। अब इसमें अच्छा क्या है या बुरा क्या है? प्रश्न यह नहीं, क्योंकि ईश्वर द्वारा निर्मित समस्त महाब्रह्माण्ड में प्रत्येक जीवधारी चाहे वह मानव हो अथवा वनस्पतियाँ अथवा पशु–पक्षी, सभी अपनी विशेष प्रकृति रखते हैं। कहीं रजोगुण प्रधान होता है, तो कहीं सतोगुण और कहीं तमोगुण। तीनों ही गुण मात्र एक प्रकृति के हैं। वे एक प्रकृति जिसके यह तीनों गुण है, क्या इन तीनों गुणों के होते हुए स्वयं में खण्डित होती है? कभी नहीं।

बहुत विचारणीय बात है जो मैं कह रहा हूँ, गम्भीरतम् विषय है कि **प्रकृति एक है और प्रकृति की माया के गुण तीन हैं सतोगुण, रजोगुण एव तमोगुण और तीनों गुण अपने में विशेषताएं लिए हुए हैं। समस्त महाब्रह्माण्ड के संचालन में और इसका संतुलन बनाए रखने में इन तीनों गुणों का होना अति आवश्यक है।** तीनों गुण वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति में रहते हैं। यह माया की तीन विधाएं हैं सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण, और हममें से प्रत्येक में हैं, लेकिन कुछ व्यक्ति मुख्यतः सत्वगुण प्रधान होते हैं, कुछ रजोगुण की प्रधानता रखते हैं और कुछ प्रकृति से तामसिक अधिक होते हैं।

एक प्रकृति के यह तीनों गुण एक परिवार में और एक परिवार के विभिन्न सदस्यों में विशेषकर पति–पत्नी में अलग–अलग होते हैं। यदि पति में एक गुण की प्रधानता है, तो पत्नी में दूसरे गुण की। तो क्लेश क्यों? कलह क्यों? जबकि प्रकृति एक है। बड़ा आसान हल है। वहाँ सत्संग द्वारा यह मानकर चला जाए, जो कि सत्य भी है, कि एक ही प्रकृति के विभिन्न गुणों के हम अंग हैं। मैं इसको और अच्छी तरह व्यक्त करना चाहूँगा, कि एक देह है और एक देह में विभिन्न अंग हैं। प्रत्येक अंग देह में, एक विशिष्ट अथवा अनेक विशिष्ट गुणों से और कार्यों से सम्पन्न है। कुछ अंग सतोगुण प्रधान होते हैं, कुछ रजोगुणी होते हैं और कुछ तमोगुणी होते हैं। जैसे कि हमारी बाजू हैं, पैर हैं, टांगे हैं, इनको रजोगुण की प्रधानता की संज्ञा देते हैं, क्योंकि इनसे हम कार्यशील रहते हैं।

मस्तिष्क अपनी जगह स्थिर रहता है, इसलिये सतोगुण प्रधान माना जाता है और जिनको हम जनेन्द्रियाँ कहते हैं, उनमें हम तमोगुण की प्रधानता मानते हैं। तो विचार कर देखिए कि एक देह में, यह जो विभिन्न अंग हैं, यदि यह अपना धर्म और कर्म छोड़ दें, तो सम्पूर्ण देह अस्वस्थ हो जाएगी, विकृत हो जाएगी। इस देह की अच्छी अवस्था के लिए, स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए इसके विभिन्न अगों का सुचारू रूप से कार्य करना अत्यन्त आवश्यक है।

जब हम एक परिवार को एक देह मान लें, तो उस देह में जो परिवार के विभिन्न सदस्य हैं, उनकी प्रकृति का अलग–अलग होना स्वाभाविक है। यदि हम उसको एक देह की विभिन्न अंगो की प्रकृति मानकर चलें, तो आपस में तनाव नहीं होगा, बल्कि अधिक घनिष्ठता होगी। आप देखिए, कि व्यक्ति बहुत शांत प्रकृति का है, लेकिन जीवन में कुछ ऐसे क्षण आते हैं, जहाँ बहुत शांत प्रकृति घातक बन जाती है। जिस प्रकार कि बहुत अशांत प्रकृति घातक बन जाती है, उसी प्रकार बहुत शांत प्रकृति भी मनुष्य के लिये कष्ट का हेतु बन जाती है। इसी प्रकार प्रकृति के तीनों गुण सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण का समन्वय होना अति आवश्यक है। जब एक परिवार को एक देह मानकर चला जाये तो पारस्परिक कलह समाप्त हो जाते हैं।

आपने अक्सर देखा होगा कि जो स्वाभाविक प्रकृति पति–पत्नी की होती है वे अक्सर एक दूसरे से भिन्न होती है। एक बहुत कम बोलने वाली है, तो पति बहुत अधिक बोलने वाला है। यदि पत्नी ज्यादातर घर में ही रहना पसन्द करती है, तो पति की घूमने की प्रकृति ज्यादा होती है। तो क्या यह गुण एक दूसरे के पूरक नहीं है? अधिकाशतः तनाव के जो केस है, वह इस प्रकृति के सामान्य गुणों के, जो एक दूसरे के पूरक हैं इनकी अज्ञानता की वजह से होते हैं। यह हमारा एक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किया गया सूक्ष्म विश्लेषण है। कुछ तनाव एक निरर्थक अहम् के कारण होते हैं। इस निरर्थक अहम् का, जैसा कि हमने शब्द प्रयोग किया है निरर्थक–उस अहम् का कोई अर्थ नहीं होता और यह निरर्थक अहम् द्वारा उत्पन्न तनाव कई बार बहुत घातक स्थिति के भयानक परिणामों में परिवर्तित हो जाता है जिसमें तलाक, परित्याग एवं यहाँ तक कि आत्महत्याएं,

जैसे परिणाम भी आ जाते हैं। अहम् निरर्थक होता है। उसका बड़ा आसान हल है। जब पति–पत्नी, दोनों को एक देह मान लें, तो अहम् भी एक ही हो जायेगा। यह एक अहम् का टकराव किससे? और जब पारस्परिक श्रद्धा भाव होगा, कोई ऊँच–नीच का भाव नहीं, यह नहीं कि पत्नी का स्तर छोटा है या पति का स्तर बहुत बड़ा है, ऐसा कुछ नहीं है। जब हम सामाजिक दृष्टि से पति–पत्नी के सम्बन्ध को श्रद्धा से व भाव से जुड़ा हुआ सम्बन्ध मान लेते हैं, तो जहाँ श्रद्धा होती है, एक दूसरे के प्रति आदर भाव होता है, समर्पण भाव होता है, वहाँ स्वयं का अहम् भाव कुछ भी अर्थ नहीं रखता। थोड़े बहुत जो विशेष तनाव उत्पन्न होते हैं पारिवारिक जीवन में, वह स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि वे अहम् पति–पत्नी के सम्बंध में एक निरर्थक अहम् है, अर्थ–विहीन, विचारहीन। जिस पर यदि वे दोनों स्वयं भी विचार करें, तो उसका कुछ भी अर्थ नहीं होता।

संतान क्या है? पति और पत्नी की जो विशिष्ट वृत्तियाँ हैं, उनका जन्म है। यदि बहुत विचार करके देखा जाए, प्रत्येक दम्पति अपने बच्चों के भावों को, उनकी प्रकृति को और उनके संस्कारों को बहुत सूक्ष्म बुद्धि द्वारा समीक्षा करें, तो मालूम चलेगा, कि उनमें जो आदतें हैं, प्रत्येक बच्चे में जो विशेष, भिन्न–भिन्न प्रकृति है, वह कहीं न कहीं माता–पिता की अपनी प्रवृत्तियाँ, अपनी प्रवृत्ति का ही जन्म होता है। ऐसा भी हम अक्सर देखते हैं, कि कुछ संतान आजकल, विशेष–कर परिवार के लिए क्लेश–कारक उत्पन्न हो जाती है, समाज के लिए तो होती ही है। वह माता–पिता की निराशा का, तनाव का एक बहुत बड़ा कारण बन जाती है। वह संतान जिसको हम क्लेश–कारक कहते हैं, क्या वे हमारी वृत्तियों का जन्म नहीं है? है, तो वही सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाए?

यह एक बहुत विशिष्ट विषय है, जिसका हल आज प्रत्येक दम्पति को एवं प्रत्येक परिवार में चाहिए। हम यह दोष लगाते हैं कि आज जगत का वातावरण, संसार तीव्र है। वातावरण क्या है? हमको यह समझना होगा। हमारा भीतरी जगत जब बाहर प्रकट होता है, वही हमारा वातावरण होता है। भीतरी जगत का बाह्य प्रगटीकरण हमारा संसार है तो हम निरर्थक बाह्य जगत को दोष लगाते हैं। जब बाह्य जगत हमको बहुत विक्षिप्त लगता है, बहुत उदण्ड और बहुत

तनावपूर्ण लगता है, यदि उस समय हम अपने भीतरी जगत का विश्लेषण करें तो हम पाएंगे, कि हमारा भीतरी जगत भी उसी तरह तनावपूर्ण, उदण्ड एवं विक्षिप्त है। इस तथ्य के सत्य को जाने बिना कभी हम अपनी संतान को दोषी ठहराते हैं, तो कभी हम आज के जगत पर दोष लगाते हैं। क्या कभी हमने सोचा है, कि हम सपरिवार सुबह–शाम, इस व्यस्त जीवन में से कुछ समय निकालकर ईश्वर के चरणों में सामूहिक एवं समर्पित भाव से बैठने की इच्छा भी रखते है? नहीं ! क्या होता है ध्यान में, पूजा–पाठ में? उस समय हमें हमारे भीतरी जगत का दिग्दर्शन हो जाता है। लोग कहते हैं, कि जब हम ध्यान में बैठते हैं तो अंदर से बहुत से विचार उठते हैं, हम एकाग्र नहीं कर पाते।

वास्तविकता यह है, कि उस समय जो भीतरी व्याकुलता हमें व्याकुल करती है वह व्याकुलता तो अविरल चल ही रही होती है, उस समय जब हम एकाग्र करना चाहते हैं। किसी विशेष महाशक्ति में, ईश्वरीय सत्ता में, तो उस समय जो हमें भीतर से व्याकुलता महसूस होती है, वह व्याकुलता हमारा स्वभाव होता है, जो कि अन्य समय में हमें महसूस नहीं होता। लेकिन जब हम अपने आपको एकाग्र करना चाहते हैं, तो उस समय हमें अपनी उस व्याकुलता का पता चलता है और दूसरे समय में हमें उस व्याकुलता का पता नहीं चलता। तो कम से कम वहाँ बैठने से हमें यह तो मालूम चल जाता है, कि हम भीतर से व्याकुल हैं। क्षण भर के लिए, दो क्षण के लिए, कुछ समय के लिये हमें वहाँ शान्ति मिलती है। अभावमय आनन्द मिलता है, जहाँ संसार की कोई वस्तु नहीं होती, लेकिन आनन्द होता है। हमें अपने भीतरी आनन्द का जहाँ थोड़ा बहुत भी, क्षण भर के लिए भी जब आभास होता है, हमारे स्वरूप के आनन्द का, तो वही स्वरूप हमारा बाहर जगत में आनन्दमय और शांत जगत बनकर प्रगट होता है, सत्य यही है। बाह्य जगत व्याकुल नहीं, हमारा भीतरी जगत व्याकुल है, जो बाह्य जगत में प्रगट होता है। उसके लिए हम न जाने किस–किस को दोषी ठहराते हैं।

एक क्षण का समय, कुछ समय हमें हर रोज़ की दिनचर्या से निकालना आवश्यक है, ताकि कम से कम उस समय हम अपने भीतरी जगत का दिग्दर्शन कर सकें, कि क्या स्थिति है हमारे भीतर की? साधारणतः उसका पता नहीं

चलता लेकिन जब हम अपने इष्ट में एकाग्र करने की इच्छा करते हैं, ध्यान करने की इच्छा करते हैं तो भीतरी व्याकुलता का उस समय हमको पता चल जाता है, कि हम भीतर से कितने व्याकुल है। वही भीतरी व्याकुलता हमारे बाह्य जगत में व्याकुल जगत बनकर प्रकट होती है। तो पारिवारिक कलह, हमारी भीतरी व्याकुलताके कारण है।

परिवार की संरचना क्यों हुई? क्यों मनुष्य परिवार को चाहता है? जीवन एक लम्बा रास्ता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ अपने से विचार वाले व्यक्तियों के समूह का साथ चाहता है, ताकि उसके जीवन की यात्रा अच्छी तय हो जाए। परिवार कोई मज़बूरी नहीं है। जब कोई ऐसा साथी मिल जाए या कुछ ऐसे साथी मिल जाएं, कि जिससे जीवन का कटंकाकीर्ण मार्ग प्रशस्त हो जाए, सुन्दर बन जाए और समय बिताने में बहुत अच्छा लगे, तो ऐसे व्यक्तियों का समूह ही हमारा परिवार होता है। परिवार बन्धन नहीं है। मै समझता हूँ जीवन में परिस्थितियाँ बदलती हैं, समय बदलता है, व्यक्तित्व बदलते हैं, मनुष्य की प्रकट होने वाली विधाएं बदलती हैं। किसी विशेष समय पर, विशेषकाल और परिस्थिति के अनुसार जब हम देखते हैं, कि हमें कौन सा व्यक्तित्व एवं व्यक्ति अपना सुन्दर जीवन बिताने के लिये चाहिए, तो उसका जो साथ है, वही हमारा परिवार है। यह स्वच्छद परिभाषा दे रहा हूँ मैं परिवार की।

इस परिभाषा में स्वच्छंदता है उच्छश्रृंखलता नहीं है। तो क्या इसका अर्थ है, कि हम अपने परिवार के व्यक्ति बदलते रहें? इसका यह अर्थ मत कीजिएगा आप। विदेशों में यह स्वच्छदता उच्छश्रृंखलता मे बदली हुई है। छोटी सी बात पर मन—मुटाव हो जाने से तुरन्त तलाक हो जाता है। बच्चे परिवार छोड़कर चले जाते हैं तो इस स्वच्छंदता को मैं उच्छश्रृंखलता की संज्ञा दूँगा। पति और पत्नी एक धर्म का रिश्ता है, धर्म का संबंध है। जब तक कि पानी सिर से ही न गुज़र जाए, इसमें अपने आपको हम थोड़ा मानसिक रूप से परिवर्तित करते रहें तो जीवन बड़ा सुन्दर बीत जाता है, यह हम आपको अपना व्यक्तिगत अनुभव बता रहे है।

यदि विश्लेषण किया जाए पूरे विश्व का, तो हम देखते हैं भारतीय

पारिवारिक परम्पराएं एवं भारतीय परिवार, संसार के सर्वोत्तम परिवारों में से माने जाते हैं। गहराई से इस पर विचार करें, तो हम देखते हैं, कि इसके पीछे जो मौलिक तथ्य थे, वे आज भी सत्य है। आज से मात्र कुछ ही दशक पहले तक, जब कोई लड़की अपने ससुराल जाती थी, जब किसी लड़की का विवाह होता था तो पैदा होने से तब तक, उसके माता–पिता उसका एक विशेष दिमाग बना देते थे, कि तुम जिस घर में जा रही हो, पति तुम्हारा परमेश्वर है, तुम्हारा देवता है, उसकी सेवा और उसको प्रसन्न करना ही तुम्हारा परमधर्म है। अपने बड़े–बुजुर्गों, सास–ससुर इत्यादि की सेवा अर्थात समर्पित भाव आदि, बहुत दिव्य–संस्कारों से लड़की को परिपूरित कर दिया जाता था। एक विशेष भाव व संस्कार से वह लड़की अपने ससुराल में पदार्पण करती थी, शायद जिसका परिणाम था हमारी सुखद पारिवारिक परम्पराएं। उसमें विशेष प्रकार के उत्सव मनाए जाते थे, फलस्वरूप सामाजिक जीवन बड़ा अच्छा था, काफी अच्छा था आज से। भाग–दौड़ कम थी परिवार में, एक आदमी कमाता था और बाकी सभी खाते थे और जहाँ तक सुनने में, पढने में, एव विचार करने में आता है, लोगों में संतोष अधिक था। हमें न केवल भौतिक, बल्कि इन पहलुओं का आध्यात्मिक विश्लेषण भी करना होगा, ताकि इन भारतीय पारिवरिक–परम्पराओं का दिग्दर्शन हम विश्व को न केवल भौतिक, बल्कि आध्यात्मिक दृष्टि से भी करवा सकें।

आज जो लड़कियां पढ़ी–लिखी होती हैं, माता–पिता कष्ट सहकर भी अच्छी से अच्छी शिक्षा देने का प्रयत्न करते हैं। लड़की के भीतर एक विशिष्ट संस्कार उत्पन्न कर दिया जाता है, कि कल तुम्हारे विवाह के बाद किसी कारणवश यदि तुम्हारी पति के साथ नहीं बनती या कुछ अन्य दुर्घटना में पति इस संसार में नहीं रहता, तो तुम अपने बल–बूते पर, अपनी पढ़ाई से अपने परिवार का पालन–पोषण कर सकती हो। दृष्टिकोण तो बहुत अच्छा है, लेकिन जो मैं कहने जा रहा हूँ इसका अर्थ यह नहीं कि लड़कियों को हम पढ़ाई न करवाएं, परन्तु उनके दृष्टिकोण की यह परिपक्वता कि कल अगर पति की विचारधारा नहीं मिलती तो मैं तलाक ले लूंगी या पति कही दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है, तो मैं परिवार का पालन–पोषण कर सकती हूँ, इसलिए मुझे कमाई का

और अन्य साधनों को जुटाने का तरीका आना चाहिए, इसलिए शिक्षा लूँ। जब यह भावना दृढ़ हो जाती है, यह संस्कार दृढ़ हो जाते हैं तो आप देखेंगे कि देर–सवेर विवाह के बाद वैसी ही परिस्थिति उत्पन्न भी हो जाती है। यह एक वेदान्तिक सत्य है जो **ब्रह्मांडे सो पिंडे**। जो हमारे भीतर हमारा दृष्टिकोण बन चुका है वह देर–सवेर हमारे जीवन में हमारे सम्मुख अवश्य प्रगट हो जाएगा। यदि इस शिक्षा के पीछे यह भाव हो कि लड़कियों को यह शिक्षा उनके बच्चों को और सुचारु रूप से शिक्षित करने के लिए, परिवार को सामाजिक दृष्टि से और ऊँचा उठाने के लिए काम आएगी और यदा–कदा थोड़े बहुत दुख तकलीफ में वह अपने पैरों पर खड़े होकर अपने परिवार की सहायता भी कर सकती है। यदि ऐसा भाव जाग्रत हो, तो बाह्य जगत में पारिवारिक कलह और अन्य दुर्घटनाएँ अवश्य कम हो जाएगी। यह परम सत्य, नितान्त सत्य आपके सम्मुख रख रहे हैं।

जिस भाव से लड़की अपने पति के घर जाती है, उसका भाव कभी न कभी उसके सामने मूर्तिमान रूप धारण करके खड़ा हो जाएगा। शिक्षा दीजिए, लड़कियाँ शिक्षित होनी चाहिएं, लेकिन उस शिक्षा के साथ उनका दृष्टिकोण रचनात्मक हो, सकारात्मक हो, हर्ष–उल्लास और विकास से परिपूरित हो, तो पारिवारिक जीवन बहुत सुन्दर बन सकता है। दूसरा, मैं दो आध्यात्मिक विश्लेषण के बाद तथ्य आपके सम्मुख रख रहा हूँ। पारिवारिक कलह का, मैं मुख्यतः भारतीय परिवार की बात कर रहा हूँ, क्योंकि हमारे परिवार आज भी विश्व में आदर्श परिवार माने जाते हैं। जब कोई लड़की विवाहित होती है, तो एक नए परिवार में उसका प्रवेश होता है और उसका उस परिवार में सांमजस्य स्थापित करने का कोई विशेष मन ही नहीं बना होता। मैं इस बात को और विस्तार से कहना चाहूँगा। विचारिक दृष्टि से आप मुझसे सहमत होंगे कि जीवन में, जब हमारे सामने कोई घटना होती है सुखद अथवा दुखद, यदि उस घटना के लिए हमारा मन नहीं बना होता, तो उस परिस्थिति में हमारे भीतरी जगत में एक विशेष क्रिया होती है और कभी–कभी प्रतिक्रिया होती है। यदि उस परिस्थिति का दिमाग बना हुआ हो, तो हम उस परिस्थिति को, उस घटना को

सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं और हमारे भीतरी जगत में कोई उथल–पुथल नहीं होती। अगर पहले से ही दूसरे घर में जाकर सांमजस्य स्थापित करने का मन बना हो, तो ज्यादा कठिनाई नहीं होती, दूसरे हमें माता–पिता का आशीर्वाद भी प्राप्त हो जाता है।

आशीर्वाद के पीछे विशेष तथ्य यह है, कि हमारे शास्त्रों ने, हमारे महापुरुषों ने, हमारे मनीषियों ने, जो हज़ारों वर्ष पहले एक सत्य रखा था, कि हमें अपने बुजुर्गों का आशीर्वाद लेना चाहिए। बुजुर्ग माता–पिता, सास–ससुर अपने कुल और परिवार को आशीर्वाद देते ही हैं, उनके शुभ की आकांक्षा, कामना तो करते ही हैं परन्तु उस आशीर्वाद के लिए पात्रता का होना आवश्यक है। अक्सर ऐसा देखने में आता है, कि विवाह के बाद लड़के अथवा बहुएँ अपने माता–पिता और सास–ससुर के साथ कटु व्यवहार करने लगते हैं, उपेक्षा करने लगते हैं। ऐसे में माता–पिता के आशीर्वाद की पात्रता समाप्त हो जाती है और जो संतान उत्पन्न होती है वह कई प्रकार से अपंग, मानसिक अथवा शारीरिक रूप से दुर्बल, कई प्रकार के भयानक रोगों से ग्रसित होती है। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सर्वेक्षण करने के बाद और आध्यात्मिक सत्य का पुट देने के बाद, इस सत्य को जो मैने पाया है, वह आपके सम्मुख रख रहा हूँ।

ऐसा कहा जाता है जो सत्य भी है कि कोई व्यक्ति कितना भी बड़ा इंसान बन जाए सामाजिक दृष्टि से, शारीरिक दृष्टि से अथवा आर्थिक दृष्टि से, वह कभी अपने माता–पिता से बड़ा नहीं बन सकता। आप देखेंगें कि इस सत्य को नकारते हुए **युवा–पीढ़ी के काफी लोग अपने माता–पिता से विमुख होकर विवाह रचा लेते हैं। अक्सर ऐसे विवाह खण्डित हो जाते हैं। नहीं भी होते तो माता–पिता की विमुखता से किए गए विवाह से उत्पन्न सन्तान एक पैदायशी भयानक रोगों से ग्रसित या रोगों से ग्रसित न भी हो, तो उनकी संतान कभी अपने माता–पिता का हित–चिन्तन नहीं करेगी। यह एक आध्यात्मिक सत्य है,** जिसको पकड़ना बहुत आवश्यक है। भले ही यह किसी की समझ में आए या ना आए, यह एक दर्शन है।

अक्सर ऐसा देखा जाता है कि कुछ सुयोग्य लड़के अपनी डिग्रियों, अपनी

सुन्दरता और कुशलता में इतने अहम् भाव से ग्रसित हो जाते हैं, कि वे एक के बाद एक कई लड़कियाँ देखकर छोड़ना शुरू कर देते हैं। यहाँ तक कि ऐसा देखने में आया है कि कई लड़के सौ–सौ लड़कियाँ देखकर उनको नकार देते हैं और अपने विवाह के लिये किसी लड़की को पसन्द नहीं करते। यदि आप ऐसे लड़की का विवाहिक जीवन देखें, तो देखने में आता है कि अक्सर उनकी पसंद की लड़की विवाह के बाद बहुत भयानक रूप धारण कर लेती है। वह या तो किसी भयानक रोग से ग्रसित हो जाती है या ऐसे दम्पति निःसतान रह जाते हैं या उनके द्वारा उत्पन्न संतान पैदाइशी मानसिक रूप से विकृत अथवा अपंग होती है।

यदि एक दृष्टि हम अपने अतीत पर डालें, जो भारत में बड़ी सशक्त परम्परा थी। यद्यपि बौद्धिक रूप से उसका कोई औचित्य नहीं माना जा सकता कि अपने पुत्र के लिए लड़की को पसन्द माता–पिता अथवा घर के अन्य बड़े बुजुर्ग करते थे, तो उसकी आशीर्वाद के रूप में लड़के स्वीकृति दे देते थे, कि जो माता–पिता ने चुन लिया वही अच्छा है। ऐसे परिवारों का जीवन बहुत सुखद होता था और संतान बहुत सशक्त एव कुशल होती थी। आपसे मैं एक प्रश्न पूछता हूँ, बुद्धिजीवियों से, कि जब किसी लड़की को कोई लड़का देखता है विवाह के लिए, तो मात्र कुछ क्षण या मात्र कुछ दिन के पारस्परिक मेल–जोल, बातचीत से हम किसी व्यक्तित्व को क्या जान सकते है? आज लोगों मे जो लड़कियों को देखने की प्रथा है, मैं इस प्रथा को नकार नहीं रहा हूँ, लेकिन उसका आध्यात्मिक सत्य आपके सामने रख रहा हूँ, जो सत्य है, कि हम किसी व्यक्ति को कुछ क्षणों के लिये मिलकर, उसके बारे में कुछ भी अनुमान नहीं लगा सकते, तो क्यों न हम विवाह को एक आशीर्वाद के रूप में ग्रहण करें, यद्यपि यह एक अन्धविश्वास है लेकिन इसका परिणाम अति सुखद है।

तीसरा, एक आध्यात्मिक–सत्य यदि माता–पिता से विमुख होकर कोई लड़का अथवा लड़की शादी करवाते हैं, भले ही वे अपनी डिग्रियों के बलबूते पर अच्छी कमाई कर सकते हैं और अच्छे संसाधन जुटा सकते हैं ऐशो–आराम की जिन्दगी के लिए, लेकिन आप इस सत्य को मत भूलिए कि ऐसे दम्पत्ति कभी ऐश्वर्यपूर्ण जीवन नहीं बिता सकते। यह एक नितान्त सत्य है जो कि

आध्यात्मिक सत्य है। ऐश्वर्य में बहुत सी बातें आती हैं, पारस्परिक श्रद्धा, विश्वास, स्वास्थ्य सुंदर, संतान अच्छी हो, अच्छा नाम, यश, सत्संग, अच्छे मित्र, अच्छा धन और सब कुछ अच्छा। ये हैं ऐश्वर्य की कुछ रूप–रेखाएं।

यदि हम आध्यात्मिक सत्य पर थोड़ा विचार करके समझने की कोशिश करें, तो हम देखेंगे कि यदि हम आनन्दपूर्वक, दाम्पत्य जीवन बिताना चाहते हैं, सशक्त एवं सुचारु संतान के सहित, तो हमको अपने माता–पिता का आशीर्वाद प्राप्त होना बहुत आवश्यक है। जो हमारी धारणाएँ, हमारी पुरानी कथाएँ कहती हैं, हमारे शास्त्र कहते हैं कि हमें अपने माता–पिता की सेवा करनी चाहिए, हमें गुरु की सेवा करनी चाहिए, तो यह जो सिद्धान्तावली बना दी गई थी, इसके पीछे बहुत गहन आध्यात्मिक सत्य छिपे हुए थे।

आज लोगों के पास धन बहुत अधिक है उसके साथ उतनी ही अशान्ति है। आज के चिकित्सा के क्षेत्र में हम बहुत उन्नति कर गए हैं लेकिन उससे ज्यादा भयानक बिमारियाँ है। आज मुझे लगभग 27 वर्ष हो गये हैं चिकित्सा के क्षेत्र में, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करते हुए, कभी मैं सोचने पर मजबूर हो जाता हूँ कि कौन सा ऐसा व्यक्ति है जिसे मैं पूर्ण स्वस्थ कह सकता हूँ? स्वास्थ्य का अर्थ है पूर्ण मानसिक एव शारीरिक स्वास्थ्य। आज अधिकांश जनता, पैदाइशी रुग्ण होती है, अगर शारीरिक नहीं, तो मानसिक रूप से। मानसिक रूप से जो रुग्ण बच्चे उत्पन्न होते हैं, जिसको हम कहते हैं इसमें बहुत सी बातें आ जाती है इत्यादि–इत्यादि। यह आप बच्चों में ज्यादातर पाएंगे, यह सत्य मैं कई बार उजागर कर चुका हूँ। बहुत लोग इस सत्य से प्रभावित होकर अनुसरण भी करते हैं, कि माता–पिता की जो भाषा है, अगर बच्चे की प्राथमिक शिक्षा मातृ–भाषा में हो तो उसका मानसिक विकास अधिक अच्छा होता है। तो सुखद परिवार की परिकल्पना के लिए, उसे पाने के लिए, हमें इन समस्त व्यवहारिक एव आध्यात्मिक सत्यों का अनुसरण करना ही होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

।।जय जय श्रीराम।।

वरदान एवं दिव्य सम्पदा

अपने आराध्य देव प्रभु श्री हनुमान जी की अगाध कृपा एव प्रेरणा से एक विशेष दार्शनिक विषय आपके सम्मुख रखने जा रहा हूँ, कि किसी के प्रति की गई प्रार्थना किस प्रकार कार्य करती है, मनुष्य कब आशीर्वाद देने योग्य होता है? उसका आशीर्वाद, उसकी दुआ किस प्रकार कार्य करती है? इसके पीछे क्या दर्शन है? जैसे कि आप से पहले भी चर्चा हो चुकी है कि एक व्यक्ति, कई व्यक्तित्वों से मिलकर बनता है। प्रत्येक व्यक्तित्व अपनी एक अलग पहचान रखता है। किसी भी व्यक्ति का बाह्य जगत इस विशेषता पर निर्भर करता है कि वो किस व्यक्तित्व में विचर रहा है? जिस समय हमारा कोई भी व्यक्तित्व उभर कर बाहर आता है, तो हमारा बाह्य जगत उस व्यक्तित्व के अनुसार ही होता है, यह एक नितांत एवं परम सत्य है। बाह्य जगत हमारी भीतरी मानसिक अवस्था एव जगत का ही बाह्य प्रगटीकरण है। जब ईश्वरीय भक्ति एवं प्रेमवश या आत्मचिंतन, गुरु–कृपा या आत्म–कृपा वश हमारा दिव्य व्यक्तित्व उभर कर बाहर आता है, तो बाह्य जगत में उसी के अनुरूप सरसता, अनुकूलता, मानसिक शान्ति, प्रेम, सरलता, आत्मीयता एवं पारस्परिक स्नेह व भाईचारा इत्यादि, समस्त दैवीय सदगुण प्रकट होने लगते हैं।

एक व्यक्ति के अन्दर कितने ही व्यक्तित्व क्यों न हो, एक व्यक्तित्व सब में सामान्य है, वह है दैवीय व्यक्तित्व। कोई भी व्यक्ति भले ही वह कितने दुर्गुणों से युक्त हो, असहाय हो, निर्बल या बल–बुद्धि रहित हो, असमर्थ हो, अशक्त हो, उसमें भी एक दैवीय व्यक्तित्व अवश्य होता है। जब कभी उसका प्रगटीकरण होता है, तो सम्पूर्ण बाह्य जगत बदल जाता है और वह व्यक्ति स्वयं में अति सशक्त दिखलाई देने लगता है। ऐसे व्यक्ति कभी–कभी बड़े असाधारण कार्य कर लेते हैं, जो दूसरे व्यक्तियों के लिए विचार का विषय बन जाते हैं। एक प्रेरणा का सोत्र बन जाते हैं। कुछ लोग आध्यात्मिक जगत में विचरते हैं। कुछ समाज सेवी होते हैं, जिनके जीवन का मात्र एक ही लक्ष्य होता है, कि उनकी देह द्वारा, उनकी बौद्धिक, शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं प्रत्येक प्रकार के बल द्वारा किसी अन्य व्यक्ति या जीव–जन्तु का भला हो जाए। कुछ लोग ऐसे होते

हैं, जिनका यह लक्ष्य नहीं होता, परन्तु उनकी एक रुचि होती है कि वे स्वयं अपना जीवनयापन करते हुए अपनी शक्तियों का, अपनी कलाओं का कुछ भाग मानव–जाति को अर्पित कर देते हैं। अतः जगत में विभिन्न प्रकार के मानव होते हैं, कुछ का लक्ष्य ही सेवा होता है और बदले में वह कुछ नहीं चाहते और कुछ की यह रुचि होती है, कि वे अपनी शक्तियों का तन, मन, धन से कुछ न कुछ योगदान, समाजसेवा के लिए, परोपकार के लिए करते हैं। तो इन किए गए कार्यों के प्रतिफल में वह स्वयं कुछ नहीं चाहते। इनका फल कैसे मिलता है? किस प्रकार यह कर्म उनके प्रारब्ध को प्रभावित करते हैं? उसका मैं संक्षेप में वर्णन करना चाहूंगा।

मान लीजिए, एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के पास जाकर अपना कार्य करवाता है और वह सहर्ष, यथाशक्ति उसका कार्य करता है, लेकिन बदले में वह उससे कुछ भी नहीं चाहता। तो प्रथम व्यक्ति भले ही उसको भौतिक रूप से कुछ न दे, उसके हृदय से एक आशीर्वाद निकलता है, एक शुभकामना निकलती है उस व्यक्ति के लिए। यह आशीर्वाद या शुभ–कामना क्या है? कोई व्यक्ति बल, बुद्धि, विद्या द्वारा कितना भी दुर्बल व हीन हो, आशीर्वाद, शुभकामना या कैसी भी, कोई भी कामना उसके दैवीय व्यक्तित्व से ही निकलती है, क्योंकि प्रत्येक जीव के एक अंश का आधार दैवीय होता है, ईश्वरीय होता है। तो जो भी शुभकामना, दुआ या अन्य प्रकार का कोई भी भाव जब उसके हृदय से निकलता है, तो वह उस दूसरे महामानव का ऐसा धन हो जाता है, जो दिखाई नहीं देता। उसको एक अज्ञात शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार सेवा करते–करते और अन्य लोगों का आशीर्वाद, लेते–लेते कोई भी व्यक्ति उस दैवीय सम्पदा से, उस ईश्वरीय शक्ति से युक्त हो जाता है, परिपूर्ण हो जाता है।

एक निष्काम कर्मयोगी, जिसकी कार्य के पीछे कोई कामना नहीं है, कर्म के पीछे कोई फल की इच्छा नहीं है और जिसको मन, बुद्धि इत्यादि द्वारा किया गया कर्म कुछ होता सा प्रतीत होता है, बल्कि वह किसी भी कर्म का स्वयं को कर्त्ता भी नहीं मानता, ऐसे व्यक्तियों में एक दिव्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जागृत हो जाती है, बढ़ जाती है, जो

दिखाई नहीं देती जिसे वह स्वयं में अनुभव करने लगते हैं। उनका व्यक्तित्व बदल जाता है, व्यवहार बदल जाता है। उनका समाज बदल जाता है। वे धर्मातीत, कालातीत अवस्था में विचरने लगते हैं। उनके चेहरे के हाव–भाव बदल जाते हैं। मनुष्य रूप में रहते हुए भी वे दिव्य एवं दैवीय सम्पदा से ओत–प्रोत लगने लगते हैं। समष्टि में प्रवाह होता है उनका और मानसिक संकीर्णताओं से वे दूर हो जाते हैं। सारा जगत उनको अपना व जगत के साथ उनका अपनत्व सा हो जाता है। उनकी सोच, उनकी योजनाएँ, उनके विचार, उनके कर्म स्वाभाविक रूप से अन्य लोगों के लिए होते हैं। बहुत विस्तृत एवं वृहत् परिवार हो जाता है उनका। मानव कोटि से ऊपर उठकर वह महामानव या महापुरुष कहलाने लगते हैं। उनकी प्रसन्नता जब किसी के प्रति होती है, तो वह व्यक्ति सौभाग्यवान हो जाता है।

माता सीता का, रावण ने जब अपहरण कर, उनको अशोक वाटिका में कैद कर रखा था, तब वह एक पतिव्रता, अशक्त, निर्बल, अपने पति की विरह में, प्रतिकूल वातावरण में अति त्रसित, भयभीत एवं विक्षिप्त सी अपना समय बिता रही थी। उस समय श्री हनुमान जी उनसे मिलते हैं। हनुमान जी, भगवान श्री राम का सन्देश और अँगूठी माता सीता को अर्पित करते हैं। यद्यपि उस समय वह बहुत निर्बल एव असहाय होती हैं, लोकन उनके दिव्य व्यक्तित्व से हनुमान जी के लिए ऐसे अचूक आशीर्वाद निकलते हैं.– ***'अष्टसिद्धि नवनिधि के दाता'।***

वह अबला, कपि को आठ सिद्धियों और नौ निधियों के दाता होने का आशीर्वाद देती है। ***'अजर–अमर गुणनिधि सुत होहू'*** कि, 'हे पुत्र, तुम कभी भी वृद्ध नहीं होगे। कभी भी मृत्यु तुमको छू भी नहीं पाएगी और सब गुणों की तुम खान होगे!' ***करहू बहुत रघुनायक छोहू,*** तुम्हें प्रभु श्री राम अति प्रेम व स्नेह करेंगें। वह आशीर्वाद आज भी प्रभु श्री हनुमान जी के ऊपर कार्य कर रहे हैं। आज भी वे अजर है, अमर हैं। अतः एक अबला की जागृत प्रसन्नता और उस प्रसन्नता से उस अबला का जो दैवीय व्यक्तित्व जागृत होता है, उससे दिए गए सशक्त आशीर्वादों और भावों से हनुमान जी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व और

जीवन बदल जाता है।

प्रथम बार लंका में जाकर हनुमान जी जो भी कार्य करते हैं लंका में प्रवेश करने से, रावण से भेंट व लंका दहन करने तक, सभी दुर्लभ कार्यों का श्रेय वह प्रभु श्री राम जी की शक्ति को ही देते हैं। यह बहुत विचारणीय विषय है। जब किसी भी कर्म को निस्वार्थ भाव से, परोपकार के से कोई करता है या उसकी देह द्वारा करवाया जाता है और उसका सम्पूर्ण श्रेय वह ईश्वरीय शक्तियों, अपने इष्ट या अपने गुरु को देता है, तो उसके द्वारा किए गए इस कर्म का फल जो आशीर्वाद के रूप में दूसरे व्यक्ति से मिलता है, **वह दैवीय सम्पदा होता है**। हनुमान जी अपने प्रत्येक कार्य को, कृत्य को, हृदय से प्रभु श्री राम के चरणों में अर्पित करते हैं और उन्हीं की शक्ति द्वारा इसको किया हुआ मानते हैं। अपने भाव से, मन से, हृदय से, विचार से लेशमात्र भी वह उसमें अपनी किसी प्रकार की शक्ति का प्रदर्शन नहीं करना चाहते हैं। उनके इस भाव के कारण माता सीता द्वारा दिया गया वरदान उनके लिए दैवीय वरदान बन जाता ?

जब हम किसी के लिए कुछ परोपकारी, कुछ उपयोगी कार्य करते हैं और उन कार्यों का कर्त्ता स्वयं को न मानकर ईश्वर को मानते हैं, अपने इष्ट को मानते हैं या अपने गुरु की प्रेरणा या शक्ति मानते हैं, तो जो उसके प्रतिफल से आशीर्वाद या वरदान मिलता है, वह भी उतना ही सशक्त और दैवीय हो जाता है और **वह मिला हुआ वरदान जन्म–जन्मान्तरों, युग–युगान्तरों तक जीवन के साथ चलता है। आपने अनुभव किया होगा कि कुछ लोग जन्म से ही आशीष लिए हुए पैदा होते हैं, आशीर्वादों, भौतिक एवं दैवीय सम्पदाओं से युक्त होते हैं। वे मात्र इस संसार में परोपकार के लिए आते हैं। उनका अपना कोई भी स्वार्थ नहीं होता। उनका जप–तप, ज्ञान–विज्ञान एवं समस्त कलाएं, समस्त शक्तियाँ मात्र अन्य मानवों के हेतु होती हैं, परोपकार के लिए होती हैं। उसका श्रेय वे स्वयं नहीं लेना चाहते। उसका श्रेय वे अपने इष्ट को देते हैं।** ऐसे में उनको जो वरदान मिलते है, जो सद्भाव मिलता है अन्य मानवों से, वह उनके दिव्य व्यक्तित्व को जन्म–जन्मातरों में निखारता रहता है और एक विशिष्ट समय पर जाकर वह

दैवीय मानव कहलाते हैं।

यदि किसी पुरुष का परोपकार का भाव हो और स्वयं को वह उसका कर्त्ता मान ले, तो भी वह वरदान का, सद्भाव का, आशीर्वाद का अधिकारी तो हो जाता है, लेकिन उसके लिए अन्य मानवों द्वारा दिए गए वरदान भौतिक स्तर पर ही रहते हैं। उनका एक काल होता है। एक विशेष समय के बाद वरदानों की शक्ति समाप्त हो जाती है। जब हम मानव किसी भी जीव–जन्तु के लिए अपने हृदय से, भाव से, अपनी शक्तियों के अनुरूप कार्य करते हैं और उन कार्यों को ईश्वर निमित्त कर देते हैं, तो उसके प्रतिफल में मिला हुआ वरदान अथवा आशीर्वाद दैवीय हो जाता है। जब इन परोपकारी कार्यों का हम स्वयं को कर्त्ता मानकर चलते हैं, तब भी वरदान के अधिकारी तो हो जाते हैं, लेकिन उसकी शक्ति भौतिक स्तर तक ही रहती है और एक काल के बाद वह क्षीण हो जाती है, समाप्त हो जाती है।

अतः इस बात पर विचार एवं मनन करना अति आवश्यक है, कि हम कार्य किस भाव से कर रहे हैं, भले ही हम उसके फल की भौतिक रूप से कोई इच्छा न करें। वास्तव में देखें तो ऐसे कार्यों का फल उसी समय मिल जाता है, जब हम अपने भाव से, हृदय से, विचार से, तन–मन–धन से किसी के लिए निस्वार्थ भाव से कुछ करते हैं। यद्यपि तुरन्त कोई भौतिक प्राप्ति नहीं होती, लेकिन एक विशेष प्रसन्नता, शान्ति और दिव्य शक्ति का भीतर से अनुभव होने लगता है। यह सबने अनुभव किया होगा। वो अनुभव हमारे दिव्य व्यक्तित्व की जागृति के कारण होता है। **विशिष्ट प्रसन्नता, मन की शान्ति व मानसिक सन्तोष इतनी बहुमूल्य सम्पदा है, कि इसकी तुलना किसी भी भौतिक वस्तु से नहीं की जा सकती।** आखिर हम इस जीवन में चाहते क्या है? संसार में हम खाली हाथ आते हैं और हर जन्म में इसी प्रकार खाली हाथ संसार से विदा हो जाते हैं। **यहाँ की भौतिक प्राप्तियाँ, भौतिक जगत में ही रह जाती हैं। हमारे साथ चलते हैं हमारे विभिन्न व्यक्तित्वों के सूक्ष्म स्वरूप।**

इस जगत में आकर हम जिस व्यक्तित्व को बढ़ावा देते है, वह ही व्यक्तित्व हमारे साथ अगले जन्मों में चलते हैं। तो क्यों न हम अपने अति

बहुमूल्य समय में से, कुछ समय कुछ ऐसे कार्यों में लगाएं, ऐसे दैवीय कार्य करें, जिससे हमारा दिव्य व्यक्तित्व जागृत हो जाए, सशक्त हो जाए, अति सशक्त हो जाए। ऐसे दिव्य व्यक्तित्व से युक्त व्यक्ति, महापुरुष भौतिक रूप से बहुत ही क्षीण भी हो सकते हैं।

सच पूछिए, तो भौतिक जगत की उनको कोई ज्यादा चाह भी नहीं होती, कोई विशेष इच्छा ही नहीं होती। वह दैवीय सम्पदा से परिपूरित होते हैं। अपने में पर्याप्त, सक्षम एव पूर्णकाम से होते हैं। उनकी भौतिक जगत के प्रति कुछ कामनाएं, आकाक्षाएं नहीं होतीं। वे मात्र संसार में परोपकार के लिए उत्पन्न होते हैं और होश सम्भालने से लेकर अन्त तक वे कुछ न कुछ अन्य लोगों के लिए करते रहते हैं। उनका स्वभाव ही कुछ ऐसा सा हो जाता है। यह कोई एक जन्म का या कुछ समय का कार्य नहीं है। यह अनेक–अनेक जन्मों के बहुत तप और उसके बाद किसी विशेष महामानव, किसी दैवीय व्यक्ति के आशीर्वाद का फल होता है। जैसा कि माता सीता के वरदान से हनुमान जी का परम दिव्य व्यक्तित्व जाग्रत हो गया।

तो ऐसे निस्वार्थ भाव से जनहित कार्य करते–करते न जाने कोई ऐसा दैवीय व्यक्ति मिल जाता है जिसका आशीर्वाद व वरदान तुरन्त लाभदायक हो जाता है और वह वरदान युग–युगान्तरों तक जीव के साथ चलता है। इसी शक्ति का ही यदि हम दूसरा रूप देखें, तो वह है **'श्राप'**। किसी असहाय, निर्बल प्राणी को भले ही वह देखने में कितना असमर्थ, अशक्त बल, बुद्धि, विद्याहीन या दीन, क्षीण सा लगता हो, कभी भी तंग नहीं करना चाहिए। अगर हमें ईश्वर ने शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक या अन्य कोई शक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से ज्यादा दी है, तो इसका अर्थ यह नहीं, कि हम अपनी उस शक्ति द्वारा किसी को कष्ट पहुचाएँ। ऐसा करने से उस निर्बल व्यक्ति की आत्मा से एक **'आह'** निकलती है, जो उसी प्रकार कार्य करती है जिस प्रकार कि वरदान कार्य करता है। उस निर्बल व्यक्ति के हृदय से निकली हुई आह या श्राप भी उसके दिव्य व्यक्तित्व से ही मिलता है। उसका दिव्य व्यक्तित्व भी दैवीय शक्तियों से प्रतिपादित एव सशक्त होता है।,

जैसा कि मै पहले वर्णन कर चुका हूँ, कि दिव्य व्यक्तित्व प्रत्येक व्यक्ति में, जीव में, मनुष्य में है और वह दिव्य व्यक्तित्व ईश्वरीय शक्तियों से युक्त होता है, भले ही वह व्यक्ति, वह जीव–जन्तु भौतिक रूप से कितना ही निर्बल क्यों न हो। इसी प्रकार **जब निर्बल को कोई तंग करता है, कष्ट पहुँचाता है या अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करता है, तो असहाय व निर्बल से व्यक्ति के हृदय से निकला हुआ 'श्राप' या 'आह' भी बहुत सशक्त होती है। वह भी अपना कार्य करती है, भले ही उसका असर, प्रभाव तुरन्त हो जाए या कुछ देर के बाद हो, लेकिन होता अवश्य है।** इसलिए किसी को निर्बल जानकर, कमज़ोर जानकर, दीन–हीन मानकर कभी भी अत्याचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसके अन्दर भी दैवीय शक्ति है और यह दैवीय शक्ति सब में है, इसको कम नहीं समझना चाहिए।

कुछ लोग यह प्रश्न पूछते हैं, कि यदि उनमें भी दैवीय शक्ति है, तो वह इतने निर्बल और क्षीण–काया क्यों है? इतने असहाय क्यों हैं? इस प्रश्न का उत्तर इतना साधारण नहीं है, क्योंकि जन्म–जन्मान्तरों के कर्मों एवं प्रारब्धवश, कई बार जीव अपने अन्दर सुप्त अपनी दैवीय शक्ति से कार्य नहीं ले सकता या स्वयं उस पर उसकी दैवीय शक्तियाँ काम नहीं करतीं। यह बहुत लम्बा लेखा–जोखा है, जिसका यहाँ पर वर्णन नहीं किया जा सकता। इसलिए जहाँ तक हो सके अपनी दिव्य सम्पदा को उदात्त एवं अति सशक्त बनाने के लिए परोपकार निमित्त कार्य अवश्य करने चाहिए और यदि उन कार्यों को ईश्वर निमित्त मानकर किया जाए, प्रभु की शक्ति के सम्मुख रख कर किया जाए, तो उन कार्यों के प्रतिफल में मिलने वाली दुआएं, आशीर्वाद एवं वरदान बहुत सशक्त होकर ग्रहण होते हैं। जन्म–जन्मान्तरों तक उस जीव के व्यक्तित्व को, दैवीय व्यक्तित्व को जागृत करते रहते हैं। उसका आनन्द वह स्वयं भी लेता है और संसार के अन्य मानव भी लेते हैं।

सच पूछिए, तो जीवन का परम लक्ष्य ही यही है, कि अपनी मानसिक, बौद्धिक एवं शारीरिक व अन्य शक्तियों का सदुपयोग तभी मानना चाहिए, जब वह दूसरे के काम आ जाए। हमारे द्वारा किसी अन्य व्यक्ति का कोई भला हो

जाए, तो इसको ईश्वरीय कृपा या इष्ट कृपा का प्रतिफल ही समझना चाहिए। कोई व्यक्ति हमारे पास किसी कार्यवश आता है और वह कार्य उसके लिए उपयोगी है और वह हमारे द्वारा हो सकता है, तो उसकी करने में भले ही हमें थोड़ा बहुत अपना भौतिक नुकसान सहना पड़े, परन्तु वह कार्य अवश्य करना चाहिए। बहुत कम लोग ऐसे होते हैं, जिनके पास कोई किसी कार्यवश आता है और जब कोई उनके पास आता है, तो समझिए उनके ऊपर उनके माता–पिता, उनके गुरु एव उनके इष्ट की अति कृपा है। बहुत से ऐसे अभागे होते हैं, जिनसे किसी को कोई कार्य ही नहीं पड़ता।

इसलिए सदा अपने इष्ट से यही प्रार्थना करनी चाहिए, कि 'हे प्रभु ! इस देह द्वारा, इस बुद्धि और दैहिक शक्तियों द्वारा, जितनी भौतिक शक्तियाँ मिली हैं, उनके द्वारा किसी का कार्य हो।' जहाँ तक हो सके, अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का सदुपयोग, जो कि ईश्वरीय बुद्धि से ही होता है, किसी को आशीर्वाद या वरदान देने में ही करना चाहिए। इससे व्यक्ति के भीतर सुप्त दैवीय शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। उनका नाश नहीं होता। जबकि किसी को कष्ट पहुँचाने से या किसी को श्राप देने से मनुष्य की दैवीय शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। इस सम्पूर्ण लेन–देन का यद्यपि कोई माप–दंड नहीं है, लेकिन फिर भी प्रयत्न करते रहने से एक समय में सम्पूर्ण व्यक्ति, दैवीय सम्पदा से युक्त हो जाता है जिसका रसास्वादन और आनन्द अनिर्वचनीय है। जिसको वह स्वयं ही अनुभव कर सकता है।

सत्य पूछिए, तो किसी भी मानव की यदि कोई वास्तविक उपलब्धि इस संसार में है, तो वह वास्तविक उपलब्धि मात्र उसकी दैवीय सम्पदा है। इस भौतिक, मायिक जगत में जो भी भौतिक प्राप्तियाँ हैं–धन, सम्पत्ति, पुत्र, स्त्री, मान, यश, पद इत्यादि एव अन्य शारीरिक एवं भौतिक शक्तियाँ यह सब नाशवान हैं। मनुष्य देह नाशवान है। क्षण–क्षण, पल–पल यह बुढ़ापे की ओर अग्रसर होती रहती है और एक दिन यह क्षीणकाय मानव, मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। उस समय समस्त भौतिक उपलब्धियाँ एव शक्तियाँ इसका साथ छोड़ देती है। जिस प्रकार यह मानव खाली हाथ अशक्त सा इस संसार में आता है,

उसी प्रकार इस संसार से विदा भी हो जाता है। तो यहाँ आने का अर्थ ही क्या हुआ?

जैसा कि मै बार–बार आपके सम्मुख एक प्रश्न रखता हूँ, कि हम इस संसार में लाए गए है और एक दिन अवश्य हम इस संसार से विदा कर दिए जाएगें। हम भौतिक रूप से जो भी यहाँ कर रहे है, वह हमारे बिना भी हो सकता है और हो सकता है कि अधिक सुचारु रूप से हो। जो भी भौतिक उपलब्धियाँ हम यहाँ प्राप्त करते हैं, दुर्भाग्यवश जिनके लिए हम सम्पूर्ण जीवन–काल तत्पर रहते हैं, उन्हीं के लिए प्रयत्न करते रहते हैं, वे समस्त सम्पदाएं यहाँ रह जाती हैं और मानव संसार से चला जाता है। तो क्या यह जानना आवश्यक नहीं है, कि हम संसार में लाए क्यों गए है? अर्थ क्या है हमारे यहाँ लाए जाने का? जहाँ तक दैवीय बुद्धि से विचार करने से जो अनुभव होता है, वह यही कि मूर्खातावश, अज्ञानवश, लोभवश हम जो अमूल्य समय, इस जीवन का बहुमूल्य समय भौतिक प्राप्तियों में और सोच में ही लगा देते हैं, यदि ईश्वर द्वारा दी गयी विभिन्न कलाओं का प्रयोग या समस्त भौतिक बुद्धि एवं शारीरिक, मानसिक शक्तियों का प्रयोग हम परोपकार में, दैवीय प्राप्ति में, दिव्यता में, ईश्वर चिन्तन, मनन, जप, तप इत्यादि में लगाएं, तो भौतिक शक्तियों की उपलब्धि समय–समय पर स्वतः अपने आप हो जाएगी। इनके लिए प्रयत्न करने की भी आवश्यकता नहीं है। ऐसा शास्त्रीय नियम है जिसका वर्णन विस्तार से **'प्राप्य की प्राप्ति'** में हो चुका है।

अमुक–अमुक माता–पिता के अंश से, अमुक समय पर उत्पन्न होना, एक विशेष वातावरण में, समाज में, देश में, धर्म में, विशेष संस्कारों को लेकर आना और उन्हीं के अनुसार जीवन का चलना व विभिन्न जीवन के पहलुओं में से गुज़रना और प्राप्तियों का होना, कुछ खोना, कुछ पाना, कुछ मिलना, कुछ बिछुड़ना इत्यादि और अन्ततः मृत्यु को प्राप्त होना, अमुक–अमुक समय पर, विशिष्ट परिस्थितियों में, विशिष्ट कारणों से, यह लेखा–जोखा पहले से ही लिखा जाता है, जिसको प्रारब्ध कहते हैं। यद्यपि यह भी एक मान्यता है लेकिन फिर भी यह है, इसका अपना एक अस्तित्व है। अज्ञानवश सांसारिक लोग यहाँ

की प्राप्तियों को अपना पुरुषार्थ समझ लेते हैं और उस पुरुषार्थ को, उन प्रयत्नों का कारण समझ लेते हैं। उसी में हर्षित से, उल्लासित से होते रहते हैं। यद्यपि मानसिक शान्ति और सन्तोष उन्हें नहीं मिलता। किसी शायर ने बहुत सुन्दर कहा है कि–

यूँ तो तेरे बगैर मुझे कुछ कमी नहीं,
यह और बात है मयस्सर खुशी नहीं।

यह खुशी, यह मानसिक सन्तोष, यह स्वतः मुदिता भाव, प्रसन्नता यह केवल दैवीय सम्पदा से युक्त व्यक्तियों को ही उपलब्ध होती हैं, अन्यथा नहीं। भले ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का, यहाँ तक कि कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों का साम्राज्य एवं भोग भी मिल जाए, तथापि मानसिक सन्तोष व शान्ति और हृदय की प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती। अपने स्वयं के हृदय से पूछिए, जब भी कोई भौतिक उपलब्धि होती है, तो क्षणिक प्रसन्नता अवश्य होती है, लेकिन कुछ समय के बाद मानसिक स्थिति वैसी की वैसी या कई बार तो अधिक चिन्तित हो जाती है। यह भौतिक उपलब्धियाँ या प्राप्तियाँ, धन, सम्पत्ति इत्यादि हमको सुख–सुविधा देने के बजाय भय और कष्टों की ओर ज्यादा धकेल देती हैं।

तो क्या हम संसार में इन उपलब्धियों को लेने के लिए आए हैं, जो कि स्वतः ही हमें मिल जाएंगी और इन उपलब्धियों को हमें छोड़ कर जाना है। यह सब जानते है। तो क्या यही हमारा परम लक्ष्य है, हमारा उद्देश्य है ? यही हमारी प्रार्थनाओं का प्रतिफल है ? यदि ऐसा हम सोचते हैं तो कितनी भारी, भयानक भूल है और यह भूल हमको कहाँ लेकर जाएगी। हमारे जीवन दर जीवन, जन्म–जन्मातरों तक युग–युगान्तरों तक नष्ट होते रहते हैं–समूल नष्ट। जितने भौतिक भोग हैं, वह स्वयं हमको भोगने लगते हैं, मनुष्य को भोग जाते हैं। एक न एक समय अवश्य आता है, जब मानव काया सांसारिक भोगों को भोगने योग्य नहीं रहती, स्वयं खा जाती है। सब कुछ क्षीण हो जाता है, सब कुछ नष्ट हो जाता है। नाशवान वस्तु का नाश एवं नष्ट होना एक स्वाभाविक क्रम है, जो अकाट्य सत्य है। हम जन्म–जन्मान्तरों तक वही कार्य और वही तथाकथित पुरुषार्थ करते रहते हैं। क्यों हम ऐसी वस्तुओं को एकत्रित करें, जिन्हें हमें

छोड़कर जाना है? इसलिए सद्‌गुरु की प्रेरणा से, उपदेश से और उनके कथनों को आत्मसात् करके, इष्ट कृपा से और अन्ततः आत्म कृपा से हमको इस विषय पर गम्भीरता पूर्वक आज से, अभी से विचार करना है कि हमारा इस संसार में आने का उद्देश्य क्या है?

जहाँ तक मै समझता हूँ कि यदि हमें कुछ एकत्रित करना है, तो वह इस मानव देह को पाकर हमें अपनी दैवीय सम्पदा को बढ़ाना, फैलाना और विस्तृत करना है। यदि हम यह लक्ष्य बना लें, तो भी कुछ अच्छा लक्ष्य कहलाएगा, क्योंकि यह प्रश्न अपने में बहुत विस्तृत प्रश्न है, कि हम संसार मे लाए क्यों गए हैं? इसका उत्तर पाना इतना सरल नहीं है। यदि हम अपना लक्ष्य यही मानकर चलें, कि हमें अपनी दैवीय सम्पदा को बढ़ाना है और उसी के अनुसार, उसी के लिए जो कार्य करना है, वह ईश्वर निमित्त मानते हुए, ईश्वर की शक्ति द्वारा मानते हुए करते जाएं, तो अवश्य हमारी दैवीय सम्पदा बढ़ती है। शायद कभी न कभी अति भगवत् कृपा हो जाए, तो हमें इस प्रश्न का रहस्य मालूम चल जाए। शायद वह दैवीय शक्ति, वह मरण! हमको इसका उत्तर स्वतः ही दे दें, क्योंकि यह उत्तर मानव बुद्धि द्वारा सोचा नहीं जा सकता। अत. दैवीय सम्पदाओं को बढ़ाने के लिए, उत्तेजित करने के लिए, यह आवश्यक है कि हम निस्वार्थ भाव से, परोपकार की भावना से, अपने कर्मों को करें और उस कार्य को ईश्वर के निमित्त करें कि अमुक–अमुक परोपकार के हेतु किया गया कार्य ईश्वरीय शक्ति द्वारा, इष्ट कृपा द्वारा ही हो रहा है, मैं स्वयं इसके योग्य नहीं हूँ। जब ऐसा भाव हृदयंगम हो जाता है, तो अवश्य हमारी दैवीय सम्पदा बढ़ने लगती है, हम वरदान देने के योग्य हो जाते हैं, हम आशीर्वाद देने के योग्य हो जाते है।

दैवीय पुरुषों का एक विशेष तरंगित वातावरण होता है। उनके दैहिक, मानसिक, शारीरिक एवं स्वाभाविक कर्म बदल जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों में एक सहज मुदिता, स्वाभाविक प्रसन्नता, हर्ष, उल्लास, अभय, आयेग्यता और सर्व–सम्पनता की झलक सी आने लगती है। वह स्वभाव से ही साहसी होते है। उनको प्रभु से मोह होता है। उनके बारे में चिन्तन करते ही उनके नेत्र सजल हो जाते है। उनके दोनों नेत्रों से अविरल अश्रु धारा बहने लगती है, यहाँ तक कि वे

अपने इष्ट का जाप भी, अपने अश्रुओं से ही करते हैं। ऐसे महामानवों के समीप बैठकर एक उत्कृष्ट शान्ति का अनुभव होता है। एक परम सुख का अनुभव होता है। उनकी समीपता और उनका आशीर्वाद, उनकी प्रसन्नता न जाने क्या–क्या अज्ञात सम्पत्ति दे देती है। वे कालातीत जगत में विचरते हैं। त्रिगुणातीत, समस्त रजोगुणी, तमोगुणी व सतोगुणी शक्तियाँ उनकी सहाई हो जाती है। समस्त ईश्वरीय शक्तियाँ, ग्रह–नक्षत्र इत्यादि उनके अनुरूप और उनके अनुकूल ही चलते हैं। ऐसे महा–मानव कष्ट को भी इष्ट का वरदान समझकर सामान्य व सौम्य रहते हैं। ***'उदित सूर्य जेही भांति से अथवत ताही भाँति।*** भौतिक रूप से कुछ मिलना, बिछुड़ना, खोना, पाना, यहाँ तक कि जीवन और मृत्यु इत्यादि के समय भी वह एक समान स्थिति में रहते हैं। इन सब चीज़ों का उन पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता।

साधारण सांसारिक व्यक्ति के लिए जो विकार हैं–काम, क्रोध, लोभ, मोह व अहंकार, वे दैवीय व्यक्तियों के लिए विकार नहीं होते, उनके लिए वे दिव्य उत्प्रेरक का काम करते हैं। (अध्याय–4) उनका प्रत्येक पल, प्रत्येक क्षण, प्रत्येक श्वास अपने इष्ट के लिए होता है। वे उसी के इर्द–गिर्द जीते हैं और उसी की सान्निध्यता में ही देह त्यागते हैं। उनका मात्र एक ही लक्ष्य होता है–**सब प्रकार से अपने इष्ट की सान्निध्यता, समीपता और उसकी प्राप्ति। किसी भी प्रकार से अपने इष्ट से जुड़ना, उसके समीप जाना, उससे सम्बन्धित हो जाना और अन्ततः उसी में विलीन हो जाना। वे इस अद्वैत में द्वैत और द्वैत में अद्वैत का अनुभव करते हैं।**

ऐसे महामानव जीवन–मुक्त होते हैं। वे किसी भी सांसारिक एवं दैहिक बन्धन से मुक्त होते हैं और ऐसे जीवन–मुक्त मानव दैवीय कहलाते हैं। जब दैवीय सम्पदा से कोई भरपूर हो जाता है, तो उनमें यह समस्त लक्षण स्वतः ही प्रस्फुटित हाने लगते हैं, इसमें कोई दो राय नहीं है। अतः क्यों न हम उस सम्पदा को बढ़ाए, एकत्रित करें, जो जन्म–जन्मान्तरों तक हमारे साथ चलती है और हमें स्वयं को और अन्य मानवों को दैवीय गुणों से युक्त करवाती है, उनका विस्तार करवाती है, उनका आनन्द देती है। यदि हम इस मानव देह का थोड़ा

बहुत दिग्दर्शन करें, तो हम पाएंगे, कि यह देह अपने में एक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। मानव देह एव मानव मस्तिष्क की संरचना गैर उनके कार्यों के बारे में बहुत बड़े से बड़े निपुण चिकित्सक भी कुछ नहीं जानते। बहुत कम जानते हैं इस मानव देह के बारे में हम। इसके कार्यों के बारे में और मस्तिष्क की विभिन्न प्रक्रियाओं के बारे में। मानव मस्तिष्क द्वारा बनाए गए जितने भी उपकरण हैं, हम उनके बारे में भी बहुत कम जानते हैं। उनके बारे में जानने के लिए हम उनके निर्माताओं के पास जाते हैं, उनकी विशिष्ट प्रकार की पुस्तकें पढ़ते हैं।

तो भला बताइए कि इन उपकरणों, इन साधनों का अन्वेषण करने वाला मानव मस्तिष्क, इसके कितने ऐसे कार्यक्रम हैं जिनका प्रयोग हम सम्पूर्ण जीवन काल में भी नहीं कर पाते। मात्र कुछ प्रतिशत कार्यों से ही हम जीवन समाप्त कर लेते हैं। कुछ ऐसे असंख्य और विशिष्टतम् कार्य हैं, इस मानव मस्तिष्क के जिनको हम जानते भी नहीं है, तो क्या इसके निर्माता से या सदगुरु से यह पूछना आवश्यक नहीं है कि मेरे मस्तिष्क के, मेरी देह के अन्य कार्य क्या है? हम मात्र अपना जीवन, अपना पेट पालने में, संतान उत्पत्ति में और अपने व्यष्टि कर्मों में लगा देते हैं। धन—सम्पदा एकत्रित करने में और अन्य प्रकार के छल—कपटों से युक्त कार्यों में लगा देते हैं। हम उन कार्यों में अपने मस्तिष्क को और समय को लगा देते हैं जिन चीज़ों की उपलब्धि के लिए पशु भी अपना मस्तिष्क नहीं लगाते और उसी में हम अपनी चतुराई समझते हैं। उसी में अज्ञानवश हम अपने समय का सदुपयोग समझते हैं, जो कि हम मानवों की बहुत भारी भूल है। यह मानव जन्म बहुत दुर्लभ है, यह मानव—मस्तिष्क, मानव—बुद्धि अति दुर्लभ है। इसके द्वारा हम अधिक से अधिक उस ईश्वर के कृत्यों को, उसके चमत्कारों को देखें और जहाँ तक हो सके समझें। उसमें उसकी विशिष्ट स्तुति करें, प्रशसा करें और उसका आनन्द लें।

मानव जीवन के लिए सबसे आवश्यक एव सबसे उपयोगी हवा है, प्रभु ने हमारी देह को निर्माण करने से पहले ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को हवा से युक्त कर दिया है। द्वितीय, जल की आवश्यकता पड़ती है, तो जल के कितने विस्तृत खेत पूरे ब्रह्माण्ड में विराजमान है। उसके पश्चात् विभिन्न वनस्पतियाँ इत्यादि पेट

भरने के लिए जो प्रचुर मात्रा में सब जगह उपलब्ध हो जाती हैं। सबका कहीं न कहीं रहने का, वस्त्रों का सब इन्तज़ाम भी हो जाता है। क्या मानव मस्तिष्क एवं बुद्धि का यही सदुपयोग है, कि हम अपने लिये भौतिक सम्पदाएं और सम्पत्तियाँ एकत्रित करते रहें? बड़े–बड़े राजे–महाराजे, महाराजाधिराज, पृथ्वीनाथ हुए, जो अपने साथ एक तिनका मात्र भूमि भी नहीं ले जा सके। पृथ्वी प्रभु की है, यह सारी सम्पदा, यहाँ का धन, सब ईश्वर का है। इस पर हमें कभी अधिकार करने की चेष्टा बल्कि कुचेष्टा नहीं करनी चाहिए।

बहुत असीम कृपा होती है प्रभु की, जब हमें यहाँ पर मानवोपयोगी साधनों को भोगने का अवसर मिलता है। यदि विचार करके देखें, तो वह तभी हो पाएगा, जब हम यहाँ की भौतिक वस्तुओं को अपना न मानकर चलें। यदि हम उनकी अपने लिए मानकर चलें, तो शायद अपने जीवन काल में उनका भोग कर सकें। **जब किसी भौतिक सम्पदा व सम्पत्ति पर हम अपना अधिकार जमाते हैं कि यह मेरी है, तो समझ लीजिए कि वह सम्पत्ति अथवा सम्पदा उस पुरुष को भोग जाएगी। वह कभी भी उसका आनन्द एवं भोग नहीं ले सकता। जिस वस्तु का हम आनन्द लेना चाहते है, जिसको हम भोगना चाहते है, उस पर हमें आज, अभी अपना अधिकार छोड़ना होगा।** वह वस्तु हमारे लिए है, यह भाव उत्पन्न करना होगा। ईश्वर की सम्पदा है, वह प्रभु की है और हमारे लिए है, मेरे लिए है, जब यह भाव हमारे हृदय में उतर जाएगा, हमारे श्वास में आ जाएगा, हमारे रुधिर में आ जायेगा तो समझ लीजिए कि हम उस ईश्वरीय सम्पत्ति को भोगने के अधिकारी बन जाते हैं।

यह माया, यह ईश्वरीय मन, यह ईश्वरीय शक्तियाँ समस्त ईश्वर की हैं। इस संसार में जब हम लाए जाते हैं, तो जो भी कार्य हमारे द्वारा कराए जाते हैं उनमें से किसी भी कार्य को अपने ऊपर नहीं लादना चाहिए, क्योंकि इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक व इच्छाफल ईश्वर ही है। इन प्रत्येक कर्मों का कारण, कर्त्ता, स्वयं कर्म और स्वयं कर्मफल ईश्वर ही है। जब जन्म–जन्मातरों में हम अज्ञानवश स्वयं इच्छुक बन जाते हैं, इच्छाओं पर अपना अधिकार कर लेते हैं, कि अमुक–अमुक मेरी इच्छा है और ईश्वर इसका फल दे, तो ऐसे में इच्छाएं

परिपूर्ण भी हो जाती हैं और हम सफल से भी हो जाते हैं, लेकिन कभी–कभी वह सफलता या अक्सर वे सफलताएं, हमारी असफलताएं ही होती है।

जैसे ही कोई सम्पदा या सफलता प्राप्त होती है, उसको खोने का भय साथ जुड़ जाता है। लेकिन दैवीय सम्पदाओं को खोने का भय कभी नहीं होता। ऐसे मानव अभय जीवन बिताते हैं। न किसी को वह भयभीत करते है और न उनको कोई भयभीत कर सकता है। ***"न भय काकू देत है, न भय कासू लेत।"*** **वह न स्वयं किसी से बँधते है और न अपने साथ किसी को बाँधते है। किसी भी धर्म अथवा किसी भी कर्म का बन्धन उन्हें नहीं बाँधता।** सारे धर्म उन्हीं के होते हैं। सारे कर्म उन्हीं के होते हैं। उनका जीवन, मुक्त और बन्धन रहित होता है। यह दैवीय सम्पदा बड़ी विलक्षण है, क्योंकि यह दैवीय है। एक बार किसी को इसका थोड़ा सा नशा या स्वाद आ जाए, तो वह किसी भी भौतिक उपलब्धि को उसके सामने टिकने नहीं देता।

एक बार भगवान शकर, माँ उमा, पार्वती के साथ आकाश मण्डल में विचर कर रहे थे। एक शमशान के ऊपर से गुज़रते हुए भगवान शिव ने माँ पार्वती को एक योगी के दर्शन कराए, जो उस महाशमशान में एक चिता के सामने बैठा हुआ, एक मुर्दे की स्वच्छ की हुई खोपड़ी में थोड़ा आटा गूँध रहा था। भगवान शंकर ने कहा कि, "पार्वती यह जो दिगम्बर और नग्न योगी बैठा है, इस वक्त पृथ्वी पर यह हमारा अनन्य भक्त है। इससे बड़ा कोई भक्त नहीं है।" कुछ देर आकाश मण्डल में रुक कर माँ पार्वती ने उसके क्रिया–कलापों को देखा। योगी ने आटे का पेड़ा बनाया और जलती हुई चिता में डाल दिया। जब वह थोड़ा पक गया, उसकी निकाला और थोड़ा नमक लगा कर उसको खा लिया। उस शमशान के किनारे बहती हुई गंगा में अपने हाथ धोए, जल ग्रहण किया, तत्पश्चात वह समीप में ही अपनी गुफा में रेंग कर प्रवेश कर गया और गुफा का द्वार एक पत्थर से बंद कर दिया। उसकी यह स्थिति देखकर, माता पार्वती ने भगवान शकर को कोसा कि, "प्रभु, आपका इतना अनन्य एवं कठिन भक्त कैसा जीवन बिता रहा है? प्रभु। इसके पास न अच्छा कुछ खाने को है, न पहनने को है, न रहने को है।" माता पार्वती के इस भाव को जानने के बाद भगवान शंकर

ने उनको आदेश दिया कि, "उमा, हम इसके जीवन के बारे में तो भूल ही गए थे। आप जाइए और इसके जीवन को और सुन्दर बनाइए।" तो कहते हैं माँ पार्वती ने गुफा का लगा हुआ पत्थर, वहाँ से हटाया। उस योगी की गुफा में प्रवेश किया और हाथ जोड़कर उस योगी को अन्नपूर्णा ने आग्रह किया कि, "हे योगीराज! मैं आपके लिए कुछ स्वादिष्ट व्यंजन, कुछ भोजन लेकर आई हूँ।" उस योगी ने अपने सौम्य मुखारविन्द से, शान्त भाव से अनुमति दे दी। माँ पार्वती ने अपनी योग–शक्ति द्वारा 56 प्रकार के अद्भुत, अनुपम व्यंजन बनाकर तुरन्त उस योगी के सम्मुख उपस्थित किए, जिसको उन्होंने बहुत आनन्दपूर्वक ग्रहण किया। माँ अन्नपूर्णा अन्तर्ध्यान हो गई।

अगले दिन फिर यह उस समय पहुँची और योगी से प्रार्थना की, "हे संत राज! हे महाराज! मैं आपके लिए कुछ भोजन लाँऊ? योगी ने पुनः प्रसन्नतापूर्वक अनुमति दे दी। माँ अन्नपूर्णा ने विभिन्न प्रकार के व्यंजन एकदम उत्पन्न किए अपनी योगशक्ति द्वारा और उस योगी के सम्मुख रखे। उस योगी ने पुनः ग्रहण किए। कुछ दिन यह सिलसिला चलता रहा। तो माता उमा, पार्वती के हृदय में यह विचार आया, कि यह संत स्वादिष्ट भोजन तो करने लगे हैं, लेकिन यदि इनको अन्य सुविधाएं भी उपलब्ध करायी जाएं। तो कितने प्रसन्न होंगे। उन्होंने अज्ञानवश यह आग्रह किया कि, 'भगवन! कल मैं यह स्वादिष्ट भोजन तो ले आंऊगी ही, कुछ अन्य सेवा बताइए।' माँ पार्वती का यह कहना था कि वह योगी तमतमा उठा। उनके नेत्र कोध से लाल हो गये और उन्होंने कहा कि, "यहाँ से चली जाओ, पुनः हमारे पास मत आना, नहीं तो हम तुम्हें श्राप दे देगें, भस्म कर देगें।"

तो माँ पार्वती हैरान होकर वहाँ से भगवान शंकर के पास चली आई। आकर हाथ जोड़कर बोली, "प्रभु। आप भी धन्य है और आपके भक्त भी।" भगवान शंकर ने कहा, कि 'देखो उमा! मेरे भक्तों को भौतिक वस्तुओं से कोई भी रुचि नहीं है। वे मेरे आनन्द में और मेरी भक्ति के आनन्द में इतने परिपूरित रहते हैं कि उनको किसी भी भौतिक वस्तु से कोई लगाव नहीं होता। वे मात्र तुम्हें प्रसन्न करने के लिए स्वादिष्ट भोजन पाते रहें, लेकिन जब तुमने उनको

कल में बाँधा, कि कल मैं आऊँगी और कल मैं अन्य वस्तुएँ लेकर आऊँगी, तो उनको उस समय के बन्धन से मेरे से सम्पर्क टूटता सा महसूस हुआ, इसलिए वे तुम्हें श्राप देने के लिए क्रोधित हुए। मेरे भक्त कभी बन्धन में नहीं बँध सकते। उनको मेरा, मेरी भक्ति का, मेरे सामीप्य का इतना आनन्द होता है, कि वे किसी भी भौतिक पदार्थ को उस आनन्द के लिए नहीं सह सकते है।" तो माँ पार्वती को यह रहस्य समझ में आया।

कहने का अर्थ क्या है कि योगी जो ईश्वर से जुड़ चुका है, जिसका योग हो गया है, वह पूरे महाब्रह्माण्ड के किसी भी भौतिक सुख को कोई भी तूल नहीं देता, उसका कुछ भी महात्म्य नहीं समझता। दैवीय सम्पदा और दैवीय सुख इतने अकाट्य होते हैं, चिरंजीवी होते हैं, विलक्षण होते हैं, कि युग–युगान्तरों तक, जन्म–जन्मान्तरों तक चलते हैं जीव के साथ और ऐसे जीव, जीवन–मुक्त होते हैं। उनको जन्म–मरण के बन्धन भी नहीं बाँध पाते। वह मात्र लीला के लिए संसार में आते हैं और लीला करके चले जाते हैं।

वास्तव में मेरा स्वरूप क्या है? मै कौन हूँ? सब प्रकार से इसकी जानना ही पुरुषार्थ है। सद्गुरु की कृपा से, इष्ट की कृपा से और आत्म कृपा से जब मानव को सब प्रकार के पुरुषार्थ करते हुए अपने स्वरूप का वास्तविक चिन्तन और दिग्दर्शन हो जाता है तो समस्त दैवीय सम्पदाएं जीवन में प्राप्त हो जाती है। उसका दैवीय व्यक्तित्व अति निखर जाता है और वह समस्त रहस्यों का ज्ञाता हो जाता है। स्वयं ईश्वर उसको अपने समस्त रहस्यों से अवगत करा देता है। वह ईश्वरीय सत्ता का रहस्य जान जाता है। स्वयं ईश्वरीय स्वरूप हो जाता है। ऐसे महामानवों, महापुरुषों और संतों को कोटि–कोटि प्रणाम।

।। जय जय श्री राम।।

दिव्य व्यक्तित्व

आज जो विषय मैं आपके सम्मुख रखने जा रहा हूँ, वह अति जीवनोपयोगी और रुचिकर विषय है। हमारे दैनिक जीवन के प्रत्येक पल में इसका एक विशिष्ट महत्व है, कि किस प्रकार हम एक सफल, व्यवहारिक एवं आनन्दमय जीवन बिता सकते हैं?

प्रत्येक व्यक्ति अपने में एक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है और प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न व्यक्तित्वों का एक समूह है। एक व्यक्ति में अनेक व्यक्तित्व छिपे रहते हैं। किसी विशेष काल, परिस्थिति एवं स्थान के अनुसार कोई एक व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है और उसी व्यक्तित्व के अनुसार व्यक्ति का उस समय बाह्य जगत होता है। थोड़ा विचारणीय विषय है कि सामान्यतः हम जिस जगत में विचरते हैं, अपने बाह्य जगत में, संसार में वह उस समय के, हमारे अपने विशिष्ट व्यक्तित्व, जिसमें हम उस समय विचर रहे होते हैं, उसके एकदम समानान्तर होता है। किसी समय जब हमारा कोई अन्य व्यक्तित्व उभर कर आता है, तो उसी के अनुसार हमारा बाह्य जगत परिवर्तित हो जाता है।

हम आराधना करते हैं, ईश्वर की उपासना करते हैं बहुत तन्मय होकर, भावुक होकर, मस्त होकर और उसके दौरान और उसके पश्चात् हमें संसार बदला–बदला नज़र आता है। एक आनन्दमय परिस्थिति बन जाती है। कुछ देर के लिए हमारे विचार बदल जाते हैं, हमारी विचारधाराएं बदल जाती हैं। मन में वैर–विरोध इत्यादि भाव कुछ क्षणों के लिये समाप्त हो जाते हैं। एक प्रेम भाव, एक पारस्परिक माधुर्य की जागृति होती है, शान्ति मिलती है, यह सब आपने अनुभव किया होगा। जितना तन्मय होकर तद्भाव होकर हम ईश्वरीय आराधना करते हैं, कीर्तन, भजन, ध्यान इत्यादि करते हैं, उससे उठने के पश्चात् हम देखते हैं कि बाह्य जगत का रूप कुछ बदला–बदला सा नज़र आता है।

लेकिन वास्तविकता यह है कि उस सगय हमारा भीतरी जगत दिव्य बन जाता है कुछ क्षणों के लिए। इसी प्रकार जब हमारा भीतरी आसुरी जगत उभर कर आता है कामवश, क्रोधवश, लोभवश, मोहवश और अहंकारवश तो हमारा उस समय बाह्य जगत भी उसी के अनुसार बदल जाता है। विशेष मानसिक

तनाव, क्लेश और विक्षेप की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। हमारा बाह्य जगत और बाह्य संसार की वस्तुएँ हमारे लिए एक मानसिक तनाव का हेतु बन जाती हैं। माया के तीनों गुण सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण, इनके अनुसार हमारे व्यक्तित्व के भी तीन प्रकार हैं सतोगुणी व्यक्तित्व, रजोगुणी व्यक्तित्व और तमोगुणी व्यक्तित्व। जिस समय किसी रजोगुणी व्यक्तित्व का पदार्पण होता है, प्रादुर्भाव होता है, प्रगटीकरण होता है, तो उस समय हमारे बाह्य जगत में एक खलबली मच जाती है, एक भाग—दौड़ का वातावरण बन जाता है और वैसे ही दृश्य हमारे सम्मुख घूमने लगते हैं, दृष्टिगोचर होते हैं। यह प्रत्येक व्यक्ति की, प्रतिदिन की, दैनिक जीवन की समीक्षा है, जो हम आपके सम्मुख रख रहे हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में अनेक व्यक्तित्व हैं और इनका हमने माया के गुणों के अनुसार विभाजन किया है। तीन प्रकार के व्यक्तित्व सतोगुणी, रजोगुणी एवं तमोगुणी होते हैं। जिस समय हमारा जो व्यक्तित्व उभर कर आता है, प्रकट होता है, हमारे मानसपटल पर, तो हमारी देह और उस समय का हमारा बाह्य जगत उसी के अनुसार व्यवहार करता है। इसका एक दूसरा पहलू भी है, कि जिस समय हमें किसी विशेष परिस्थिति में प्रवेश करना हो, हमें विशेष स्थान पर, विशेष परिस्थितियों में जाना पड़े, विशेष व्यक्तियों से मिलना पड़े, तो उस समय यदि हम थोड़ा मानसिक चिंतन द्वारा, परिस्थिति का सही आकलन कर लें, विचार द्वारा, बुद्धि द्वारा और उस परिदृश्य और उस परिस्थिति के अनुसार यदि हम अपना व्यक्तित्व उभार लें, तो हम उस परिस्थिति को निबटने में सफल हो जाते हैं। हमारी वेश—भूषा, हमारी भाषा, हमारा उस समय सम्पूर्ण प्रगटीकरण, उस परिस्थिति के अनुसार यदि हम चतुरतापूर्वक, बुद्धिमत्तापूर्वक उभार लें, तो हम एक सफल मानव कहलाते हैं।

जीवन में दो प्रकार की परिस्थितियाँ होती हैं। एक है—स्वतः जो प्रायः हमारे सम्मुख हमारा जगत होता है स्वतः भाव से। उस समय हमारे एक विशेष व्यक्तित्व का, जो उस समय, जिनमें हम विचर रहे हैं, उसका बाह्य प्रगटीकरण होता है, जो अज्ञातरूप से हमारे सम्मुख होता है। दूसरी एक विशेष परिस्थितियाँ होती हैं, जिनमें हमको व्यवहारवश, कर्त्तव्यवश या अन्य कारणोंवश उतरना

पड़ता है। उन परिस्थितियों का सही आकंलन करके यदि हम अपना मन, बुद्धि और उस व्यक्तित्व को ऐसा बना लें, जिसे हम कहते हैं मन का बनाना, अपना मन उनके अनुसार तैयार करना, तो हम उन परिस्थितियों को बहुत दिव्यता और सफलता से आनन्दपूर्वक झेल लेते हैं और हमारी भूमिका एक अविस्मरणीय भूमिका होती है।

आपने श्री हनुमान जी के चरित्र में देखा होगा ***"सूक्ष्म रूप धरि सियही दिखावा", " विकट रूप धरि लंक जरावा", "भीम रूप धरि असुर संहारे ", "मसक समान रूप कपि धरी।"*** यह जो हनुमान जी ने रूप धारण किए, वे रूप उनका उस समय का व्यक्तित्व था, जिसको उभार कर उस समय प्रकट किया गया, उस विशिष्ट परिस्थिति को निबटने के लिए। माता सीता के सम्मुख खड़े हैं, बड़ी करुणामयी, ममतामयी माँ हैं। अपने कष्ट में विह्वल हैं माँ, प्रभु ही राम के विछोह में, तो ऐसे समय में उनको सान्तवना देने के लिए ***"सूक्ष्म रूप धरि सियही दिखावा"*** हनुमान जी छोटे से रूप में उनके सामने प्रकट होते हैं। जब वह लका दहन करते हैं, तो बहुत विकट रूप धारण कर लेते हैं और राक्षसों का वध करने के लिए भीम रूप, अति विशालकाय रूप धारण कर लेते हैं, जिसको देखने मात्र से राक्षस भयभीत हो जाएं और मैदान छोड़कर भाग जाएं।

एक बार की घटना है, जो महाभारत काल में घटी, आप में से काफी लोगों ने इसका श्रवण किया होगा, कि जब भीम 'गन्धमादन पर्वत' पर कुबेर के बाग से द्रोपदी के लिये पुष्प लेने जा रहे थे, तो उस पर्वत पर हनुमान जी का निवास था। उनको जब भीम के आगमन की सूचना मिली, तो वे एक बहुत दुर्बल कपि का रूप धारण करके, अपनी पूँछ को मार्ग में बिछाकर लेट गए। उधर भीम जी बड़े अभिमान से, बडे गर्व से, बल से चले आ रहे हैं। उन्होंने पूँछ का लंघन करना उचित नहीं समझा और वानर से प्रार्थना की, 'अपनी पूँछ हटाइए।' उस अति क्षीण और रुग्ण से बने हुए कपि ने प्रार्थना की कि "मैं बहुत कमज़ोर हूँ, अबल हूँ, आप मेरी पूँछ स्वयं हटा दीजिए।' कहते हैं कि भीम ने बहुत प्रयत्न किया, मगर ज़रा सी भी वह पूँछ उनसे हट नहीं सकी। अन्ततः वह हाथ जोड़कर खड़े हो गए। उन्होंने इस कपि का परिचय पूछना चाहा, तो

हनुमान जी अपने स्वरूप में प्रकट हो गए। कहते हैं, कि हनुमान जी ने आग्रह किया, कि वे पुष्प लेने के बाद आते समय उनके पास रुकें। भीम जब पुष्प लेकर आए, उसी स्थान पर हनुमान जी से फिर उनकी भेंट हुई। हनुमान जी अपने वृद्ध रूप में उनके सम्मुख बैठे, भगवान श्री राम का और उनके प्रति भक्ति भाव का वर्णन करने लगे। उनके नेत्रों से अश्रु बह रहे हैं, बहुत ही भावुक चेहरा है उनका। भीम जी को उनका यह रूप देखकर संदेह हुआ, कि यह वही हनुमान जी हैं, जिन्होंने इतना विशाल, भयानक, राम–रावण का युद्ध लड़ा और अति विशालकाय भयानक राक्षसों का संहार किया! यह जो हनुमान जी का व्यक्तित्व मेरे सामने बैठा है, उस भयानक युद्ध को क्या इसने सचमुच किया होगा? भीम जब अपने आपको रोक न पाए, तो उन्होंने यह प्रश्न हनुमान जी के आगे कर ही दिया कि "प्रभु, क्या आपने वास्तव में विशालकाय और भयानक राक्षसों को मारा है?" मुझे तो विश्वास नहीं होता। हनुमान जी ने कहा कि, "हे भीम! श्री राम जी की ऐसी कृपा थी। उनकी कृपा से, उनकी शक्ति से हमने ऐसा किया।"

भीम के बार–बार आग्रह करने पर कि हमें अपना वह रूप दिखाइए। जिस विशिष्ट रूप में आपने मायावी और विशालकाय राक्षसों का संहार किया। हनुमान जी ने भीम से प्रार्थना की कि, "आप हमारा वह रूप मत देखिए, चूंकि आप उस रूप को नहीं देख पाएंगे, वह इतना भयानक रूप है मेरा, कि उस रूप को देखकर आप मूर्छित हो जाएंगे और आपकी मृत्यु भी हो सकती है।" भीम बड़े अचम्भे में पड़ गए कि, "ऐसा भयानक रूप, कि जिसको देखकर मैं मृत्यु को प्राप्त हो सकता हूँ।" यह सुनकर भीम फिर आग्रह करने लगे कि, "मैं आपका वह रूप देखना चाहता हूँ।" तो हनुमान जी ने इनके सम्मुख खड़े होकर उनको एक सलाह दी कि, "देखिए हम अपने उस रूप में प्रवेश करने जा रहे हैं और जब आप अति भयभीत हो जाएं, क्योंकि उस रूप में मुझे सिवाय भगवान श्रीराम के नाम के, न कोई बात सुनती है, न दीखती है, तो तुम जय श्री राम, जय श्री राम कहते हुए मेरी परिक्रमा करना, फिर मैं अपने इस पुराने रूप में, उस निर्मल स्वरूप में आ जाऊँगा।"

इसके पश्चात् हनुमान जी ने अपनी देह को विशाल, विशालकाय, अति विशाल करना शुरु किया, जय श्री राम! जय श्री राम! का नाद करते हुए और कुछ क्षणों के बाद उनका अति भयानक और अग्नि के समान तपता हुआ रूप, लाल नेत्र, खड़े हुए बाल और अति विशाल स्वरूप जब भीम के सामने प्रकट होने लगा, तो भीम उस स्वरूप को देखकर कम्पायमान हो गए, कम्पित होने लगे, आखिर में उन्होंने 'जय श्री राम' का उच्चारण करते हुए हनुमान जी की परिक्रमा की और हनुमान जी पुनः अपने सौम्य स्वरूप में आ गए।

यह कथानक, कहानियाँ सारगर्भित हैं। अब क्या प्रत्येक व्यक्ति ऐसा कर सकता है? यह यदि असम्भव नहीं, तो अति कठिन अवश्य है। क्योंकि परिस्थिति के अनुसार जब हम मानव की नाईं अपनी देह, अपना आकार और अपना स्वरूप बदलते हैं, तो उसमें बदलाव अवश्य होते हैं, हमारी शक्तियाँ उस समय उस स्वरूप के अनुसार बढ़ या घट जाती हैं। यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है, कि एक साधारण वृद्ध व्यक्तित्व हनुमान जी, जब अपने उस स्वरूप में आ जाते हैं तो इतने विशालकाय और बलशाली हो जाते हैं, कि भीम जैसा व्यक्ति उसको देखकर कम्पायमान हो जाता है।

साधारण व्यक्ति भी—जब किसी क्रोध मुद्रा में होता है, तो उसको देखकर दूसरे व्यक्ति को भय लगने लगता है, लेकिन यदि उस विशिष्ट मुद्रा में, साथ में दिव्यता हो, तो उसकी शक्ति अपार हो जाती है। जिस प्रकार हनुमान जी को भगवान श्री राम का वरदान था, इसी प्रकार यदि हम उस स्वरूप में आकर दिव्यता का सहारा ले लेते हैं, ईश्वर के बल का सहारा लेते हुए ईश्वर के शरणागत होकर अपने उस समय के व्यक्तित्व को उभारते हैं, उस पर ध्यान करते हैं, तो हमारा एक परिपूर्ण व्यक्तित्व जागृत हो जाता है और उस व्यक्तित्व की, उस समय की शक्ति, हमारी शारीरिक, भौतिक एव बौद्धिक शक्ति की गणना से कहीं अधिक होती है। यह तभी संभव है यदि हम उस व्यक्तित्व में दैवीय शक्तियों का प्रयोग करें, उसमें दिव्यता का समावेश करें उसको दैवीय शक्तियों के साथ अभ्यास द्वारा श्रद्धा और समर्पण द्वारा जोड़ दें।

हमारे दैनिक जीवन में और हमारे सम्पूर्ण जीवन में हमको यह कला बहुत

सफलता देती है और जीवन को आनन्दमय बनाने में बहुत सहायक हो जाती है। अक्सर जब हम जीवन में असफल होते हैं, तो उस असफलता का मुख्य कारण यह रहता है, कि परिस्थिति के अनुसार हम अपने आपको ढाल नहीं सकते। उस परिस्थिति को हम सफलतापूर्वक निबट नहीं सकते, तो वह हमारी असफलता का कारण बन जाती है। माँ भगवती जगदम्बा के 108 रूप हैं, तो 108 रूप उस महाशक्ति के विभिन्न 108 सफल व्यक्तित्व हैं। जब वही शक्ति, वही सौम्य जगत जननी माँ राक्षसों का संहार करने के लिए युद्ध के मैदान में उतरती है, तो वह महाकाली बन जाती है, अति भयभीत कर देती है। उसकी देह का रूप–सा बदल जाता है। वह राक्षसों को अति भयभीत लगने लगती है और देवताओं को उसके उस स्वरूप को देखकर अति प्रसन्नता होती है। उस स्वरूप में महाकाली बनकर प्रवेश करना शक्ति के लिए आवश्यक होता है, क्योंकि सौम्य रूप में वह असुरों का संहार नहीं कर सकती। कभी वही माँ पार्वती बन जाती है, कभी वही शक्ति लक्ष्मी बनती है, कभी सरस्वती बनती है, महाकाली दुर्गा, महिषासुर मर्दनी, नयनादेवी, चामुण्डा देवी, न जाने वह शक्ति, विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के अनुसार, क्या–क्या स्वरूप धारण करती है, अपने भक्तों के कल्याण के लिए। यह रूप परिवर्तन, यह व्यक्तित्व का बदलाव एक बहुत बड़ी कला है।

जब रावण, माता सीता का अपहरण करके ले जाता है और शिकार से लौटने के बाद जब प्रभु श्रीराम पंचवटी आश्रम को सूना पाते हैं, तो उनको बहुत कष्ट होता है। माता सीता को वहाँ न पाकर उनकों ढूँढते फिरते हैं। पशुओं से, पक्षियों से, लताओं से, वृक्षों से वह पूछते फिरते हैं रोते हुए कि, "मेरी सीता को आपने देखा है"? विलाप करते हैं, रुदन करते हैं। उस समय आकाश में भोले बाबा शंकर और स्वयं सती जा रहे हैं। भगवान शंकर प्रभु श्रीराम के इस रूप को देखकर मंत्रमुग्ध हो जाते हैं और खड़े होकर उनको प्रणाम करते हैं, कि "सच्चिदानंद! आपकी जय हो।" लेकिन उस स्वरूप को देखकर माँ सती को संदेह हो जाता है, कि यह साधारण राजकुमार जो अपनी स्त्री के विलाप में रो रहा है और पागलों की तरह, दीवानों की तरह पेड़–पक्षियों से उसका पता पूछ

रहा है, यह सच्चिदानंद पारब्रह्म कैसे हो सकता है? आगे आपने कथा सुनी होगी कि सती भगवान शंकर की इच्छा के विरुद्ध भगवान श्रीराम की परीक्षा लेती हैं और अन्ततः वह झेप जाती हैं।

जब भी अवतारी पुरुष, प्रभु के अवतार पृथ्वी पर लीला करने के लिए उतरते हैं, तो विभिन्न परिस्थितियों में इन्होंने अपने ऐसे स्वरूप बनाए हैं, कि साधारण मानव के लिए या शंकालू व्यक्तियों के लिए यह एक संदेह का विषय बन जाते हैं, जैसे योगीराज भगवान श्री कृष्ण ने, परम असंग महायोगी, महायोद्धा बनकर संसार में आकर विभिन्न प्रकार की लीलाएँ कीं। विशिष्ट ज्ञान स्वरूप बनकर गीता का प्रवचन दिया। महायोद्धा बनकर महाभारत के युद्ध में उन्होंने अपना परिचय दिया। अति निर्मल प्रेमी बनकर गोपियों के साथ रास रचाई एवं परम सखा बनकर सुदामा के साथ व्यवहार किया। तो ये पूर्ण व्यक्तित्व अपने में सम्पूर्ण थे। उस विशिष्ट व्यक्तित्व को देखकर लोग कभी–कभी भ्रमित हो जाते हैं और इनको आलोचना का विषय बना लेते हैं। यह तो साक्षात् अवतार हुए हैं। ईश्वरीय शक्तियों ने स्वयं पृथ्वी पर जन्म लिया है।

लेकिन एक साधारण मानव के जीवन में भी यह परम सत्य है, कि परिस्थितियाँ जो स्वतः हमारे सामने, जिस समय होती हैं, तो जाने या अनजाने में हमारे विशिष्ट व्यक्तित्व का बाह्य प्रगटीकरण होता है और जब हमें जानबूझ कर किसी विशेष परिस्थिति में उतरना पड़े, तो उस परिस्थिति का अपने विचारों से, अपनी बुद्धि से, सही आकलन करने के पश्चात् यदि हम वैसा नाम–रूप, वेश–भूषा और व्यक्तित्व को उभार लेते हैं, तो उस परिस्थिति से निबटने में हम सफल हो जाते हैं। हम प्रशंसा का हेतु बन जाते हैं, आलोचना का नहीं और यदि उस व्यक्तित्व के साथ हम दैवीय स्पर्श दे दें, तब तो बात ही क्या है ? जब हम दैवीय स्पर्श दते हैं, ईश्वरीय स्पर्श कर देते हैं उस परिस्थिति का और ईश्वर अर्पण होकर, समर्पित होकर जब हम उस भाव में विचरते हैं, तो हमारा बाह्य प्रगटीकरण अद्वितीय होता है, असाधारण होता है। किसी भी व्यक्ति में साधारण शक्ति तो होती है, लेकिन जब देव कृपा हो जाती है तो असाधारणता अविस्मरणीय हो जाती है। युगों–युगों तक उस शक्ति को याद किया जाता है।

उस स्वरूप को याद किया जाता है।

जो ईश्वर आराधक हैं, प्रभु के भक्त हैं, प्रभु से सम्बन्ध है जिनका, वही व्यक्तित्व दैवीय होते हैं चाहे वे सात्विक हो, रजोगुणी हों अथवा तमोगुणी हों। मैं इसका एक व्यवहारिक सत्य आपके सम्मुख खोलने जा रहा हूँ, वह यह कि हमारा साधारणता सम्पूर्ण जीवन एक निरर्थक दौड़ में निकल जाता है। बाह्य जगत की निरर्थक दौड़। कभी हम कुछ प्राप्त कर लेते हैं, तो क्षण भर के लिए प्रसन्न हो जाते हैं। कभी हम कुछ खो देते हैं, तो निराशा में चले जाते हैं। सुख–दुःख, खोना–पाना और उसी के अनुसार सुखी–दुखी होना यह एक साधारण जीवन का चक्र है। परन्तु यदि हम इस वास्तविकता को आत्मसात् कर लें, कि बाहर जो जगत है, वह है ही नहीं और जिसको हम खोना या पाना, सफलता या असफलता कहते हैं, वह उस समय के हमारे व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। बाह्य जगत में जब हम किसी वस्तु की प्राप्ति का अनुभव करते हैं, तो हमें प्रसन्नता होती है, लेकिन वह प्राप्ति हमारी बाहर से नहीं होती। आपको सुनने में बड़ा अटपटा लग रहा होगा। यह धन की, स्त्री की, सन्तान की, किसी पद की, सम्पदा की, नाम की, यश इत्यादि की प्राप्तियाँ जब हमें बाह्य जगत में होती हैं, तो वे प्राप्तियाँ कहीं बाहर से नहीं होती, बल्कि हमारे उस समय के भीतरी जगत का बाह्य प्रगटीकरण है।

हमारा जो व्यक्तित्व है उसका वह बाह्य प्रगटीकरण है बिलकुल भीतरी जगत के अनुसार। यदि हम अपने अन्तर्जगत में अति सूक्ष्मता से विचार करें और हम अपना वह व्यक्तित्व विकसित करें, मान लीजिए **हम धनवान बनना चाहते हैं, तो हमें एकाग्र करके अपने धनवान व्यक्तित्व को अन्दर से उत्पन्न करना होगा।** बड़ा विचारणीय विषय है और किसी भी सफल मानव के लिए यह गुह विद्या है। जो हम चाहते हैं **बाह्य जगत में, उसके अनुसार यदि हम अपना व्यक्तित्व एकाग्रता पूर्वक, ईश्वर इच्छा से, साधना से विकसित कर ले, तो हमारे सन्मुख बाह्य जगत वैसा ही प्रकट हो जाएगा** और यदि बाह्य जगत में हमारे पास धन इत्यादि सब कुछ आ भी गया हो और उसके अनुसार हमारा व्यक्तित्व विकसित नहीं हुआ, तो हम उन वस्तुओं का

उपभोग, उपयोग, भोग और आनन्द नहीं ले सकते। तो सर्वप्रथम, **जैसा हम चाहते हैं उसके अनुसार हमें अपना मन, अपना हृदय, अपना व्यक्तित्व बनाना होगा। यदि हम अपने भीतरी जगत में साधना द्वारा यह परिवर्तन घर में बैठे–बैठे एकांत में बैठकर ले आएं, तो हम देखेंगे कि देर या सवेर हमारा वही व्यक्तित्व बाह्य जगत में प्रकट हो जाता है, जो एक नितांत सत्य है, अन्तिम सत्य है और मात्र सत्य ही है।**

अज्ञानतावश, हम बाहर की दौड़–धूप में लगे रहते हैं और अपने उस व्यक्तित्व का निर्माण करना भूल जाते हैं। बाह्य जगत में यदि हमको कुछ उपलब्धियाँ हो भी जाएं, तो उसके अनुसार, अपने व्यक्तित्व के अभाव के कारण हम उनका उपभोग नहीं कर सकते। इसलिए बहुत धन होने के बावजूद भी उसका उपभोग नहीं कर सकते। अन्य बहुत भौतिक शक्तियों से परिपूरित होने के पश्चात् भी क्षीण और दुर्बल ही रहते हैं अर्थात् बाह्य शक्तियों का उपभोग करने के लिए उनके अनुसार हमको अपना व्यक्तित्व विकसित करना परम आवश्यक है, यही साधना है और कभी उस व्यक्तित्व के साथ अगर हम दैवीय स्पर्श दे दें और ईश्वर को, स्वयं को समर्पित करके हम अपने उस व्यक्तित्व को विकसित करें, तो हमारे उस भौतिक आनन्द में भी दिव्यता आ जाती है। एक विशेष आनन्द की परिस्थिति होती है, जिसका अनुभव हम स्वयं कर सकते हैं, भले ही वह हमारा सतोगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी व्यक्तित्व हो। उस परिस्थिति के अनुसार हमको स्वरूप क्या धारण करना है और उस स्वरूप को यदि हम दैवीय स्पर्श दे दे, ईश्वरीय समर्पित होकर यदि हम वह स्वरूप बनाए तो उसमें एक विलक्षणता आ जाती है और इसी को सिद्धि भी कहते हैं। प्रत्येक स्वरूप में हमको सिद्धि हो जाती है, कि इस समय मैं क्या स्वरूप धारण करूँ ? उस स्वरूप के साथ यदि ईश्वरत्व का, उन ईश्वरीय शक्तियों का सम्मिश्रण हो जाए। उस स्वरूप और उस व्यक्तित्व की शक्तियाँ हमारी गणना से कहीं अधिक हो जाती हैं। शायद सिद्धियों के पीछे यही रहस्य छुपा हुआ है।

यदि हम संसार का, प्रत्येक वस्तु का, प्रत्येक परिस्थिति का, आनन्द लेना चाहते हैं, तो उसके अनुसार अपना दिव्य स्वरूप धारण करने की एक क्षमता

और उस स्वरूप अर्थात् व्यक्तित्व को उभार कर सामने लाने की क्षमता, उस समय के देश और काल के अनुसार, स्थान के अनुसार यदि वह व्यक्तित्व हम उभार सकते हैं अपने भीतर से, तो हम एक सफल मानव कहलाते हैं। इस सत्य को आप अपने नित्य के जीवन में अभ्यास कर सकते हैं, तो आप पाएंगे, कि हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक सफल मानव होकर उतरते हैं और आनन्दमय जीवन व्यतीत करते हैं।

जब हम ईश्वरीय आराधना करते हैं, उपासना करते हैं, ध्यान करते हैं, समाधि में जाते हैं, तो हमारा सम्बन्ध उन ईश्वरीय शक्तियों के साथ हो जाता है, ईश्वरीय कृपा के साथ हो जाता है, जिसका अनुभव हम समाधि से उठने के बाद करते हैं। उस विशिष्ट ईश्वरीय सत्ता के साथ सम्पर्क होने के बाद जीवन में परिस्थितियों के अनुसार जब हम अपना रूप धारण करते हैं, कभी विशाल रूप, कभी सूक्ष्म रूप, कभी भयानक रूप तो हमारे प्रत्येक स्वरूप में एक दिव्यता आ जाती है और उस दिव्यता से बहुत सुन्दरता पूर्वक हम उस परिस्थिति से निबटते हैं। वह एक घटना बन जाती है, एक इतिहास बन जाती है। आज जब हम इतिहास के पन्नों को पलट कर देखें, तो जो कारनामें योद्धाओं ने, वीरों ने, बुद्धिजीवियों ने किए, वे शायद उनके उस व्यक्तित्व के फलस्वरूप थे, जो कि एक साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता। वे घटनाएँ एक इतिहास बन जाती हैं। लोगों के लिए पदचिन्ह छोड़ जाती हैं। एक विचार का विषय बन जाती हैं। समय रूपी रेत पर यह छूटे पदचिन्ह एक समय आने वाली पीढ़ियों के लिए मार्ग दर्शक बन जाते हैं। रेत पर पदचिन्ह मिटने में समय नहीं लगता, लेकिन जब उसमें दैवीय स्पर्श होता है, तो वे अमिट रहते हैं।

ऐसा देखने में और अनुभव करने में आता है, कि प्रत्येक व्यक्ति का एक विशेष प्रधान व्यक्तित्व होता है, उसका एक विशेष हाव–भाव, चाल, उसकी विशिष्ट प्रकृति और सामाजिक छाप, होती है, जिसके कारण वह समाज में जाना जाता है। लेकिन उस व्यक्तित्व के अतिरिक्त, कई अन्य व्यक्तित्व भी उसमें छुपे रहते हैं और हो सकता है, कि उन व्यक्तित्वों का उस व्यक्ति के विशेष व्यक्तित्व के साथ कोई सम्बन्ध न हो। यही कारण है कि एक व्यक्ति का विभिन्न

परिस्थितियों में, देश में, काल में व्यवहार भिन्न–भिन्न होता है। जिसको देखकर कभी–कभी उसके साथ रहने वाले व्यक्तियों को आश्चर्य हो जाता है, कि क्या यह वही व्यक्ति है बहुत शांत प्रकृति के व्यक्ति कभी इतने उग्र हो जाते हैं, कि उनकी स्वयं अपने ऊपर अचम्भा होने लगता है।

तो यह व्यक्ति और व्यक्तित्व एक जटिल परन्तु बहुत सामान्य विषय है और यहाँ यह जान लेना अति आवश्यक है, कि प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्येक व्यक्तित्व नहीं होता। यही कारण है कि कुछ व्यक्तियों को भले ही कितना समझाया–बुझाया जाए, भले ही उनकी कैसी ही परिस्थितियाँ ही, वह किसी विशिष्ट विचारधारा में या व्यक्तित्व में कभी नहीं विचर सकते। जिस प्रकार कि गीली लकड़ी को जलाना अति कठिन होता है। परन्तु कुछ व्यक्तित्व मात्र तनिक प्रेरणा से एकदम बदल जाते हैं। उनका वह व्यक्तित्व जिसके लिए उनको प्रेरित किया जाता है, एकदम उभर कर सामने आ जाता है और उसी के अनुसार उनका बाह्य संसार व्यवहार करने लगता है, परिवर्तित हो जाता है, जो उनके स्वयं के लिए व समाज के लिये एक अचम्भा हो जाता है। इसलिए जिसको हम एक व्यक्ति कहते हैं, यह हमारी भूल है।

एक व्यक्ति अनेक व्यक्तित्वों का एक समूह है, जो समय और परिस्थिति के अनुसार प्रकट होते रहते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि उत्प्रेरकों के अनुसार उसके विशिष्ट व्यक्तित्व प्रकट होते हैं जो उसके व समाज के लिए एक विभिन्न विशिष्टता रखते हैं, घातक भी हो सकते हैं और परम सहायक भी हो सकते हैं। कभी भी कोई व्यक्ति जब असाधारण कहलाता है, तो यह परम आवश्यक है कि वह दिव्यता से ओत–प्रोत हो, दिव्यता ही उसकी असाधारणता की कसौटी है। इसलिए यह आवश्यक है कि **यदि हम जीवन के प्रत्येक पहलू को अति आनन्दमय जीना चाहते हैं, अविरल आनन्द में जीवन बिताना चाहते हैं, तो हमें अपने जीवन के प्रत्येक पहलू में कर्म करते हुए और सब प्रकार के व्यवहार करते हुए स्वयं को ईश्वर समर्पित करना आवश्यक है। ईश्वर समर्पण से ही हमारा जीवन दिव्य हो जाता है और वही किसी के लिए अनुकरणीय बन सकता है, अन्यथा नहीं।**

ईश्वरीय उपासना हम क्यों करते हैं? भगवत दरबार में हम क्यों बैठते हैं ? क्यों चाहते हैं हम ईश्वर का सामीप्य? उस समय एक विशेष बहाव उत्पन्न होता है। एक विशेष व्यक्तित्व उभर कर बाहर आता है, जो दिव्य होता है। जब हम दिव्य के समीप रहते हैं, उसका संग करते हैं, तो हमारा दिव्य व्यक्तित्व उभर कर बाहर आता है। **जहाँ दिव्यता होती है, वहाँ ऐश्वर्य होता है। जहाँ ईश्वर है, वहाँ ऐश्वर्य है, जहाँ ईश्वरत्व है, वहाँ ऐश्वर्य है।** तो यदि हम अपने दैनिक जीवन में कुछ क्षण उस प्रभु के सामीप्य में अगाध श्रद्धा एवं प्रेम से बिता दें, तो हमारा दिव्य व्यक्तित्व उभर आएगा और उस दिव्य व्यक्तित्व के प्रकट होने से हमारा बाह्य जगत ऐश्वर्यपूर्ण होगा। यही एक बात बहुत विचारणीय और गहन है, वह यह कि वस्तुओं की प्राप्ति ही ऐश्वर्य का द्योतक नहीं है, क्योंकि मानव देह नश्वर है। जो पैदा हुआ है वह एक दिन मृत्यु के ग्रास में अवश्य चला जाएगा। यहाँ की सम्पत्ति, सम्पदा, ऐश्वर्य, भोग की वस्तुएँ, स्त्री, पुत्र, इत्यादि, ये हमारे साथ नहीं चलते, ये समस्त वस्तुएँ यहीं रह जाती हैं।

कितना दुर्भाग्य है कि हम उन वस्तुओं को एकत्र करने में, संचित करने में, जीवन का बहुमूल्य समय निरर्थक बिता देते हैं। यदि हम उस समय का लघुमात्र हिस्सा भी, अपने उस ऐश्वर्यवान व्यक्तित्व के प्रकट करने में लगा दें, उस दिव्यता को प्रकट करने में लगा दें, ईश्वर की समीपता में, तो हम पाएंगे कि भले ही वस्तुएँ हमको प्राप्त न हो, हमको उन वस्तुओं को भोगने का अधिकार प्राप्त हो जाता। इस संसार में जब हम किसी वस्तु पर अपनी मोहर लगा देते हैं, कि यह मेरी है, यह बात अति विचारणीय है, कि जब किसी वस्तु पर **'मेरा'** भाव आ जाता है, तो वह वस्तु दायित्व बन जाती है। जहाँ हमारा किसी चीज़ से बंधन हो जाता है, तो वह हमारे लिए कभी न कभी कष्टमयी अवश्य हो जाती है। **यदि इस संसार में हम आनन्दपूर्वक जीना चाहते हैं, तो यहाँ की किसी वस्तु पर अपना अधिकार मत रखिए। यही का समस्त ऐश्वर्य, समस्त सम्पदा, यही की सब चीजें हमारे लिए हों।** क्या यह कम है, कि ईश्वर के दरबार में बैठकर जब हमें उससे अति मोह हो जाये, तो उसकी वस्तुओं पर हमें अपना अधिकार सा लगने लगे, यह बहुत बड़ी उपलब्धि है।

हमारे पिता की समस्त सम्पदा पर, सम्पत्ति पर, धन पर हमारा अधिकार होता है और जिन पुत्रों में से कोई अति श्रद्धालु पुत्र हो, तो पिता की वस्तुओं पर उसका विशेष अधिकार होता है। उन वस्तुओं को प्राप्त करने की उसकी इच्छा नहीं होती, उनका भोग उसके अधिकार में होता है, क्योंकि वे समस्त वस्तुएँ उसके लिए होती है। मात्र उसके लिए!

सर्वशक्तिमान, कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड नायक, महासम्राट, महाराजधिराज और समस्त ब्रह्माण्ड के एक छत्र स्वामी उस ईश्वर को जब हम पिता भाव में मानकर उसकी समीपता में जाते हैं और उसके साथ श्रद्धा और मोह हो जाता है तो उसका एक प्रमाण है, कि इस पूरे ब्रह्माण्ड की समस्त ऐश्वर्यदायिनी वस्तुएँ हमारे अपने लिए हो जाती हैं, हमारी नहीं। उस समय साधक में वस्तुओं को, धन को, सम्पत्ति को एकत्रित करने की भावना समाप्त हो जाती है। यहाँ तक कि जब प्रारब्धवश या परिस्थिति वश किसी वस्तु की उसको प्राप्ति होती है, तो उसको कोई विशेष प्रसन्नता नहीं होती, यह एक उपासक का जिसको कि ईश्वर से मोह हो जाये, प्रमाण है।

जिस प्रकार कि किसी बालक को अपने पिता के नाम से ही संतुष्टि होती है, अपने पिता के नाम के साथ ही अपना नाम जोड़कर उसको प्रसन्नता होती है, उसको नशा होता है, कि मै उस पिता की संतान हूँ, तो इसी प्रकार साधक को अपने नाम व यश की अलग से पहचान बनाने की आवश्यकता नहीं होती और न ही इच्छा होती है। उसके हृदय में, मस्तिष्क में, मन में एक अति विशेष नशा सा रहता है, कि वह उस सर्वशक्तिमान परमात्मा के सामीप्य में है, उससे जुड़ा हुआ है और उसके सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में समस्त ऐश्वर्य, भोग व वस्तुएँ उसके लिए हैं तो किसी वस्तु पर वह अपनी भौतिक प्राप्ति की इच्छा नहीं करता। वास्तव में यह एक अद्वितीय आनन्द की स्थिति है।

जहाँ हम अलग से अपनी पहचान बनाना चाहते हैं, तो समझिए हम अति संकीर्ण दायरे में विचर रहे हैं। यद्यपि यह हमारा दोष नहीं है तथापि हमको स्वयं में अपनी शक्ति का निर्णय होना आवश्यक है, कि हम कहाँ हैं? जैसे–जैसे हमें ईश्वरीय सत्ता से मोह होता जाता है, हम धर्मातीत हो जाते हैं। संसार के, सम्पूर्ण

विश्व के सारे धर्म हमें अपने से लगते हैं। हम सब का सम्मान करते हैं, क्योंकि यह धर्म एक प्रकार की नदियाँ है छोटी–बड़ी जो अन्ततः सागर के अन्तराल में लिप्त हो जाती है, लीन हो जाती है। नदियाँ सागर में जाकर अपनी पहचान खो देती है। वह मात्र सागर बन जाती है।

इसी प्रकार समस्त धर्म एक प्रकार की विभिन्न धाराएँ हैं, जो उस आध्यात्मिक जगत, उस महासत्ता, ईश्वर रूपी सागर में हमको ले जाती हैं। उस समय हमारी एक धर्मातीत, कालातीत और वर्णनातीत स्थिति होती है। वहाँ समय का भास नहीं होता। उस अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता। एक विशेष आनन्द होता है, उसमें एक मुदिता होती है जो अवर्णनीय है। जिसको बुद्धि सोच नहीं सकती और हमारी वाणी जिसका वर्णन नहीं कर सकती। जिसको लिखा नहीं जा सकता। एक गूंगे का गुड़ है वह, जिसका मात्र अनुभव किया जा सकता है। जहाँ कोई आनन्द वर्णन में आता है, तो समझिए वह भौतिक स्तर पर है, आध्यात्मिक पर नहीं।

सबसे बड़ा कर्म क्या है? कि हम अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्वों में से कहीं कोई दिव्य, दिव्यतम् व्यक्तित्व छिपा हो, तो उसको खींच कर बाहर लाएं। उसके लिए एक वातावरण की आवश्यकता है, भौतिक, मानसिक एवं शारीरिक वातावरण। जब मन्दिरों में ज्योतियाँ जलती हैं, शंखनाद होते हैं, घंटियाँ बजती हैं–सुगंधी होती है, धूप–अगरबत्तियाँ जलती हैं, तो एक मानसिक वातावरण बनता है। जब लय व ताल के साथ कीर्तन–भजन होते हैं, एक मस्ती का वातावरण होता है। तो चाहे वह हमारे इष्ट का दरबार हो, चाहे वह मस्ज़िद हो, गुरुद्वारा हो, गिरजाघर हो या अन्य किसी भी धर्म का धर्मस्थल हो, तो यह वातावरण हमारी दिव्यता को प्रकट करने का उत्प्रेरक होता है।

नित्याध्यासन एवं अभ्यास करते–करते वह दिव्य व्यक्तित्व ही हमारा मुख्य व्यक्तित्व बन जाता है। यह बात बड़ी सूक्ष्म है, इस पर और गौर कीजिए। हम निरन्तर साधना करते–करते अपने उस दिव्य व्यक्तित्व का दिग्दर्शन करते हैं और बाह्य जगत में उसका आनन्द लेते हैं। उस दिव्य आनन्द की जब हमें अनुभूति हो जाती है, तो बार–बार चिंतन, अध्ययन और नित्याध्यासन

करते–करते हमारा वही व्यक्तित्व, हमारा दिव्य व्यक्तित्व ही हमारा सामान्य मुख व्यक्तित्व हो जाता है। इसीलिए साधक जब उस व्यक्तित्व में सिद्ध हो जाते हैं तो उनके जीवन की समस्त रूप रेखा बदल जाती है। वह प्राप्तियों के पीछे नहीं दौड़ते। एक गुफा में या एक साधारण कुटिया में रहते हुए भी वे स्वयं को एक बादशाह और शहनशाह से कम नहीं समझते। न केवल समझते हैं, बल्कि उनमें शहनशाहों जैसे गुण आ जाते हैं। यद्यपि उनकी अपनी प्राप्ति में कुछ नहीं होती। बड़े–बड़े दिग्गज, धनाढ्य उनके पास कुछ न कुछ मांगने के लिए जाते हैं। उनके पास बैठकर शान्ति मिलती है, संतोष मिलता है। यद्यपि वे कुछ बात भी न करें, वही कुछ क्षण बैठकर ऐसा लगता है, जैसे पूरे विश्व का साम्राज्य आपको मिल गया हो और यही संतों की पहचान है, संतोष मिल जाता है, शान्ति मिल जाती है।

तो सुबह उठते ही हम देव दरबार में बैंठे। संध्या के समय बैंठे और जब भी समय मिले, नाम सुमिरन करें, जाप करें ताकि उभर कर आया हुआ हमारा दिव्य व्यक्तित्व बना रहे, फिर कहीं खोने न पाए। जो भी साधन उस व्यक्तित्त्व को बनाने में सहायक हों, वे सारे साधन करें। वे साधन भी व्यक्तिगत हैं। इसके लिए मैं विशेष सुझाव देने की यहाँ आवश्यकता नहीं समझता हूँ। धीरे–धीरे हमारे दिव्य व्यक्तित्व की परिपक्वता हमारा जीवन दिव्य बना देती है। उस वक्त भौतिक जगत की निरर्थक दौड़ का हमको वास्तव में अनुभव होता है, कि किस प्रकार हम समय व्यर्थ कर रहे थे। तो साधना का, ध्यान का, चिंतन का, समाधि का, और पूजन का, हवन इत्यादि का, दान–पुण्य का अर्थ यही है, इसका फल यही है कि हमारा दिव्य व्यक्तित्व प्रकट हो जाए।

यदि इन साधनों के बिना हमारी दिव्यता प्रकट हो चुकी है, तो यह साधन निरर्थक हैं ऐसा माना जाता है। साधना की सीमा क्या है? साधना का चरमोत्कृष्ट क्या है? जब यह लगने लगे, कि मैंने जो भी साधना की, वह निरर्थक ही थी उसकी कोई जरूरत नहीं थी। जब हृदय से यह आभास हो जाए तो समझिए आपकी साधना परिपक्व हो गई है। इन कथनों पर मन से, हृदय से, बुद्धि से विचार करके जब हम चलते हैं, तो हर पल, हर क्षण पर हम

स्वयं निर्णायक हो जाते हैं कि हम कहाँ हैं ? यहाँ हमने दिव्य व्यक्तित्व पर विशेष बल दिया है, कि उस व्यक्तित्व के प्रकट होने से हमारा सम्पूर्ण भीतर और बाह्य जगत ऐश्वर्यपूर्ण हो जाता है। हमारे ऊपर कोई दायित्व नहीं होता। पूरे विश्व का ऐश्वर्य और सम्पूर्ण वस्तुएँ हमारे लिए हो जाती हैं। यद्यपि वे हमारी न हों और न ही उन पर अधिकार करने की हमारी इच्छा होती है। वे हमारे लिए हो जाती हैं और वही दिव्य व्यक्तित्व लिए हम जन्म–जन्मान्तरों में जाते हैं। कुछ न होते हुए भी हम पूर्ण ब्रह्माण्ड को भोगने के अधिकारी हो जाते हैं। यही है जाँच साधना की, ईश्वर की समीपता की।

तो क्या हम साधना इसलिए करें, कि सारा संसार हमारे लिए हो जाए? साधक का कभी भी यह उद्देश्य नहीं होता, कि उसकी साधना का यह फल हो। यह एक स्वतः भाव है, यद्यपि उसका उद्देश्य उस अपने इष्ट की, प्रभु की, ईश्वर की समीपता होती है, लेकिन इस भाव के होते हुए भी जो स्वतः कर्म होता है, वह होता है उसकी दिव्यता का प्रगटीकरण। भौतिक जगत और आध्यात्मिक जगत दोनों उसके अपने अधिकार में हो जाते हैं, उसके लिए हो जाते हैं। अपने इष्ट के नाम से ही वह प्रसन्न हो जाता है, उसकी अपने स्वयं के नाम की इच्छा नहीं रहती–

वे मुझसे पूछते हैं, यह क्या बात है शकील
दुनिया पुकारती है मुझे तेरे नाम से।

इतनी ही मस्ती हो जाती है एक साधक को, एक उपासक को, कि कोई उसको उसके एक के नाम से जानने लगे। यही उसकी प्रार्थना होती है कि, 'प्रभु! तेरे नाम के साथ मेरा नाम जुड़ जाए। मेरे ह्रदय में ही, मैं तुमसे जुड़ जाऊँ तो क्या मेरे लिए यह कम है?" **तो नाम की, अर्थ की, धन की, सम्पदा की, पद की, उसको कोई भी इच्छा नहीं रहती। वे स्वतः ही उसके अधिकार में आ जाती है, उसके लिए हो जाती है। यह दिव्य व्यक्तित्व की पहचान है।**

साधारण जगत की वस्तुओं पर अपना अधिकार जमाने के लिये व्यक्ति दौड़–भाग रहा है, सम्पत्ति के लिए, पद के लिए, अन्य शक्तियों के लिए, पर हम यह भूल जाते हैं, कि उस ईश्वरीय सत्ता का सम्पूर्ण अधिकार विश्व की समस्त

शक्तियों पर है, बल्कि सब शक्तियाँ उसी की है। यह मन, यह मायिक शक्तियाँ, यह सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी शक्तियाँ, समस्त ग्रह, नक्षत्र और समस्त आध्यात्मिक शक्तियाँ उस एक ही महाशक्ति से निकलती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं। हम निरर्थक इन शक्तियों पर अधिकार जमाने की चेष्टा करते हैं। यदि हमें उस परम ईश्वरीय सत्ता से मोह जाए, तो उसकी समस्त भौतिक, आध्यात्मिक एवं मानसिक शक्तियाँ हमारे लिए हो जाती हैं। जीवन में कभी तथाकथित विषम परिस्थितियाँ आ जाने पर भी हम आनन्दित रहते हैं। कारण, कि उसमें भी हमको अपने इष्ट की कृपा का ही दिग्दर्शन होता है। यदि परमविश्वास हमें अपने प्रभु पर हो जाए, तो जब तथाकथित कठिन समय भी जीवन में आता है, तो उसमें भी ऐसा ही लगता है, कि यह भी हमारे लाभ के लिए ही होगा और वास्तविकता भी यही है। अन्ततः कभी न कभी हमको यह मालूम चल जाता है कि वह कठिन परिस्थिति या जिस समय के भीतर से हम गुज़रे हैं, हमारे किसी विशेष लाभ के लिए ही थीं, वरना हम डावांडोल हो जाते हैं, त्रसित हो जाते हैं, भयभीत हो जाते हैं और स्वयं को, स्वयं की किस्मत को एवं भाग्य को कोसने लगते हैं।

दिव्य व्यक्तित्व के प्रकट होने से वहाँ दुर्भाग्य नाम की संज्ञा समाप्त हो जाती है। हर्ष, उल्लास, अभय, आरोग्यता, सर्व सम्पन्नता, एक मस्ती और एक विशेष ईश्वरीय मोह और उसकी समस्त कृपा एवं आनन्द पर हमारा अधिकार हो जाता है। यही सत्य है और सम्पूर्ण इन दैवीय गुणों पर अधिकार होने से हम इनका भोग करते हैं और आनन्द लेते हैं। प्रभु की समस्त कृपा, समस्त आनन्द हमारे लिए हैं, ऐसा हमें लगने लगता है। जब हम अपने इष्ट के मोह में अति अग्रसर हो जाते हैं, तो हमें ऐसा लगने लगता है, कि प्रभु की समस्त कृपा व आनन्द हमारे लिए है। यही साधना का फल है। यद्यपि न चाहते हुए भी हमें इसका आभास अवश्य हो जाता है, जीवन आनन्दमय हो जाता है। एक अज्ञात मुदिता सी, प्रसनता सी, हमारे हृदय में आ जाती है, यद्यपि उस मुदिता का कारण हमें मालूम नहीं होता। हृदय में एक विशेष उल्लास सा रहने लगता है, एक संतुष्टि सी और सबसे बड़ी पहचान उस व्यक्ति की यह है कि उसके हृदय

में किसी के प्रति ईर्ष्या भाव नहीं होता।

कोई भी बड़े से बड़ा अधिकारी या कोई भी भौतिक जगत के विशिष्ट लोग जब हमें मिलते हैं, तो उनके प्रति एक सहानुभूति और एक प्रेम का और उनको कुछ देने का ही भाव होता है। यह मानसिक दिव्यता का लक्षण है। चाहे कोई सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सम्राट हो, उसको देखकर भी यही हृदय में आता है कि, "मै इसको भी कुछ दूँ।" किसी के प्रति कोई दुर्भाव या ईर्ष्या नहीं रहती और यदि ईर्ष्या या दुर्भाव है, तो समझिए दिव्य व्यक्तित्व उभरा ही नहीं है। दिव्य व्यक्तित्व में हर्ष रहता है, हृदय उल्लासित रहता है और व्यक्ति अभय हो जाता है, निश्चिन्त हो जाता है, चिन्ता और भय कैसा? चिंता, त्रास और भय तब उत्पन्न होते हैं जब हम सांसारिक वस्तुओं पर या ईश्वरीय शक्तियों पर अपना अधिकार जमा लेते है कि, "यह मेरी हैं।" जब कोई चीज़ हमारी होती है, तो उसके साथ स्वाभाविक चिंता और भय लग जाते हैं। जब कोई वस्तुएँ हमारे लिए हैं, तो वहाँ चिंता और भय कैसा? दिव्य गुणों के साथ दिव्यता स्वतः ही जागृत हो जाती हैं। स्वत. ही मानसिक सतुष्टि रहती है, प्रसन्नता रहती है, प्यार भाव रहता है, स्वतः ही भीतर से ज्ञान प्रस्फुटित हो जाता है। एक विलक्षणता एव ऐश्वर्य हमारे चहुँ ओर आ जाता है और उसमें एक दिव्य शक्ति का अनुभव होने लगता है, जिसमें अहम् भाव नहीं बल्कि विनम्रता होती है।

जीवन का परम लक्ष्य क्या है? हम अपने इस महादिव्य स्वरूप, अपने इष्ट उस सच्चिदानन्द ईश्वर के साथ अधिक से अधिक समय बिताए, ताकि हमारे अन्दर से दिव्यता जागृत हो जाए। प्रत्येक जीव के अन्दर दिव्यता है। कारण है उसका, कि जब प्रभु ने समूर्ण सृष्टि का निर्माण किया है, तो उसमें कहीं न कहीं दिव्यता को अवश्य छोड़ा है। भले ही कोई अति लम्पट और अपराधी नज़र आए, उसमें भी कहीं न कहीं दिव्यता अवश्य होती है, क्योंकि वे भी ईश्वरीय संरचना के अन्तर्गत ही आता है। दिव्यता न्यून हो अथवा अधिक, यह सर्वत्र है और जीव का अन्तिम लक्ष्य अपनी दिव्यता को उस दिव्य के सम्मुख बैठकर प्रकट करना है। दिव्यता के प्रकट होने के बाद समस्त बाह्य जगत दिव्य हो जाता है और जीवन अति आनन्दमय बन जाता है। दैनिक जीवन में हमें कुछ न कुछ समय

निकाल कर अवश्य इस प्रयत्न को, पुरुषार्थ को करना चाहिए। जब इसका असर हमारे सामने आता है, तो सांसारिक दौड़–धूप समाप्त हो जाती है, कम हो जाती है, क्योंकि सत्य का प्रगटीकरण हो जाता है। यह ज्ञान हो जाता है कि जब किसी वस्तु पर हमारा अधिकार होगा, तो वह वस्तु आनन्दमय नहीं रहती। उसका भोग, भोग नहीं होता, वह हमारे जीवन को भोग जाती है। जब वे वस्तुएं हमारे लिए होती हैं, तो हम उनका भोग करते हैं। इसलिए अपने आनंदमय और दिव्य व्यक्तित्व का प्रगटीकरण ही हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है। यदि हम जीवन को दिव्यतापूर्वक एव आनन्दपूर्वक बिताना चाहते हैं, तो हमारे प्रत्येक व्यक्तित्व के साथ हमें उस दिव्यता को ओत–प्रोत करना, हमारा स्वभाव बन जाएगा।

प्रायः व्यक्ति यह पूछे जाने पर कि क्या आप साधना में या ईश्वर के ध्यान–चिंतन में बैठते हैं? तो उत्तर देते हैं, कि उनके पास समय नहीं होता। आप हमारे अनुभव का एक लाभ अवश्य उठाइए, कि वह ईश्वरीय सत्ता महाकालेश्वरी है, महाकालेश्वर, काल की ईश्वर है, समय की ईश्वर। समय उसके अधीन है, जबकि हम समय के अधीन हैं। बहुत विचारणीय बात है। जब हम यह कहते हैं, कि उसके पास, हमारे पास बैठने का समय नहीं तो यह महादुर्भाग्य है। यदि हम किसी भी बड़े काम को करने से पहले कुछ समय ईश्वर अर्पित कर दे, ईश्वर के ध्यान में दरबार में बैठ जाए। प्रार्थना करने के लिये बैठ जाए। तो हम देखेंगे कि जो कार्य महीनों में होने वाले होते हैं वे कुछ दिनों में हो जाते हैं, कुछ क्षणों में हो जाते हैं। यह परम सत्य है और कार्य होने के बाद हमें उन कार्यों की जो सम्पूर्णता है, उसका एक आनन्दमय फल भोगने को मिलता है, हम आनन्दमय भोग करते हैं।

जब हम ईश्वर विमुख होकर जीवन बिताते है तो भले ही हमें कुछ प्राप्तियाँ हो जाएं हम उनका भोग नहीं कर सकते। अपने देव–दरबार में अवश्य बैठिए, किसी कार्य को सिद्ध करने से पहले, तो आप सदा पाएंगे कि उस कार्य के होने में दैवी शक्तियाँ आपकी सहाई हो जाती हैं। यह कथन बड़ा भ्रामक है कि इसलिए हम ईश्वर के ध्यान–चिन्तन में नहीं बैठ पाते, क्योंकि हमारे पास

समय नहीं है। जब उस महाकालेश्वर, जो काल का ईश्वर है, सम्पूर्ण समय जिसके अधीन है, यदि तनिक भी हम उसका ध्यान करते हैं, उसके शरणागत होते हैं, तो यह काल, यह समय, हमारी सहायता करने लगता है। यह कोई किताबी बात नहीं है, यह सत्य है। **जब भी हम किसी कार्य से पहले कुछ क्षण उस ईश्वरीय सत्ता का चिंतन करते हैं, प्रार्थना करते हैं, आत्म–समर्पण करते हैं, तो निश्चित जान लीजिए कि वह कार्य अति सुगम एवं अति शीघ्र अवश्य हो जाएगा।**

समय पर हम अपना अधिकार जमाना चाहते हैं, जो कि न केवल अति दुर्लभ है, बल्कि असंभव है। जीवन में हम किसी भी प्रोग्राम को बनाने वाले कौन होते हैं? हमारा जन्म एवं हमारी मृत्यु पर कोई अधिकार नहीं है। किस समय हमारे जीवन की शाम होगी, कहाँ होगी, कैसे होगी? किसी को भी मालूम नहीं है। इसलिए जो चीज़ हमारे हाथ में नहीं है, उस पर हम हठपूर्वक अधिकार क्यों चाहते हैं? यदि हम चाहते हैं तो यह दुर्भाग्य है। उस काल के ईश्वर, उस सच्चिदानंद, महाचेतन, जो जीवन और मृत्यु के बंधनों से परे है, परम सत्य है और आनन्द है, यदि हम उसका तनिक चिंतन और ध्यान करें, तो हम पाएंगे कि जीवन अति सुखद हो जाता है ***'गोपद सिंधु अनल सितलाई, गरल सुधा रिपु करहि मिताई।'*** एक सागर के समान विस्तृत, विशाल और अति दुर्गम कष्ट गोपद, गाय के पाँव के समान छोटा हो जाता है। गोपद सिंधु अनल सितलाई, अग्नि शीतल हो जाती है। गरल सुधा, विष अमृत बन जाता है। रिपु करई मिताई और हमारे शत्रु हमारे से मित्रता करने लगते हैं, जब ईश्वर कृपा हो जाती है। देखिए, हमको कितनी सुविधाएं हो जाती हैं। हमारे मौलिक अधिकार कितने बढ़ जाते हैं। समस्त जगत भावमय है, यदि हम अपने विशुद्धतम भाव से अपने में दिव्यता का समावेश कर लें, तो हम पाएंगे कि जीवन अति सुखद, अति आनन्दमय हो जाएगा।

भला विचार करिए, कि हम सब अपनी बुद्धि का कितना दुरुपयोग कर हैं जैसा कि मैं अपने एक पिछले प्रवचन में स्पष्ट कर चुका हूँ, कि मानव को बुद्धि दी ईश्वर ने। समस्त पशु, जीव–जन्तुओं को बुद्धि का महाअभाव रहता है लेकिन

उनका भी जीवन चल रहा है। पशु–पक्षी जगत, समुद्र के समुद्री जीव और जंगली जानवरों का जगत देखिए, यह भी जन्मते और मरते हैं। यह भी बच्चे पैदा करते हैं। इनको भी अपने बच्चों से लगाव होता है और समस्त क्रियाएं यह भी करते हैं। इनको भी भोजन की उपलब्धि होती है। ईश्वर ने, प्रकृति ने इनकी संरचना ऐसे ही बनाई होती है, कि इनको वस्त्र आदि की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। वे अक्सर बीमार नहीं पड़ते, प्रसन्न रहते हैं। इनके पास कोई धन नहीं होता। इनकी कोई सरकारें नहीं होतीं। पशु–पक्षियों को दूसरे देशों में जाने के लिये आज्ञा नहीं लेना पड़ती, क्योंकि इनके लिए किसी देश की सीमाएं इनका बंधन नहीं है।

हमने बुद्धि का दुरुपयोग किया है। समस्त धरती माँ को हमने देशों विदेशों में बाँट लिया है। मानव को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए प्रतिबन्ध हैं, आज्ञा लेनी पड़ती है। अपनी बुद्धि के बल पर हम हवा को नहीं बाँट सकें, सूर्य की किरणों को नहीं बाँध सके। लेकिन जिसको हम बाँट सकते थे, उसको हमने बाँटा। पृथ्वी के लिए, भूमि के लिए लड़ाईयाँ होती हैं। बड़े–बड़े राज–पाट नष्ट हो जाते हैं। असंख्य व्यक्ति काल के ग्रास में, मृत्यु के घाट उतार दिए जाते हैं। जबकि यह पृथ्वी किसी के साथ नहीं जाती। इतिहास को पलट कर देखिए, भयंकर युद्ध हुए हैं, इस धरा के लिए। क्या कभी सूर्य की किरणों के लिए भी किसी ने युद्ध किया है? तो मानव बुद्धि वहाँ पहुँच नहीं पाई जबकि ईश्वर ने बुद्धि इसीलिए दी थी कि, "ऐ मानव, मेरे द्वारा बनाए इस महाब्रह्माण्ड, इस महान सृष्टि के चमत्कार की प्रशसा कर।" कितनी बढ़िया कृति बनाई है उस ईश्वर ने।

यह वसुन्धरा, नभ, आकाश, असंख्य–असंख्य सितारे, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, समुद्र, अति सुंदर वन और असंख्य जीव, जन्तु, नदियाँ, पर्वत इत्यादि। इस समस्त संरचना के बाद ईश्वर को भी इच्छा हुई होगी, कि मैं कोई ऐसी रचना करूँ, जो मेरी इस कृति की प्रशंसा कर सके, तो शायद अंत में इसलिए मानव की रचना की होगी। उसने इसको बुद्धि दी होगी, कि वह हर पल, हर क्षण ईश्वर की प्रशंसा करे और उसके चमत्कार का दिग्दर्शन करे। अपनी बुद्धि

से यह समझे, कि उसके हाथ में कुछ भी नहीं है। जब साधक की वह स्थिति आ जाती है, कि हर कला में वह ईश्वर को देखता है, तब यह जीवन अति आनन्दमय हो जाता है, यह नितान्त सत्य है। बुद्धि का प्रयोग हम उसकी सम्पदाओं पर अधिकार जमाने के लिए करने लगते हैं। वस्तुओं व धन के संचय करने के लिए करने लगते हैं और घोर कष्टों में लिप्त हो जाते हैं, फँस जाते हैं हम। जहाँ तक अपने अनुभव से मैं समझता हूँ ईश्वर जब बहुत प्रसन्न हो जाते हैं, अपने भक्तों पर तो उनको पराबुद्धि प्रदान कर देते हैं। उसका अर्थ केवल इतना ही होता है कि, "हे मानव ! तेरे हाथ में कुछ भी नहीं है। तू विचार कर, सोच कर देख ले।" जब बुद्धि द्वारा हम बुद्धि की अक्षमता का बोध कर लेते हैं तो इस जीवन को ईश्वर की स्तुति में लगा देते हैं और जीवन अति आनन्दमय हो जाता है, अति आनन्दमय।

।। जय जय श्री राम।।

भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत

सांसारिक एवं आध्यात्मिक जगत बहुत आवश्यक एवं रोचक विषय है। मनुष्य संसार में आता है और संसार में आने के बाद उसको एक नाम व रूप में बांध दिया जाता है। उसका नामकरण हो जाता है। वह देह जो बिलकुल निश्छल, निर्विकार धर्मातीत, कालातीत और सब बंधनों से मुक्त होती है, **उसका पहला बंधन होता है उसका नाम**! जैसे–जैसे बच्चा बड़ा होता है तो एक माँ, एक पिता, भाई–बहिन, घर परिवार निवास और धीरे–धीरे एक विशेष गाँव अथवा शहर एक धर्म एक देश, एक विशेष सभ्यता, एक विशेष संस्कृति और न जाने कितने बंधन पर बंधन पड़ते रहते हैं और अंत में वह एक वयस्क बन जाता है। उसके बाद उसका अपना एक परिवार शुरु होता है–कोई पत्नी व पति, एक सामाजिक बंधन, उसके बाद अपने बच्चे उनके नाम, रूप, सम्पदा, सम्पत्ति और अन्य विशेष संस्कृतियाँ एवं धीरे–धरे अन्य और बन्धन बँध जाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे–जैसे आयु बढ़ती रहती है, कोई न कोई सामाजिक अथवा अन्य बंधन पर बंधन पड़ते रहते हैं और यह कार्यक्रम प्रत्येक जन्म मे चलता है और अन्ततः मानव, काल की ग्रास में प्रवेश कर जाता है। मृत्यु आ जाती है, पुनः उसका जन्म होता है और यह सिलसिला पुनः चलता है। इस प्रकार इस संसार में आने से लेकर मृत्यु तक, हम शनैः शनैः एक से प्रारम्भ होकर अनेक बंधनों में बंधते एवं बंधते ही चले जाते हैं और मकड़ी के जाल की तरह हम अपने ही बुने हुए जाल में स्वयं फँस जाते हैं और निकल नहीं पाते। **इसको कहा है सांसारिक मानव, सांसारिक जीवन।**

किस प्रकार अनेक बंधनों में पड़ा हुआ और क्रमशः बंधता हुआ मानव, इन बंधनों से मुक्त हो, किस प्रकार वह छूटे? यहाँ पर एक बात विशेष विचारणीय है, कि किसी बंधन से छूटने से पहले, उस बंधन से प्रतीत होने वाली अथवा वास्तव में होने वाली हाानि और कष्ट का आभास होना अति आवश्यक है। बंधन से छूटने की आवश्यकता तभी होगी, जब उस एक अथवा अनेक बंधनों से कोई कष्ट होगा या कष्ट होने की संभावना होगी। **यह निश्चित है कि कोई भी बंधन देर या सवेर कष्ट का हेतु बनता है, भले ही वह अपने नाम–रूप**

का बंधन हो, भले ही अपनी संतान, देश, समाज अथवा धर्म का बंधन हो। कोई भी बंधन आखिर बंधन ही तो है और उस बंधन का कभी न कभी एक कष्ट अवश्य होता है या होने की संभावना बनी रहती है और यह संभावना मानव को भयभीत और चिन्तित बनाए रखती है। यदि आज हम सारे संसार का सूक्ष्म मानसिक विश्लेषण करें, तो हम पाएंगे कि प्रत्येक मानव ज्ञात अथवा अज्ञात भय से और चिंताओं से ग्रसित है, भले ही वह बाह्य जगत में इसका प्रगटीकरण करे अथवा न करे। अपनी उस भयभीत मानसिकता को छुपाने के लिए मानव कई प्रकार के असफल प्रयास करता है। आज विवाह–शादियों और बड़ी–बड़ी पार्टियों में जो लोग हँसते, खेलते और ठहाके लगाते हुए नज़र आते हैं, इसका अर्थ यह नहीं है, वे हार्दिक रूप से भी प्रसन्न हैं। न जाने वे भीतर छुपे हुए किन मार्मिक भावों को और कष्टों को दबाने के लिए, यह ठहाके लगाते हैं। मेरे इस कथन में बहुत सत्य है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब हम संसार में आते हैं, तो इन बंधनों की भी आवश्यकता होती है, कैसे रह सकते हैं हम बंधन–मुक्त? हमें माता–पिता को भी स्वीकार करना पड़ता है, भाई–बहिनों को, किसी समाज को, किसी धर्म को, किसी देश को, किसी विचारधारा को, संस्कृति को, सभ्यता, सम्पत्ति को, सम्पदा और सब कुछ को हमें स्वीकारना पड़ता है और उसे स्वीकारने के बाद एक नितान्त परम आवश्यक बंधन पड़ ही जाता है, चाहे हम कितना भी उससे बचना चाहें। तो दो बातें यही पर स्पष्ट हुईं–

1. इस संसार में आकर यदि कोई सांसारिक बंधनों से बचना चाहे तो यह अगर असम्भव नहीं तो अति कठिन है, अति–अति कठिन अवश्य है।

2. इन बंधनों में छटपटाहट भी होती है, कष्ट भी होता है, मानसिक विक्षेप होता है और मानव उससे छूटने का प्रयास भी करता है, भले ही वह असफल प्रयास हो।

जब कोई महामानव बहुत गंभीरतापूर्वक विचार करता है, कि किस–प्रकार इन बंधनों से मुक्ति मिले, तो उसकी मानव बुद्धि विशेष इष्ट कृपा से प्रेरित होकर एक निष्कर्ष पर पहुँचती है, कि इस संसार में जितने भी बंधन है, जितनी

भी निष्ठाएं है, प्रतिज्ञाएं हैं और जितना भी यह समस्त संसार है, वह केवल एक वस्तु पर आधारित है। यह बात बड़ी विचारणीय और श्रवण योग्य है, इससे आपको एक बहुत सुन्दर दिशा मिलेगी। इस हमारे पूर्ण संसार का अस्तित्व और इस अस्तित्व का आधार हमारा अपना मानव शरीर है, जिसका एक नाम है और एक रूप है–अमुक वस्तु मेरी, अमुक धर्म मेरा, अमुक माता–पिता, भाई–बहन, धर्म, निष्ठा, संस्कृति, सभ्यता मेरी। यदि आप सूक्ष्म रूप से विचार करें, तो पाएंगे कि इन सबका एक ही आधार है और **वह आधार है मैं, मेरा नाम और मेरा रूप।** जब गहन विचार के बाद इस सत्य का प्रतिपादन हो जाए, इस सत्य की जागृति हो जाए, तो उसके बाद एक बहुत सरल सा मार्ग सम्मुख आ ही जाता है, कि यदि यह संसार मेरे ऊपर आधारित है और इस संसार रूपी इस विशाल भवन का मुख्य स्तम्भ मैं स्वयं हूँ, तो फिर किस प्रकार मैं इस संसार रूपी भवन से मुक्ति पा सकता हूँ? यह बहुत अटपटा सा, विचित्र एव अद्‌भुत विषय है।

मैं इसे पुनः दोहराता हूँ, कि प्रत्येक जन्म में हम पैदा होने से लेकर मृत्यु तक, जैसे–जैसे आयु बढ़ती है हम बंधनों में बंधते चले जाते हैं और यही बंधन हमारे कष्टों का कारण बनते हैं या बन सकते हैं और इन थोपे गये कष्टों से हम भयभीत एव चिन्तित रहते हैं। सारा जगत आज चिन्ताओं से ग्रसित है, सूक्ष्म भय से ग्रसित है और एक आंतरिक आर्त्तनाद प्रत्येक मानव के हृदय में रहता है, कि किस प्रकार वह भय से एवं चिन्ताओं से मुक्ति पा सके? इस तलाश में कुछ महामानव **जब इस गहन सत्य पर पहुँच जाते हैं, कि संसार का प्रत्येक बंधन और संसार रूपी प्रत्येक इस विशाल, विशालतम् भवन का आधार मैं स्वयं हूँ, मेरा अपना नाम और रूप है। इतना गहन चिंतन होने के बाद, स्वीकृत होने के बाद हमारे आगे का मार्ग बहुत सरल हो जाता है।**

इन बंधनों से विक्षिप्त होकर जंगलों में भाग जाना, अपने परिवार, माता–पिता, बीवी, बच्चों, धन–सम्पत्ति को छोड़कर वनों में जाकर तप करना, अक्सर कुछ लोग ऐसा कर भी लेते हैं, लेकिन अन्ततः वे अधूरे ही रहते हैं। **घर से भागना, स्वयं से भागना, यह किसी बंधन मुक्ति का मार्ग नहीं है। एक बंधन छूटेगा तो दूसरा बंधन पड़ जाता है।** हम माता–पिता को छोड़ते

हैं, गुरु बन जाते हैं। हम संतान को छोड़ते है, शिष्य बना लेते हैं। हम घर छोड़ते हैं, आश्रमों का आश्रय ले लेते हैं। देह का नाम, रूप परिवर्तित कर लेते हैं लेकिन फिर भी किसी नाम में, रूप में, अवस्था में, वर्ण में हम फँस ही जाते हैं। एक बंधन से छूट कर दूसरा बंधन पड़ जाता है और वे बंधन भी उतने ही कष्टमय होते हैं। तो प्रश्न यह उठता है कि इन बंधनों के पीछे जो कुछ है, जो चिंताएं है, जो भय है उनका कारण क्या है?

किसी एक बंधन को ले लीजिए, अपने नाम–रूप का बंधन ही ले लीजिए, अपनी देह का बंधन ही ले लीजिए, आज यह देह स्वस्थ है, निरोग है, नाम है, यश है, सम्पत्ति है लेकिन यह सब कब तक? एक समय आता है जब मनुष्य वृद्धावस्था को, रूग्णावस्था को प्राप्त हो जाता है या प्राप्त होने की संभावना रहती है और यह देह उसके लिये कष्ट का कारण बन जाती है। संतान का बंधन, अपनी संतान कभी अपने पास रहती है, कभी नहीं रहती। उनके रूप में, उनके विचारों में, उनके भावों में परिवर्तन हो जाता है। धन, सम्पत्ति आज है, कल नहीं है। तो **किसी भी सांसारिक बंधन को ले लीजिए, जिस भी वस्तु से हम बंधते हैं, उस सासारिक वस्तु से एक अनिश्चितता, क्षणिक भाव, उसकी एक अविरल सोच हममें बनी रहती है कि प्रत्येक बंधन, प्रत्येक वस्तु अथवा व्यक्ति जिससे हम जुड़ते हैं, सभी क्षणिक हैं, कुछ काल के लिए हैं या कुछ काल के लिए हो सकते हैं। इस संसार में, कोई व्यक्ति या वस्तु स्थिर नहीं है।**

जब हम अपना आनन्द उस व्यक्ति या वस्तु से जुड़ने पर मान लेते हैं, तो वह एक क्षणिक आनन्द होता है। यद्यपि यह आनन्द हमारा भीतरी आनन्द है परन्तु हम अज्ञानवश उन व्यक्तियों अथवा वस्तुओं से अथवा विचारधाराओं से उस आनन्द को आता सा मान लेते है और वह समस्त क्षणिक है। उनसे बिछुड़ने या बिछुड़ने की सम्भावना हमको तनाव ग्रसित कर देती है, चिंतित कर देती है, विक्षिप्त कर देती है। यही कारण है, हमें यह बंधन अन्ततः कष्ट में या कष्ट की सम्भावना में उतार देते हैं। दूसरा सत्य यह है कि हम इन बंधनों के बिना रह भी नहीं सकते। मानव देह धारण करके यदि हम चाहें, कि हम

बन्धन–मुक्त हो जाएं, ऐसा भी सम्भव नहीं है। तो क्या इन बंधनों से मुक्ति का उपाय यही है कि हम संसार, घर–बाहर, कारोबार और सब कुछ छोड़कर जंगलों मे भाग जाएं? नहीं ! न तो यह सत्य है और न ही यह सत्य पर आधारित विचार है।

उस सर्वशक्तिमान परमात्मा ने इतनी भव्य वसुन्धरा, पृथ्वी के सातों तल, आकाश और सुन्दर नदियों, सागरों और वनस्पतियों की रचना की है। यहाँ का एक–एक दृश्य भव्य है। इनके अतिरिक्त मानव देह अपने में एक बहुत बड़ा चमत्कार है।। मानव इन्द्रियाँ हैं और पूरा महाब्रह्माण्ड जिसका इस मानव देह द्वारा प्रतिनिधित्व होता है, यह अपने में एक चमत्कार है। तो क्या यह देह हमें इसलिए मिली है कि हम मानव देह से भागे? कितनी नीरस सोच है यह ? तो किस प्रकार हम इस संसार में रहते हुए इस संसार में बंधे हुए या बंधे से हुए, इस संसार के समस्त भोगों को भोगते हुए इस बंधन से मुक्त हो सकते है और उस परमानन्द का आभास कर सकते हैं? बहुत ज्वलन्त और बहुत सर्वोच्च विषय है यह, जो हमारे लिए कभी न कभी इस जीवन में रहते हुए, किसी भी जन्म में विचारणीय हो जाता है और हमें विचार करना पड़ता है कि क्या ईश्वर ने हमें इस संसार में उन कष्टों को भोगने के लिए भेजा है? कदापि नहीं।

ईश्वर की अपनी परिभाषा है– **सच्चिदानंद, जो सत्य, चेतन एवं आनन्द से परिपूरित है और तीनों का, सत्य का, चेतन का एवं आनन्द का अनुपम, विलक्षण और अति उत्कृष्ट, विहंगम सगम है, स्वयं वह ईश्वर।** वह भला इस मानव को और इस संसार को कष्टों के लिए क्यों रचेंगे? यह एक बहुत बड़ी सकारात्मक सोच है, सकारात्मक विचार है, कि जो ईश्वरीय सत्ता स्वयं में सच्चिदानन्द है, उसने इस संसार की रचना, इन असंख्य जीव–जन्तुओं और मानव की रचना कष्ट भोगने के लिये क्यों की होगी या करेगी?

बुद्धि से यदि हम विचारें, तो हम देखेगें कि जन्म से लेकर मृत्यु तक, जितनी भी विशिष्ट घटनाएं होती है, यहाँ तक कि जन्म और मृत्यु में भी मानव बुद्धि की कोई भी भूमिका नहीं है। हम बहुत डींग हांकते हैं, कि मेरी बुद्धि से यह हुआ है, मेरी बुद्धि से यह हो सकता है, मैं ऐसी योजना बना सकता हूँ, लेकिन

यह मात्र अहम् है, अहंकार है। वास्तविकता यह है कि हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है। तो जो **सबसे बड़ी भूमिका है बुद्धि की, वह यह कि उस ईश्वर की महान कृति को, बुद्धि से सोचें, विचारे और उसकी प्रशंसा करें और सुखपूर्वक एवं आनन्द से जीवन बिताएं!** अन्यथा हम जो भी प्राप्तियाँ इस जन्म में, इस सम्पूर्ण जीवन काल में करते हैं, उस महाप्रभु की कृपा एवं प्रशंसा के बिना हम उन कृत्यों का भोग नहीं कर सकते, भले ही हम सम्पूर्ण विश्व का, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का साम्राज्य प्राप्त कर लें। जब तक हम उस ईश्वर के सान्निध्य में नहीं जाएंगे, उसका नाम नहीं जपेंगे, उसकी प्रशंसा नहीं करेंगे, तो हम महाब्रह्माण्ड का साम्राज्य प्राप्त करने के बाद भी विक्षिप्त रहेंगे, त्रसित रहेंगे, दुखी रहेंगे। यह एक नितान्त सत्य है।

तो प्रश्न यह उठता है, कि जिन्हें हम उपलब्धियाँ या प्राप्तियाँ कहते हैं, क्या ये ही हमारे सुख–सुविधाओं का एक कारण है? नहीं। यह भी हमको अनेक बंधनों में बांध देती हैं, जो अपने में क्षणिक हैं। तो इस सब विचार के बाद ईश्वर कृपा, गुरु कृपा और सबसे बड़ी आत्म–कृपा से जो सत्य विचार होता है, वह एक विशेष भूमिका पर हमको उतार देता है, जो मैं आपके सम्मुख रखने जा रहा हूँ, कि किस प्रकार इस संसार में आकर और सांसारिक जीवन जो कि हमको बिताना पड़ता है, उसके चलते हम उस परम सत्य की प्राप्ति कर सकते हैं? हम इन कष्टों से और दुखों से किस प्रकार छुटकारा पा सकते हैं।

उसके लिए मात्र हमें अपना दृष्टिकोण बदलना होगा। भले ही कोई महामानव हो, कोई महापुरुष हो, इस संसार में आकर इन बंधनों से बच नहीं सकता और यह भी विचारणीय है, कि ये समस्त बंधन पड़ते सुख के लिए हैं, लेकिन इनका अंत दुख में होता है, क्योंकि ये क्षणिक हैं। हमें इन वस्तुओं के खोने का या उनके खोने की सम्भावना का भय सदा लगा रहता है। तो एक नज़रिया बदलना है, एक दृष्टिकोण बदलना है। यदि हम उसको बदल लेंगे, तो हम संसार में आकर अपना जीवन यथावत् बिताते हुए इस भय से, त्रास से और विक्षेप से मुक्त हो सकते है और दिव्य जीवन बिना सकते हैं।

यह दिव्य जीवन क्या है? इस दिव्य जीवन की परिणति क्या है? किस

प्रकार हम सांसारिक जीवन को दिव्य जीवन में परिवर्तित कर सकते हैं? उसके लिए मैं आपके सम्मुख एक दृष्टिकोण रख रहा हूँ, आशा है कि आप बहुत आनन्द से और एकाग्रता से उस पर विचार करेंगे। जैसा कि हमने कहा मानव देह धारण करने के पश्चात! हमें किसी स्वयं के नाम–रूप के बंधन के बाद, किसी अन्य नामों–रूपों से बंधन हो ही जाता है, तो क्यों न हम किसी ऐसे नाम व रूप से बंधे कि जो अक्षुण्ण हो, शाश्वत् हो, जिसको खोने का भय न हो, जो बंधन हमको क्रमशः आनन्द की ओर ही ले जाता जाए, **वह एक ही नाम–रूप है और वह है ईश्वरीय नाम–रूप।** यद्यपि ईश्वरीय सत्ता किसी नाम व रूप से बंधी हुई नहीं है और हमको बिना बंधन के आनन्द नहीं आता, तो हम उस ईश्वर को क्यों न किसी नाम व रूप में बांध ले और उसके साथ हम अपना सम्बन्ध उसी प्रकार जोड़ लें, जिस प्रकार कि हम संसार के सम्बन्ध उत्पन्न करते हैं, जोड़ते हैं, बनाते और तोड़ते हैं। यद्यपि सांसारिक बंधनों को तोड़ना बहुत कष्टमय है, लेकिन कभी न कभी तोड़ना पड़ता है। यह आवश्यकता ईश्वरीय सम्बन्धों में कभी नहीं होती।

जिस प्रकार कि संसार के सम्बंधों को हमने बनाया है, उसी प्रकार हम एक सम्बन्ध अपने इष्ट के साथ, उस परमसत्ता के साथ भी जोड़ सकते हैं, पुत्र रूप में, भाई रूप में, बहिन रूप में, किसी भी अन्य रूप में जब नित्याध्यासन करते–करते, हमारा सम्बन्ध परिपक्व हो जाता है, तो उसके बाद एक विशेष आनन्द की अनुभूति होने लगती है, जो कि एक परम सौभाग्यशाली आनन्द का सूचक होती है। **सौभाग्यशाली आनन्द–आनन्द तो आनन्द है इस सौभाग्यशाली शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है, कि यह परमानन्द है, यह क्षति होने वाला आनन्द नहीं है।** कुछ सौभाग्यशाली व्यक्तित्व ही इस आनन्द की अनुभूति करते हैं। जब उस ईश्वर से सम्बन्ध हो जाने पर हमारा भीतरी आनन्द जागृत होता है तो समझिए कि यह अति सौभाग्य का सूचक है क्योंकि जब यह आनन्द जागृत हो जाएगा भीतर से, तो यह जागृत ही रहेगा क्योकि ईश्वर बिछुड़ने वाला नहीं है, ईश्वर की क्षति नहीं होगी। वह सदा हमारे पास रहेगा। जब यह आनन्द अति परिपक्व हो जाता है, अति अगाध हो जाता है

तो उसके बाद सासारिक बंधन स्वतः ही ढीले पड़ जाते हैं। जिस प्रकार एक टपके का आम होता है, जो आपने देखा अथवा सुना होगा, जब आम परिपक्व हो जाता है, अति स्वादिष्ट हो जाता है तो पेड़ से स्वतः ही गिर जाता है, उसको पेड़ छोड़ने का कष्ट नहीं होता। उसी प्रकार जब हमारा ईश्वर से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है, तो सांसारिक सम्बन्ध स्वतः ही छूट जाते हैं। हम संसार में रहते हुए भी बंधनों से मुक्त हो जाते हैं, वे बंधन, बंधन से होते हैं, वे हमारे लिए कष्टदायी नहीं रहते।

जिस प्रकार एक कन्या अपने माता–पिता को छोड़कर, अपने भाई–बन्धुओं और परिवार को छोड़कर अपने पति के घर जाती है तो धीरे–धीरे उसका सम्बन्ध अपने पति के परिवार से हो जाता है। उसी को वह अपना परिवार समझने लगती है और अपने माता–पिता के परिवार से उसका मात्र सम्बन्ध सा रह जाता है। यदि हम सांसारिक सम्बन्धों में भी देखें, जैसे किसी व्यक्ति का अगाध और परिपक्व सम्बन्ध किसी अन्य व्यक्ति अथवा वस्तुओं से हो जाता है, तो वह पीछे के कुछ व्यक्तियों अथवा वस्तुओं को धीरे–धीरे भूलने लगता है, उसके सम्बन्ध मात्र सम्बन्ध से रह जाते हैं, कुछ औपचारिकताएं सी रह जाती है। इसी प्रकार जब उस परमपिता परमात्मा से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है, उसका नाम, उसकी याद हमें छटपटाने लगती है, हम हर हाल में उसका सामीप्य चाहते हैं, उसके पास बैठना चाहते हैं, जब ऐसी सी हमारी मानसिक स्थिति हो जाती है, तो समझिए हमको उस ईश्वरीय सत्ता से मोह हो गया है। हमारे अश्रु, हमारे नेत्रों से चलने वाली अविरल अश्रु–धारा केवल अपने इष्ट के लिए होती है, मानवों के लिए नहीं।

इन अश्रुओं में और सांसारिक बंधनों के अश्रुओं में बहुत अंतर होता है। नेत्रों से बहने वाले अश्रुओं की दिशा ही अलग होती है। आपके सामने एक रहस्य खोलने जा रहा हूँ कि ईश्वर के मोह में बहने वाले अश्रु, नेत्रों के बाहरी कोए से बहते हैं। प्रभु ने स्वयं ही अश्रुओं के बाहरी कोए से बहते हैं। प्रभु ने स्वयं ही इन अश्रुओं के बहाव की दिशा को ही अलग रखा हुआ है। सांसारिक अश्रु मन को बोझिल एवं कष्टमय कर देते हैं, जबकि ईश्वर की याद में बहने वाले अश्रु मन

को हलका एवं शान्त कर देते हैं। एक विशेष नशा सा ला देते हैं, एक विशेष आनन्द की अनुभूति होती है, इन अश्रुओं के बहने से पहले, बहते समय और इन अश्रुओं के बहने के बाद भी। क्या अवस्था हो जाती है उस आशिक की, उस व्यक्ति की, जिसको ईश्वरीय सत्ता से मोह हो जाता है? इस संसार में रहते हुए किसी विशेष धर्म और विचारधारा से बंधा सा हुआ वह धर्मातीत हो जाता है। कहने को किसी धर्म का अनुयायी होता है, लेकिन सर्वधर्म उसके हो जाते हैं। जिस प्रकार नदियाँ सागर में मिलने के बाद अपनी पहचान खो देती है। जिस प्रकार बीज भूमि में मिलने के बाद, उगने से पहले अपना रूप–रंग और अस्तित्व खो देता है, उसी प्रकार उपासक उस महासागर में, उस ईश्वरीय सत्ता में विलीन होकर, उसमें समाहित होकर अपने धर्म, जाति, नाम व अपनी मान्यताओं एव विचारधाराओं इन सबके अस्तित्व को खो देता है। इसकी कहा है आध्यात्मिक जगत।

विभिन्न धर्म और संस्कृतियों कई प्रकार की पवित्र नदियाँ हैं। सागर में मिलने के बाद नदी अपना नाम व रूप खो देती है व मात्र सागर बन जाती है। सागर ही उसका नाम होता है और सागर ही उसका अस्तित्व। उसी प्रकार **कोई महामानव जब उस परम सशक्त ईश्वरीय सत्ता के साथ जुड़ जाता है, तो वह धर्मातीत हो जाता है, कालातीत हो जाता है एव देशातीत हो जाता है। उसको काल का बंधन भी नहीं बाँध सकता, उसकी स्थिति अनिर्वचनीय हो जाती है।** देखने में वह कुछ और लगता है लेकिन वह कुछ और हो जाता है। ऐसे व्यक्तित्व को समझना और उसके बारे में टीका टिपण्णी करना केवल कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है। मात्र वही मानव उसको समझ सकता है, जो उस स्थिति में पहुँच चुका हो। इस प्रकार हम सांसारिक जीवन जीते हुए, संसार के प्रत्येक कार्य को ईश्वरीय दृष्टि से देखने लगते हैं। जैसे विद्यार्जन करते हुए विद्यार्थी, उस विद्या को ईश्वर निमित्त कर दे। धन–अर्जन करते हुए उस धन को उसके निमित्त कर दें। इसी प्रकार सांसारिक सम्बन्धों में विचरते से हुए जब हम उस महासम्बन्ध के साथ जुड़ जाते हैं, तो सभी कुछ ईश्वरीय हो जाता है। जब कोई महामानव इस संसार में पैदा होने के बाद

संसार व सांसारिक बंधनों से उत्पन्न कष्ट अथवा कष्ट की संभावनाओं से उत्पन्न भय एवं त्रास से मुक्ति पाने के लिए उस परम–पिता परमात्मा से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, तो नित्याध्यासन करते–करते वही मानव एक देव पुरुष हो जाता है। दिव्य मानव हो जाता है, ईश्वरीय हो जाता है, आध्यात्मिक हो जाता है। वह देखने में भौतिक एवं सांसारिक सा लगता है, लेकिन उसकी अन्त स्थिति एक आध्यात्मिक मानव की हो जाती है। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि जब मनुष्य सांसारिक से आध्यात्मिक या दिव्य हो जाता है, दिव्य जीवन व्यतीत करने लगता है, तो उसमें क्या अन्तर अनुभव होता है? उसका रूप–रंग, आकार –प्रकार नहीं बदलता लेकिन भीतर से वह मानव बदल जाता है। इस बदलाव के लक्षणों को मै यहाँ उल्लेख करना चाहूँगा।

साधारणतः जिसे हम बंदा कहते हैं, तो बन्दे का अर्थ है बंधा हुआ, जो अपने नाम, रूप, घर–परिवार, जाति, धर्म, युग–काल, देश, विशिष्ट विचारधाराओं, गुरु–शिष्य और न जाने कितने सम्बन्धों से बंधा हुआ है, उसे कहा है 'बन्दा' और खुदा का अर्थ है 'खुला हुआ'। जब वह परम ईश्वरीय कृपा से, संतों के सत्संग से, गुरु कृपा से और अन्ततः आत्म–कृपा से उस ईश्वर के साथ जुड़ जाता है, अपने इष्ट के साथ जुड़ जाता है, इष्टमय हो जाता है, तो वह इन सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाता है, खुल जाता है और वह खुदाई व्यक्तित्व, दिव्य मानव बन जाता है। उसका हाव–भाव, उसका आचार–व्यवहार और उसका सम्पूर्ण जीवन अलग सा हो जाता है, जिसके कुछ विशिष्ट लक्षण है। ऐसा मानव अपनी समस्त शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक शक्तियों से अनुमानित नहीं किया जा सकता।

जैसे कि एक गिलास या एक लौटे में भरे हुए जल की एक क्षमता, एक सीमा होती है परन्तु यदि उसी गिलास को हम समुद्र में डुबो दें, तो यद्यपि उसका आयतन उतना ही रहता है जितना कि समुद्र के बाहर था, लेकिन उसकी क्षमता असीम हो जाती है। उस समुद्र में डूबे हुए गिलास से हम जितना भी जल निकालते जाएं, वह भरे का भरा ही रहता है। इसी प्रकार **जब कोई व्यक्ति सांसारिक से आध्यात्मिक बन जाता है, दिव्य जीवन जीने लगता**

है, जब ईश्वर से उसका बहुत सान्निध्य हो जाता है, तो उसकी क्षमताएं भी असीम हो जाती है। उसका किसी विशेष धर्म से, विचार से, संस्कार से, युग से, काल से, जाति से, वर्ण से, आश्रम से बंधन छूट जाता है।

जिस प्रकार हमारे यहाँ चार वर्णों का वर्णन है –**ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैष्णव एव शुद्र, तो आध्यात्मिक मानव किसी एक वर्ण से नहीं बंधता। वह आवश्यकतानुसार, देश–काल के अनुसार कभी ब्राह्मण, कभी वैष्णव, कभी क्षत्रिय और कभी शूद्र, कुछ भी बन जाता है। वह युगों से नहीं बंधता,** यह अति गम्भीर विषय है। हमारे यहाँ युगों का वर्णन है **सतयुग, त्रेता, द्वापर एवं कलिकाल**। यह चारों युग चार विचारधाराएं हैं, मानव–मन की स्थितियों हैं, यह बहुत नया रहस्य आपके सम्मुख रख रहा हूँ। **जब हम अति शांत एव ईश्वरीय मुद्रा में होते है तो वह 'सतयुग' है। जब थोड़ा रजोगुण बढ़ता है तो वह 'त्रेता' बन जाता है। जब रजोगुण और तमोगुण साथ में प्रस्फुटित होते हैं तो वह 'द्वापर' बन जाता है। जब तमोगुण का आधिक्य हो जाता है तो वह समय 'कलिकाल' या कलयुग बन जाता है।** यह चारों युग चार मानसिक स्थितियाँ है। दिव्य मानव का इन युगों से भी कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह एक विशेष ईश्वरीय मानसिकता में, ईश्वरीय मन और उस मन के कृत्यों में विचरता है। उसका स्वयं का मन ही नहीं रहता, उस मन को वह ईश्वरीय मन में समाहित कर देता है और उसी के अनुसार वह अपना दिव्य जीवन बिताता है। वह इन चारों युगों और इन चारों युगों की विधाओं से बहुत अलग होना है।

हमारे यहाँ चार आश्रमों का वर्णन है **ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास**। यह चारों आश्रम भी एक बंधन है और एक मानसिक स्थिति है। ऐसा महामानव जब दिव्य जीवन में विचरने लगता है, तो यह चारों आश्रम उससे बंध जाते हैं, वह इन चारों आश्रमों से नहीं बंधता। कभी वह गृहस्थी, कभी वानप्रस्थी, कभी सन्यासी और कभी ब्रह्मचारी। यह चारों वर्ण और आश्रम उसमें विचरने लगते हैं, यह उनमें नहीं विचरता, इतना अंतर आ जाता है उसमें। इसके बाद जिस प्रकार कि उपासना पद्धतियों में कोई शैव, कोई शाक्त एवं वैष्णव होते हैं,

वह इन बंधनों से भी परे हो जाता है। ऐसा मानव शैव भी होता है, शाक्त भी और वैष्णव भी। यही नहीं, यद्यपि वही ईश्वरीय सत्ता की मान्यता के लिए भले ही अपने किसी विशिष्ट इष्ट का उपासक होता है, लेकिन उसका दृष्टिकोण बहुत विस्तृत हो जाता है, बहुत विशाल एव विशालतम् हो जाता है। वह उस इष्ट के एक नाम–असंख्य रूप, एक रूप–असंख्य नाम एवं असंख्य नाम–असंख्य रूपों से जुड़ जाता है। पूरे महाब्रह्माण्ड में ईश्वर की जिस–जिस नाम–रूप, साकार–निराकार, रूप–अरूप, किसी भी प्रकार में जहाँ–जहाँ ईश्वर की मान्यता है, वह उसके सामने नतमस्तक हो जाता है, उसका स्वागत करता है। इस संसार का जो धर्म, जो मान्यता, उस परमसत्ता ईश्वर के नज़दीक उसके सान्निध्य में पहुँचती है, वह उन सबका स्वागत करता है। सारे धर्म उसके होते हैं, वह ईश्वर के सब नाम–रूपों में, अपने इष्ट का नाम–रूप ही देखता है। किसी धर्म, किसी संस्था व किसी विचारधारा को वह तुच्छ दृष्टि से नहीं देखता, ऐसे मानव का यह भी एक परम लक्षण है।

जो धर्मगुरु, जो आध्यात्मिक गुरु और जो तथाकथित महापुरुष संसार को किसी एक विचारधारा में बांधना चाहते हैं, विशेष संस्थाओं से बांधना चाहते हैं, विशेष आश्रमों से बाँधना चाहते हैं, वे भी आध्यात्मिक मानव नहीं हैं, आध्यात्मियक पुरुष नहीं हैं, वे भी भौतिक जगत में, भौतिक रूप से विचर रहे हैं, सत्य, सत्य है और असत्य, असत्य। वास्तविक आध्यात्मिक जीवन बिताने वाला दिव्य पुरुष संसार की प्रत्येक विचारधारा का, धर्मों का और ईश्वर की समस्त मान्यताओं का अपनी मान्यता की तरह ही स्वागत करता है, सम्मान करता है। यह उसका विशिष्ट लक्षण है और यदि वह नहीं करता तो वह दिव्य मानव नहीं है, वह संत नहीं है।

इसके अतिरिक्त **जो भौतिक मानव हैं, उनका लक्ष्य सांसारिक साधनों की, सम्पत्ति की, सम्पदा की प्राप्ति, वस्तुओं की प्राप्ति ही रहता है। जबकि आध्यात्मिक मानव का लक्ष्य अपने भीतर का आनन्द और उस सच्चिदानन्द ईश्वर के सान्निध्य की प्राप्ति रहती है। वह इन वस्तुओं से लिप्त नहीं होता, वस्तुएँ उससे लिप्त होती हैं, उससे जुड़ी रहती हैं**, वह

कभी भी संसार की उपलब्धियों और वस्तुओं से नहीं जुड़ता। जिस प्रकार भौतिक मानवों का एक परिवार होता है, भाई–बन्धु, माता–पिता, पति–पत्नी और अन्य बंधन तो आध्यात्मिक व्यक्ति इन बंधनों से नहीं बंधता। उसका एक आध्यात्मिक परिवार होता है, जिसमें भौतिक परिवार का समावेश नहीं होता और भौतिक रूप से भी वह उसी सम्बन्ध से बंधता है, जो आध्यात्मिक हो। यह नाम–रूप, जन्म–जन्मान्तरों में बदलते रहते हैं। यह बड़ा रहस्य का विषय है जिसका यहाँ पर विस्तार से उल्लेख नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक मानव के सम्बन्ध विभिन्न नाम व रूपों में, विभिन्न समय पर प्रकट होते रहते हैं, लेकिन उन नाम–रूपों से आध्यात्मिक मानव का बंधन नहीं होता, इसका मोह नहीं होता, सम्बन्ध होते हुए भी वह उनसे असंग रहता है। **जहाँ मोह और बंधन नहीं होता, उन विशिष्ट सम्बन्धों से इस आध्यात्मिक मानव को एक विशेष मुदिता एवं प्रसन्नता का अनुभव होता है।**

भौतिक मानव भौतिक समय से बंधे रहते हैं। जन्म से, मृत्यु से और जीवन की अन्य घटनाओं के समय से बंधे रहते हैं। लेकिन आध्यात्मिक पुरुष सदा मानसिक समय में विचरते हैं। भौतिक एव मानसिक काल के बारे में पहले विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है। भौतिक मानवों के लिए यह चौबीस घंटे का दिन, यह महीने, वर्ष, यही महत्वपूर्ण होते हैं, जबकि आध्यात्मिक जगत में विचरने के बाद मानसिक समय अधिक महत्वपूर्ण होता है व भौतिक समय गौण हो जाता है। आध्यात्मिक मानव समय के बंधन से, युगों के बंधन से, देश–धर्म के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। **आध्यात्मिक जगत एक समष्टि जगत है, जबकि भौतिक जगत व्यष्टि जगत है।** समष्टि जगत में पूरे ब्रह्माण्ड का कोना–कोना, पूरे ब्रह्माण्ड्र का एक–एक पल, एक–एक क्षण अपना होता है। किसी देश–देशांतर से वह बंधा नहीं होता। किसी समाज, किसी नगर की सीमाएं ऐसे मानव को बांध नहीं सकतीं। आध्यात्मिक जगत में विचरने के बाद या दिव्य जगत में आने के बाद वह देश–काल की सीमाओं से परे हो जाता है, असीम हो जाता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसमें समाहित हो जाता है और वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में। ऐसे व्यक्ति किसी एक इष्ट से बंधे से लगते है, जबकि वास्तव में

वह ईश्वर की सभी मान्यताओं का सामान्य रूप से सम्मान करते हैं, यह उनका विशेष लक्षण है।

भौतिक व्यक्ति कर्मों के बंधनों से बंधा रहता है। जन्म–जन्मान्तरों में अच्छे कर्मों के, बुरे कर्मों के, आगामी कर्म, संचित कर्म, वर्तमान कर्म और न जाने कितने कर्मों के बंधनों से युक्त रहता है। बंधन–युक्त मानव भौतिक है और जब तक वह आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश नहीं करता, यह कर्म–बन्धन कभी नहीं छूटता। जब उसका जीवन दिव्य हो जाता है, तो इस कर्म–बंधन से स्वतः उसको मोक्ष मिल जाता है, मुक्त हो जाता है वह कर्म–बन्धन से। न अच्छा, न बुरा, न पुण्य, न पाप, न शुभ, न अशुभ, न यज्ञ, न हवन, न जप, न तप, न दान, वह किसी भी कर्म से नहीं बंधता, कोई भी कर्म इसका नहीं होता! वह ईश्वर द्वारा करवाए गए सब कृत्यों को, जो उसकी देह द्वारा होते हैं, ईश्वरीय कर्म मानता है। उसका अपना कोई बन्धन किसी भी कर्म में नहीं होता। वह सब प्रकार के कर्मों का आनन्द लेता है। **कर्म–बंधन से मुक्ति और कर्म–बन्धन से युक्ति, यह आध्यात्मिक और भौतिक मानवों का एक विशिष्ट अन्तर है।**

भौतिक मानव अति सम्पन्न एवं समृद्ध जीवन जीते हुए भी भय, त्रास, विशेष, चिन्ता, रोग, दोष और न जाने कितने विकारों से प्रकट अथवा अप्रकट रूप से लिप्त रहते हैं, जबकि आध्यात्मिक पुरुषों का एक विशेष लक्षण है, वे मुदिता, हर्ष, उल्लास, अभय, आरोग्यता, सर्वसम्पनता, मस्ती, साहस, उत्साह, ईश्वरीय–मोह, ईश्वरीय कृपा एवं आनन्द से युक्त होते हैं। हर परिस्थिति में उनके यह विशेष लक्षण उनमें दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसे मानवों के सान्निध्य में,उनके समीप बैठने वालों को भी एक शान्ति का अनुभव होता है। बाह्य रूप से वे कभी–कभी क्रोध में या चिंता में लगते से हैं, लेकिन उनकी भीतरी स्थिति बहुत आनन्द–पूर्वक होती है, अत्याधिक ईश्वरीय होती है, जिसको साधारण मनुष्य के लिये समझना बहुत कठिन है। तो यह विशेष लक्षण है एक आध्यात्मिक एवं भौतिक व्यक्ति में।

भौतिक व्यक्तियों को अपने बल–बुद्धि और विद्या पर बहुत अहंकार होता है। वे ऐसा समझते हैं कि जीवन उनके चलाने पर चल रहा है। अपनी बुद्धि से

योजनाएं बनाते हैं, उनके अनुसार चलते हैं और उनके अनुसार पलते हुए ये दुख–सुख का अनुभव करते हैं। सफलता–असफलता उनको भासती है। कभी अपने आपको सौभाग्यशाली, कभी दुर्भाग्यशाली मानने लगते हैं और दूसरों के प्रति भी उनका ऐसा ही भाव रहता है।। जबकि आध्यात्मिक जगत अपने में स्वतः भाव पर आधारित है। कोई भी आध्यात्मिक व्यक्ति जानबूझकर कोई भी योजना नहीं बनाता, उसका केवल एक लक्ष्य होता है। उसकी दृष्टि केवल अपने इष्ट पर होती है। उस महाकालेश्वर के काल की विधाओं पर, कि किस प्रकार वह ईश्वरीय सत्ता उससे क्या करवाना चाहती है? जो कार्य स्वत. भाव से हो रहा है, उसी कार्य को वे आनन्दपूर्वक करते हैं। किसी भी कर्तव्य बंधन से वे नहीं बंधते।

जैसा कि मैं पहले भी वर्णन कर चुका हूँ, कि जो कार्य हमारे बिना भी हो सकता है वह हमारा कर्त्तव्य कैसे हो सकता है? यह परम सत्य है। जबकि भौतिक मानव कर्त्तव्यों का, कर्मों का बोझा ढोते रहते हैं, कि मेरा अमुक कर्त्तव्य है स्त्री के प्रति, पुत्र–पुत्री के प्रति, देश व समाज के प्रति, अपनी देह के प्रति और न जाने कितने कर्त्तव्यों का, कितने कर्मों का बोझा ढोते रहते हैं और ढोते ही रहते हैं जीवन के आरम्भ से अन्त तक। उसके बाद अगले जन्म में भी उन बोझों से कभी निवृत्ति नहीं होती। लेकिन आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करते ही वे कर्त्तव्य बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, एक विचार में समाहित हो जाते हैं कि जो कार्य उनके बिना भी हो सकता है, वो उनका कर्त्तव्य कैसे हो सकता है?

तो जो आध्यात्मिक पुरुष हैं उनको कोई कर्त्तव्य बंधन नहीं होता। ईश्वर द्वारा दी गई सद्बुद्धि का प्रयोग केवल ईश्वर की प्रशंसा और उस ईश्वर के चमत्कारों के वर्णन में, उसके चिंतन में, उसके मनन में ही लगाते हैं, क्योंकि वे जानते हैं, कि वह ईश्वरीय सत्ता, कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड नायक, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता स्वयं ही हैं। मानव बुद्धि से विचार करते–करते वे इस परम सत्य को पा लेते हैं और अपनी बुद्धि का सदुपयोग केवल ईश्वर की प्रशंसा में, उसके नाम–जाप में, उसकी विभिन्न विधाओं के चिंतन और मनन में ही लगाते हैं, इस प्रकार वे आनन्दपूर्ण जीवन जीते है। तो असंख्य अन्तर हो जाते हैं, जीवन की

पूरी विचारधाराएं बदल जाती है। इस प्रकार जिनको हम महामानव कहते हैं, महापुरुष कहते हैं या दिव्य लोग कहते हैं, दिव्य जीवन व्यतीत करने वाले जो दिव्य मानव है, दिव्यता को प्राप्त करने के बाद उनकी देह में, नाम–रूप में परिवर्तन नहीं आता। उनकी मानसिक स्थितियाँ परिवर्तित हो जाती है, दिव्य हो जाती हैं, वे बन्धनमुक्त हो जाते हैं। क्योंकि एक महाबंधन जो ईश्वरीय बंधन है, उस महाबंधन से बंधकर वे अन्य सासारिक बंधनों से मुक्त हो जाते हैं। वे संसार में विचरते से लगते हैं, लेकिन इस संसार का कोई भी बंधन उनको बांध नहीं सकता।

जैसा कि जगत विदित है कि मानव–मन की तीन अवस्थाएं हैं–मल, विक्षेप और आवरण। दिव्य व्यक्तियों का मल अर्थात मानसिक मलिनता समाप्त हो जाती है। मलिनता अर्थात् तुच्छ बुद्धि, तुच्छ विचार। व्यष्टि भाव जब समाप्त हो जाता है तो इसके साथ ही मानसिक विक्षेप, वास, भय व चिन्ता भी समाप्त हो जाती है क्योंकि मलिनता का और विक्षेप का दामन–चोली का साथ है। जैसे ही मल समाप्त होता है तो साथ ही, स्वतः ही मानसिक विक्षेप भी समाप्त हो जाता है और जब मानसिक विक्षेप समाप्त हो जाता है तो आवरण स्वतः ही हट जाता है। आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करने के बाद मल, विक्षेप और आवरण हट जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं। जब अपने सच्चिदानन्द स्वरूप की झलक मिल जाती है तो वह झलक उस ईश्वरीय मानव को, उस उपासक को, उस साधक को झल्ला सा बना देती है, मस्त सा कर देती हैं, तो यह एक महा अन्तर है भौतिक और आध्यात्मिक पुरुष में।

आध्यात्मिक जगत में मानव मल, विक्षेप और आवरण से मुक्त हो जाता है। वह अपने स्वरूप के आनन्द में विचरने लगता है। उसके भीतर से स्वतः ही ज्ञान प्रस्फुटित हो जाता है। वेद, श्रुतियाँ, उपनिषद् और अन्य विशिष्ट धर्म ग्रन्थ उसके भीतर से ही बोलने लगते हैं। उसकी हंसी, उसका गंभीर होना, उसका मुस्कुराना और प्रत्येक क्रिया उल्लेखनीय होती है, विचारणीय होती है, सार्थक होती है। जबकि सांसारिक मानव भले ही वह अपनी बुद्धि का कितना ही सर्वोत्तम प्रयोग करें, उनकी क्रियाओं का अन्तिम अर्थ कुछ भी नहीं होता, वह

निरर्थक होती है। इस प्रकार यदि हम यह निर्णय लेना चाहें, कि अमुक व्यक्ति कौन सा जीवन बिता रहा है, वह भौतिक है अथवा आध्यात्मिक, तो इन कुछ विशिष्ट लक्षणों का मैने वर्णन किया है, जिनके आधार पर हम स्वयं को या किसी व्यक्ति को उसके इस बदले हुए व्यक्तित्व से आध्यात्मिक व्यक्तित्व से पहचान सकते हैं। इस सम्पूर्ण विषय का जो सारांश है वह यह कि आध्यात्मिक जगत बन्धन–मुक्त है जबकि सांसारिक जगत, भौतिक जगत बन्धन–युक्त है, तो क्यों न हम इन शक्तियों को ईश्वर निमित्त करते हुए आध्यात्मिक जीवन बिताएं।

।। जय जय श्री राम।।

ईश्वरीय प्रतिनिधित्व एवं धर्म

बहुत साधारण परन्तु अति जीवनोपयोगी विषय, ईश्वर के साथ सम्पर्क और उस सम्पर्क का अनुभव करने के बारे में, आपके सामने रख रहा हूँ कोई भी बुद्धिमान मानव जब अपने चहुँ ओर, भीतर—बाहर, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सृष्टि में, तनिक भी बुद्धि लगाता है, उस पर विचार करता है, उसके बारे में मनन करना चाहता है और जब विचारों का आदान—प्रदान करता है, किन्हीं दूसरे बुद्धिजीवी पुरुषों के साथ, तो एक बात उसके हृदय में समाहित हो जाती है, कि कोई अथाह, अपार शक्ति ऐसी है, जिसने इस महाब्रह्माण्ड का निर्माण किया होगा और जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को चला रही है।

आप अपनी मानव देह को ही ले लीजिए। असंख्य कार्य हो रहे हैं इसके भीतर। रुधिर का चलना, भोजन का पचना, श्वास का लेना, हृदय गति का निरन्तर जारी रहना और अन्य अनेक कार्य स्वतः ही सुचारु रूप से हो रहे हैं, जो कि मानव—बुद्धि के लिए अपने में एक चमत्कार है। आकाशमण्डल को ले लीजिए, पृथ्वी और इसके पदार्थों को ले लीजिए, असंख्य वनस्पतियों को, जीवधारियों को, सागरों को, नदियों को, झरनों को, असंख्य पर्वतमालाओं को, प्रकृति की हरियाली को, विभिन्न प्रकार के नाम—रूपों में सुसज्जित एक—एक रंग में अनेक प्रकार की विभिन्नताओं को और किसी भी एक प्राकृतिक वस्तु को ले लीजिए। उसमें जब हम मानव बुद्धि का अधिकतम् प्रयोग करके भी, उस पर विचार करने की कोशिश करते हैं, तो अन्ततः मुख से वाह—वाह। निकल पड़ता है। क्या कमाल किया है उस बनाने वाले ने। कितनी सम्पूर्ण है उसकी संरचना! तो ईश्वर की अनुभूति होती है सर्वत्र।

कुछ जिज्ञासु मानव जैसा कि मैं अपने पहले प्रवचन में बता चुका हूँ, उस ईश्वरीय सत्ता के समीप जाना चाहते हैं, उसका सामीप्य चाहते हैं, सानिध्य चाहते हैं और उसको कार्यान्वित करने के लिए वे सदा अग्रसर रहते हैं। वास्तव में यही जो इन कोटि—कोटि ब्रह्मांडों का नायक है, सृजनकर्त्ता है, पालन एवं संहार कर्त्ता है, वह सत्ता क्या है? वह ईश्वर क्या है? उसकी समीपता कैसे पाई जाए, उसका सान्निध्य कैसे ग्रहण किया जाए, तो अपने में यह एक बहुत बड़ा

प्रश्न एव प्रश्न चिन्ह बनकर कुछ विरले मानवों के मस्तिष्क में कौंधता रहता है, ऐसे मानव, जिज्ञासु कहलाते हैं। अब इस जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिए महापुरुषों ने अलग–अलग मार्ग प्रशस्त किए हैं। परन्तु उस परम सत्य को पाना ईश्वर कृपा के ऊपर निर्भर करता ***सोई जानई जिस देहू जनाई, जानत तुम्ही, तुन्हई हो जाई***। वास्तव में देखा जाये तो उसको जानने के बाद वह मानव, मानव नहीं रहता। वह स्वय में ईश्वरीय स्वरूप हो जाता है।

ईश्वरीय सत्ता, ईश्वरीय शक्ति चर–अचर में, एक–एक जर्रे में, एक–एक पल में, एक–एक क्षण में, कोई भी ऐसा काल, कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जिसमें वो विराजमान न हो। वह शक्ति, महाशक्ति इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कण–कण में व्याप्त है, बल्कि सारा महाब्रह्माण्ड उसके भीतर है। वह एक सागर की नाईं है जिसके भीतर सारा ब्रह्माण्ड समाया हुआ है। तो प्रश्न यह उठता है कि उस महाशक्ति के साथ सम्पर्क कैसे करें? जैसा कि मैंने शुरु में ईश्वरीय सम्पर्क के बारे में तीन सूत्र दिये थे **प्रथम ईश्वर को मानिए कि ईश्वर है। दूसरा ईश्वर को नाम–रूप में मानिए। तीसरे ईश्वर के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित करिए।**

इसके पीछे हमारा एक अर्थ था। प्रत्येक व्यक्ति का एक रूप एवं नाम है, प्रत्येक वनस्पति का, आकाश मंडल में प्रत्येक नक्षत्र का, ग्रह का और पृथ्वी पर पाई जाने वाली प्रत्येक वस्तु का एक रूप है और उसको एक नाम दिया गया है। अपने ही परिवार में विभिन्न सगे–सम्बन्धियों का, माता–पिता, भाई–बहिन, पति–पत्नी एवं समस्त सम्बन्धों का, रहने के स्थान का और सब चीज़ का एक नाम है, एक रूप है। किसी भी वस्तु की पहचान या किसी भी जीवधारी के साथ सम्पर्क, हम उसके नाम और रूप के आधार पर ही करते हैं। इसी प्रकार उस महाशक्ति, उस परमात्मा सच्चिदानंद ईश्वर के साथ सम्पर्क करने के लिए और उसको पहचानने के लिए यदि हम यही साधारण सा, सामान्य सा, नाम और रूप का सूत्र प्रयोग करें, तो क्या हम ईश्वरीय सानिध्य पाने में सफल न होंगे? तो उसको क्या नाम और रूप दिया जाए? जैसा कि मैं पहले बता चुका हूं, हमारे भारतीय मनीषियों, ऋषियों व महापुरुषों ने इसके लिए एक बहुत विस्तृत और

खुला मार्ग रखा है, कि ईश्वर को नाम व रूप में मानने के लिए आप अपनी पसन्द से काम लीजिए। आपको वनस्पतियों से प्रेम है, तो ईश्वर को आप वनस्पति के रूप में मान लीजिए, **पीपल नारायण** मान लीजिए। आपको नभ के विभिन्न ग्रह–नक्षत्रों से प्रेम है, आप **सूर्य भगवान या चन्द्र भगवान** मान लीजिए। आपको पत्थरों से प्रेम है तो आप **शिवलिंग** के रूप में मान लीजिए। नदियों से प्रेम है तो **गंगा मैया, यमुना मैया** के रूप में मान लीजिए। पक्षियों से प्रेम है, तो **गरुड़ भगवान** के रूप में मान लीजिए इत्यादि–इत्यादि। उस ईश्वरीय सत्ता को अपनी पसन्द से, अपनी इच्छा से किसी भी नाम–रूप में मान लीजिए। नाम–रूप में मानने के बाद अब उससे सम्पर्क करना है, तो उस नाम व रूप की आपके पास पहचान होनी चाहिये। जैसे किसी व्यक्ति का जब हम परिचय करते हैं, या करवाते हैं, तो मनुष्य देह में सबसे प्रमुख होता है, मुख। जब हम किसी से बात करते हैं तो उसके चेहरे की ओर देखकर करते हैं, चेहरे के भी विभिन्न अंगों में से नेत्र अधिक आवश्यक अंग है।

तो सम्पूर्ण मानव देह का जो प्रतिनिधित्व करता है, वह है मानव का चेहरा, उसका मुख और मुख में भी विशेषकर उसके नेत्र। इसी प्रकार उस ईश्वर का भी कोई प्रतिनिधित्व अवश्य होगा। यदि हम किसी विशिष्ट आकृति में या नाम–रूप में, ईश्वर को न भी मानें, तो महापुरुषों ने ईश्वर के प्रतिनिधित्व के रूप में पाँच महाशक्तियों को लिया है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश। जब कोई विशिष्ट पवित्र कार्य होते हैं, धार्मिक अनुष्ठान, यज्ञ–हवन, विवाह आदि शुभ कार्य सम्पन्न होते हैं, तो उन पाँच ईश्वरीय प्रतिनिधित्वों में से किसी एक अथवा दो को साक्षी बना लिया जाता है। जैसा आपको विदित है, विवाह–शादियों में विशेषकर हिन्दु–पद्धति में, अग्नि के चहुँ ओर वर–वधू द्वारा फेरे लिए जाते हैं और उसके बाद वे पति–पत्नी बन जाते हैं। पूजा, अनुष्ठानों में दीप जलाया जाता है, अग्नि की विशेषता रहती है, जल रखा रहता है, कुम्भ और कलश की स्थापना की जाती है। विभिन्न प्रकार की नदियों व सागरों के जलों को उसमें सम्मिलित किया जाता है, डाला जाता है तो यह पाँचों शक्तियों ईश्वर की प्रतिनिधि मानी जाती है।

यदि हम बहुत गहनता से विचार करें, तो पृथ्वी का एक नाम है लेकिन उसका रूप किसी विशेष परिधि में नहीं आता। इसी प्रकार जल का एक नाम है लेकिन रूप इसका निर्धारित नहीं है। अग्नि का भी एक नाम है। आकाश का भी एक नाम है। वायु का भी नाम है लेकिन इनके रूप निर्धारित नहीं है। कोई भी जीव, कोई भी मानव जिसका अपना नाम और रूप निर्धारित है, उसको ईश्वरीय नाम–रूप निर्धारण में, उसके साथ सम्पर्क करने में, पहचानने में अधिक सुविधा होती है। इसलिए मानवों को यह दर्शन, यह दिग्दर्शन महापुरुषों ने दिखाया, कि ईश्वर को आप इन पाँच महाशक्तियों के अतिरक्त भी, किसी भी नाम अथवा रूप में मान लीजिए। जिस प्रकार कि देह का प्रतिनिधित्व मुख करता है, उसी प्रकार पृथ्वी को यदि हम ईश्वर का एक प्रतिनिधि मानें तो सम्पूर्ण पृथ्वी की कोई पूजा नहीं कर सकता। पृथ्वी पर भी कुछ विशेष स्थान जैसे तीर्थ–स्थल हैं, जहाँ पर ऋषि–मुनियों ने, तपस्वियों ने तप किए होते हैं या ऐसे स्थान जहाँ पर ईश्वर के कुछ विशेष चमत्कार प्रकट होते हैं। पृथ्वी को, उन विशेष स्थानों से प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

इसी प्रकार महासागर में कुछ विशिष्ट क्षेत्र ऐसे होते हैं, जहाँ कोई न कोई ईश्वरीय चमत्कार अवश्य प्रकट होते हैं। आकाश मंडल में कुछ ऐसे विशिष्ट नक्षत्र अथवा ग्रह हैं जो कि आकाश का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार अग्नि और वायु का भी प्रतिनिधित्व होता है। जहाँ–जहाँ पर पृथ्वी पर तीर्थस्थल हैं, लोग वहाँ पूजा करते हैं, मानसिक शान्ति के लिए वहाँ जाते हैं, ध्यान के लिए जाते हैं। आज भी पूरे ब्रह्माण्ड में असंख्य तीर्थ हैं, जहाँ पर महापुरुषों द्वारा विशेष ईश्वरीय शक्तियों का प्रगटीकरण, साक्षात्कार एवं सम्पर्क हुआ है। आज भी इन तीर्थ–स्थानों की पूजा, अर्चना एव मान्यता है परन्तु इससे सरल और सरलतम् मार्ग, जिसका मैं वर्णन कर चुका हूँ, उस ईश्वरीय सत्ता को अपनी पसन्द के किसी नाम व रूप में भी माना जा सकता है। तो उस नाम व रूप में मानने के बाद उसकी आराधना की जाती है। संसार में सबसे विचित्र बात यह है कि स्वयं में 'ईश्वरीय सत्ता' को भी संसार में एक नाम व रूप में नहीं जाना जाता। असंख्य मानव, असंख्य समुदाय, जातियाँ, वर्ण, समाज उस ईश्वर को भी

विभिन्न नामों व रूपों में मानते हैं। कहीं वे किसी नाम से, कहीं किसी रूप से माने जाते हैं। कहीं साकार में, कहीं निराकार में। कही रूप में, कहीं अरूप में। विभिन्न मान्यताओं में अेर विभिन्न विचारधाराओं में उनका मनन, चिंतन, पूजन इत्यादि होते हैं अर्थात् ईश्वर का भी करोड़ों ब्रह्माण्डों में अपना कोई एक विशिष्ट नाम अथवा रूप नहीं माना जाता। लेकिन जितने भी नाम और रूप हैं, जितनी भी मान्यताएँ हैं वे एक ईश्वर की है। यह बात बहुत गौर करने की है।

एक ईश्वर विभिन्न–विभिन्न नाम में, रूप में और मान्यताओं में माना जाता है। एक ईश्वर और विभिन्न मान्यताएँ, विभिन्न रूप और विभिन्न नाम, एक ईश्वर के हैं अर्थात् ईश्वर एक ही है और मान्यताएँ भिन्न–भिन्न हैं। तो टकराव क्यों है? आपसी झगड़े सिर्फ नाम व रूप की मान्यताओं के क्यों हैं? यदि विचारपूर्वक देखा जाए, तो सब नाम और रूप एक ईश्वर के हैं। मानव यह भूल जाता है, कि वह ईश्वर एक ही है जिसकी विभिन्न नाम व रूप में सारे ब्रह्माण्ड में मान्यता है, तो उस ईश्वर की एकता को हम भूल जाते हैं और उसकी मान्यताओं में आकर हम आपसी कलह, झगड़ों और प्रतिस्पर्धाओं में पड़ जाते हैं **आज के विश्व में जितने झगड़े हैं, आज मानव–मानव का जहाँ भी शत्रु बना है, तो उसके पीछे इन मान्यताओं की विभिन्नता ही प्रमुख कारण है।**

बहुत विचारणीय विषय है। सब धर्म एक प्रकार की पवित्र नदियाँ हैं, जो कि अन्ततः उस ईश्वर रूपी सागर में ही समा जाएगी। धर्मावतारों ने, महामानवों ने, महापुरुषों ने, समुदायों, व्यक्तियों और विशिष्ट व्यक्तियों की मानसिक रूचि के अनुसार इन धर्मों का, इन मान्यताओं का निर्माण और आधार रखा था। लेकिन दुर्भाग्यवश, ये समस्त धर्म जो उस ईश्वरीय सत्ता, उस आध्यात्मिक जगत में ले जाते हैं इन समस्त मानवों को, ये आपस में ही झगड़ पड़े हैं। किस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के समस्त मानव किसी एक सत्ता को, किसी एक नाम व रूप में ही मान सकते है? सबकी मानसिक संरचना, चित्त की, हृदय की, मस्तिष्क की, देह की, आकार–प्रकार, व्यवहार, सस्कार सब भिन्न–भिन्न हैं। अतः इन क्लेशों, इन धार्मिक कलहों के पीछे जो वास्तविकता है, कि ईश्वर एक है, यदि हम उसका स्मरण कर लें, इस सत्य को जान जाएं, तो हमारे समस्त क्लेश, हमारे

समस्त वैमनस्य दूर हो जाएंगे। कलह खत्म हो जाएंगे, आपस में भाई–चारा बढ़ जाएगा। आखिर हम समस्त मानव जाति इन धर्मों द्वारा जा तो उस ईश्वर रूपी महासागर की ओर ही है, भले ही हमारे धर्म अलग–अलग हों, हमारी विचारधाराएं अलग–अलग हों, लेकिन हमारा भाव और हमारी गतिशीलता क्षण–क्षण, पल–पल उस महासागर की ओर है जो अध्यात्म है, जो देह से हटकर है और जिसका नाम है ईश्वर।

जब हम इस सत्य का दर्शन कर लेते हैं, इसको आत्मसात् कर लेते हैं, अनुभूति कर लेते हैं तो आपसी भाई–चारा और प्रेम उमड़ पड़ता है। रास्ते अलग–अलग हैं, स्वरूप अलग–अलग हैं, लेकिन अंतिम–लक्ष्य एक ही है, उस महासागर में विलीन होना। सभी नदियाँ–नाले दौड़ रहे हैं, भाग रहे हैं हर क्षण, हर पल, मंज़िल एक है, उद्गम अलग–अलग हैं। यह है धर्मों का प्रारम्भ, उनका बहाव और उनका अन्त, जो एक है। इस सत्य की अनुभूति के बाद पारस्परिक भाईचारा, सौहार्दता, आत्मीयता बढ़ जाती है। एक दूसरे के प्रति सहानुभूति, प्रेम बढ़ जाता है। वैमनस्य, शत्रुता समाप्त हो जाती है। जहाँ संसार में, मानवों में, महामानवों में यह भाव आ जाएगा ईश्वरीय प्रेम का भाव, तो समझ लीजिए कि वह सारा ब्रह्माण्ड उस एक ईश्वरीय सत्ता के अधीन और उसके आश्रय में अपने आपको अनुभव करने लगेगा। कलह समाप्त हो जाएंगे। एक अद्भुत, एक विलक्षण वातावरण बन जाएगा। युद्ध टल जाएंगे। हर मानव–मानव को अपने भाई के समान, अपने अति घनिष्ठ मित्र के समान देखने लगेगा। शायद समस्त धर्मों का सांराश भी तो यही है। समस्त धर्मों का अर्थ हम समझ जाएंगे। जिस दिन यह भाव, सम्पूर्ण मानव–जाति में आ जाएगा, कि समस्त धर्मों के पीछे एक सामान्य धर्म भी है जिसका नाम है **मानव–धर्म**। धर्म का सम्बन्ध मानव से है। उसके पैदा होने से लेकर मृत्यु तक और मृत्यु के बाद तक, जिस प्रकार कि मृतक संस्कार हिन्दू धर्म में अलग प्रकार से होते हैं और अन्य धर्मों में अलग प्रकार से। तो नियमानुसार उत्पन्न होने से लेकर मृत्यु तक और मृत्यु के बाद भी प्रत्येक मानव का उसके धर्म के अनुसार प्रत्येक कार्य होता है और होना चाहिए। अर्थात् धर्म का सम्बन्ध मानव देह से है। यहाँ तक कि जब

स्त्री गर्भ धारण करती है तो धार्मिक प्रतिष्ठान उसी समय शुरु हो जाते है। मृत्यु तक और मृत्यु के पश्चात् विभिन्न संस्कार, विभिन्न अनुष्ठान, विभिन्न धार्मिक विधि–विधान जितने हैं, यह सब मानव देह से सम्बन्धित हैं। यहाँ यह बात बहुत स्पष्ट होनी चाहिए, कि धर्म का सम्बन्ध देह से है। बहुत से लोग धार्मिक एवं आध्यात्मिक जगत में अन्तर ठीक से नहीं समझते।

जो अध्यात्म है, वह देह से परे है। जिस प्रकार कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों में, मानवों के विभिन्न नाम–रूप, रीति–रिवाज, विचारधाराएं, कल्पनाएं, धारणाएं अलग–अलग हैं उसी प्रकार प्रत्येक के धर्म अलग–अलग हैं और एक ही धर्म के असंख्य अंग हैं, जिन सबको मिलाकर धर्म का एक प्रारूप बनता है, स्वरूप बनता है। जैसे मानव देह में विभिन्न अंग हैं, इसी प्रकार किसी एक धर्म में भी असंख्य अंग हैं, जिनको मिलाकर वह धर्म बना है, क्योंकि एक ही धर्म का अनुसरण करने वालों की भी विभिन्न विचारधाराएं हैं।

इसीलिए यह मानकर चलते हैं कि जो धर्म हैं वे विभिन्न प्रकार की असंख्य नदियाँ हैं, स्त्रोत हैं जिनका बहाव ढलान की तरफ है और अन्ततः ये अध्यात्म रूपी सागर में ही जाकर मिलते हैं। अर्थ क्या है? इन धर्मों का जो सांराश है वह यह कि मानव अपनी देह द्वारा देह से उठे और विदेह हो जाए। देह को आप नकार नहीं सकते। मानवीय सम्बन्धों को आप नकार नहीं सकते और जब तक आपने देह धारण की है, तब तक धर्म भी धारण करना पड़ता है। धर्म का अर्थ है कि **आप देह से किस प्रकार विदेह हो सकते हैं यानि इन्द्रियों के भोग करते हुए आप किस प्रकार अतीन्द्रिय आनन्द में प्रवेश कर सकते हैं? बहुत आवश्यक है अतीन्द्रिय सुख, जिसको शास्त्रकारों ने कहा है 'अभावमय आनन्द'।** जहाँ किसी भी इन्द्रिय का सुख नहीं है, लेकिन आनन्द है, जैसे समाधि का आनन्द, तुरीया अवस्था का आनन्द। वे अभावमय आनन्द है।

अभावमय आनन्द जहाँ कोई भी वस्तु नहीं होती, लेकिन आनन्द होता है क्योंकि जीव का अपना स्वरूप ही आनन्द है, आनन्दस्वरूप। उस आनन्द को पाने का सीधा मार्ग भी है, लेकिन यदि इन्द्रियों द्वारा वहाँ पहुँचा जाये अतीन्द्रिय सुख में, तो इन्द्रियाँ स्वतः ही हमारी चेरी बन जाती हैं। मान लीजिए कि मैं

आपसे कुछ धन मँगवाता हूँ और आप किसी विशेष व्यक्ति से धन लेकर मुझे देते हैं। यदि मैं उस व्यक्ति से स्वयं धन लेने लग जाऊँ और आपको यह ज्ञात हो जाए, कि मै उससे स्वयं भी धन ले सकता हूँ, तो आपकी बीच में मात्र एक सेवक की भूमिका होगी। इसी प्रकार **जब इन्द्रियों को यह मालूम चल जाये, कि यह व्यक्ति साधना द्वारा अतीन्द्रिय सुख में हमारे बिना भी पहुँच सकता है, तो इन्द्रियाँ स्वतः ही दासी बन जाती हैं।** किसी शास्त्र में, उपनिषद् में, वेद में, वृत्ति में, वेदान्त एवं पुराण में कहीं भी इसका वर्णन नहीं है, जो हम आपको बता रहे हैं, यह आत्मानभूति का विषय है। इन्द्रियों की अवहेलना नहीं करनी है। देह के द्वारा ही आप, अपने आत्मस्वरूप को पहचानते हैं।

यदि उस अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करने के लिए आप इन्द्रियों के द्वारा जाते हैं, तो इन्द्रियाँ सम्मानित हो जाती हैं और आपकी सेविका बन जाती हैं। तो जीवन के किसी भी पहलू में ये इन्द्रियाँ आपको तंग नहीं करती। वरना क्या होता है कि जब कुछ योगी लोग अति उत्साही हो जाते हैं और वे इन्द्रियों की अवहेलना करके, तिरस्कृत करके, उस अतीद्रिय सुख को प्राप्त कर लेते हैं, अनुभव कर लेते हैं, तो उस अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करने के बाद जब कुछ ईश्वरीय चमत्कारों के, शक्तियों के स्वामी बन जाते हैं, तब ऐसा देखा गया है, कि वे इन्द्रियों के सुखों के अधिक लोलुप बन जाते हैं।

इसीलिए जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, वह यह कि आप अपनी इन्द्रियों को, देह को नकारिये मत। इनके द्वारा आप उस आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करें तो आपकी इन्द्रियां सम्मानित होंगी। आपकी देह सम्मानित होगी, क्योंकि सत्य यह है कि जिस समय आप देह के साथ हैं, उस समय आपका प्रारूप देह है। आप देह है। उस समय चाहे हम तार्किक दृष्टि से कितना भी कह दें, कि मैं देह नहीं हूँ, यह देह जो है मेरी है, मै देह नहीं हूँ लेकिन यदि आप एक सच्चे उपासक बनना चाहते हैं, तो जब आपके ध्यान में देह है, तो आप देह है। आपका एक शरीर है, एक नाम है, एक रूप है, एक धर्म है, संस्कार है, आपकी पत्नी है, पति है, आपके बाल–बच्चे, समाज सब कुछ आपका है और आप देह है। देह रूप से आपका एक नाम है और एक रूप है। आप ईश्वर की उपासना भी अगर

नाम–रूप में करें, तो आपको अवश्य सफलता मिल जाएगी।

लोग निराकार उपासना की बात करते हैं तो निराकार उपासना भी एक पद्धति है, इसमें सन्देह नहीं है। लेकिन निराकार की उपासना के लिए आपको भी निराकार होना पड़ेगा, जो एक साधारण मानव तो क्या एक साधक के लिए भी अति कठिन है। निराकार की उपासना बड़ी प्रचलित है और लोग बहुत डींग भी हाँकते हैं।

मैं बड़ा कठोर शब्द इस्तेमाल कर रहा हूँ, लेकिन अगर आप ईश्वर को निराकार रूप में मानते हैं, तो उसकी उपासना के लिए आपको भी नाम व रूप से परे हटना पड़ेगा, जो कि अति कठिन है, दुस्तर है। इसलिए आप ईश्वर को साकार, नाम व रूप में मानने के लिए, अपनी देह के नाम रूप में और देह स्वरूप में चलिए और यदि आप चलते हैं तो आप देह है। हाँ, जब देह आपके विचार से हट गई जैसे निद्रा अवस्था में, मूर्छावस्था में या समाधि में, तब आप देह नहीं होते। इसी प्रकार **तुरीय अवस्था में, आपकी देह अलग होती है। ऐसी अवस्था में आपकी जो उपासना है, वह स्वतः ही निराकार ईश्वर की हो जाती है।**

जब आप देह में है, तो आप सत्य मानकर चलिये, कि आप देह हैं और जब देह आपके विचार में नहीं है, उस समय ईश्वरीय सत्ता आपके लिए स्वतः ही निराकार हो जाती है। यदि कोई कहे कि स्वप्न में हमें अपने इष्ट के दर्शन हुए तो स्वप्न में भी आपकी एक देह है। जब रवप्न में आपको साकार रूप में ईश्वर के दर्शन होंगे, तो स्वप्न में भी दर्शन करने के लिए आपकी एक देह होगी, जिसका एक नाम और एक रूप होगा। तो इसलिए यह विषय अति विचारणीय है। **कोई भी धर्म हो उसका सम्बन्ध मानव देह से है। धर्म, देह से अलग नहीं है और अध्यात्म में देह का कोई प्रश्न नही है।** तो आत्मचिंतन के लिए, जो संसार से अलग है, 'धर्म' मानव को वहाँ ले जाते है, कैसे?

आज यहाँ से हम तीर्थ–यात्रा प्रारम्भ करते हैं। लोग बताते हैं कि जगननाथ पुरी, द्वारिका पुरी, बदरी–केदार, यमुनोत्री, गंगोत्री इत्यादि–इत्यादि यह धाम हैं। **वास्तव में जो धाम है वे हैं अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष। ये चार धाम है। जब**

मानव, मानव कोटि में आ जाता है, जब ईश्वर को मानने लगता है तो वहाँ से यह चार धाम यात्रा शुरू होती है

प्रथम धाम है, अर्थ, अर्थ की पूर्ति, क्योंकि किसी भी धार्मिक कर्म के लिए भी धन चाहिए। उसके बाद **द्वितीय धाम है**, धर्म वह भी **देह** से होता है, **धर्म देह से** ही होता है। धर्म और अर्थ के पीछे कोई न कोई कामना होती है, इच्छा होती है। **तीसरा धाम है, काम** जब कामना पूर्ण होने लगती है, तो बाद में मानव थक जाता है कि एक कामना पूर्ण हुई, दूसरी खड़ी हो गई, दूसरी पूर्ण हुई, तीसरी खड़ी हो गई तो इन कामनाओं का अंत कहाँ है? तो तीसरे धाम से भी वह विचलित होकर **चौथे धाम, मोक्ष** की ओर प्रेरित होता है, उस मानव को हम **मुमुक्षु श्रेणी** में लेते हैं। धर्म का प्रादुर्भाव कहाँ से होता है? क्यों होता है? इसका अन्त क्या है? मध्य क्या है?

संसार की लगभग सभी सरिताएँ, नदियाँ अन्ततः सागर के अंतराल में विलीन हो जाती हैं और वही सागर सूर्य की उष्मा से पुनः वाष्प और वाष्प से बादलों का निर्माण करता है। यही मेघ ऊँची पर्वतश्रृंखलाओं पर जाकर संघनित होकर वर्षा करते हैं और वे हिमखण्ड पुनः उसी सूर्य की उष्मा पाकर अनेक जल–धाराओं में परिवर्तित हो जाते हैं, जो मिलकर किसी न किसी नदियां का रूप धारण कर लेती है।

उन हिमखण्डों से निकली हुई ये नदियाँ अति तीव्र वेग से न जाने कहाँ–कहाँ होती गति से दौड़ने लगती हैं और रास्ते में न जाने कितनी जल–धाराएँ, इनके साथ पुनः क्रमशः मिलती रहती हैं। जैसे–जैसे ये भागती हैं, इनका रूप वृहत् हो जाता है, विशालकाय हो जाती हैं और बहती–बहती अन्ततः सागर के पास जाकर यह एक नदिया पुनः विभिन्न अनेक धाराओं में परिवर्तित हो जाती है। उन धाराओं के बीच में जो स्थल है, उन्हें द्वीप कहते हैं। एक नदिया विभिन्न धाराओं में परिवर्तित होने के पश्चात् पुनः सागर में लीन हो जाती है।

कितनी समानता है आरम्भ में और अन्त में। हिमखण्डों से एक नदिया नहीं निकलती बल्कि बहुत सी जल–धाराएं निकलती हैं। इसी प्रकार सागर में

विलीन होने से पहले नदियाँ बहुत सी जल–धाराओं में पुनः परिवर्तित हो जाती हैं, बस मध्य में वह नदी रहती है। वही सूर्य भगवान अपनी उष्मा से सागर को और सागर के जल को वाष्पित करते हैं और मेघों का रूप लेते हैं और वही सूर्य की आभा पर्वत श्रृंखलाओं पर आच्छादित हिमखण्डों व तुषारखण्डों को जलधारा में परिवर्तित करती है।

सूर्य एक है, सागर एक। आरम्भ एक है और अन्त एक, बस मध्य में है नदियाँ। इसी प्रकार यदि हम मानव जीवन को लें, तो जब मानव शिशु उत्पन्न होता है, उसका न कोई अपना धर्म होता है, न कोई किसी से सम्बन्ध, न नाम और न कोई विशिष्ट रूप। पल–पल वह अपना रूप परिवर्तित करता रहता है। हर दिन नया स्वरूप अति कोमल मानव–शिशु का। वह सांसारिक माया में भी लिप्त नहीं होता, क्योंकि स्वयं में वह न किसी सम्पदा का, न धन का मालिक होता है और न उसे किसी प्रकार का कोई अहम् होता है, न उसकी कुछ कामनाएँ होती हैं। वह मात्र शिशु होता है धर्मातीत, कालातीत, कर्म–बंधन से परे, पाप–पुण्य से परे। इसलिए मानव–शिशु को ईश्वर का, भगवान का एक छोटा सा स्वरूप माना गया है। उसके द्वारा हुए किसी भी कर्म का कोई महात्मय नहीं होता, क्योंकि उसकी किसी कर्म की मान्यता ही नहीं है। इसी प्रकार जब मानव जीवन समाप्त होता है, तो किसी भी मानव के शव का कोई भी धर्म, कर्म, सम्पदा, सम्पत्ति, पद इत्यादि कुछ नहीं होता। जैसा भी कोई चाहे व्यवहार कर ले, शव कोई प्रतिरोध नहीं डालता, कुछ नहीं माँगता। मानव जीवन का प्रारम्भ और अंत लगभग एक समान होते हैं, लेकिन जीवन का यह मध्य ही मानव को कर्मों में, धर्मों में, परिवारों में, समाज में, समुदायों में, देशों में, विदेशों में, वर्णों में और न जाने किस–किस चीज में बाँट देता है और मध्य में ही यह मानव ईश्वर को भी बाँट देता है।

जहाँ धर्म है, जहाँ कर्म–बन्धन है, जहाँ संस्कार–बंधन है, परिवार–बंधन है, समाज–बंधन है वहाँ तक तो मानव बंधा हुआ है, वह बन्दा है। तो यहाँ यह बात जानने की अति आवश्यक है कि जहाँ तक धर्म है और किसी भी धर्म का अस्तित्व है, वहाँ तक मानव मात्र एक नदिया की धारा ही है, वह सागर नहीं है।

जिस प्रकार यह नदिया सागर में मिलने के बाद अपना नाम व रूप खो देती है, असंख्य नदियाँ सागर में मिलकर मात्र सागर बन जाती हैं और उनसे वाष्पित होने के बाद उनसे उठे हुए मेघ, मात्र मेघ होते हैं और उन मेघों के पुनः संघनित होने के बाद पर्वत श्रृंखलाओं पर बने हिमखण्ड मात्र हिमखण्ड होते हैं। उनका कोई नाम, रूप एव धर्म नहीं होता। वे धर्मातीत होते हैं। इसी प्रकार जब मानव असीम प्रभु कृपा, इष्ट कला, सदगुरु कृपा से, उस महासागर रूपी आध्यात्मिक जगत में उतर जाता है, आत्मचिंतक बन जाता है, देह का नाम–रूप होते हुए भी, वह उस परमपिता परमात्मा का साक्षात्कार, सान्निध्य, समीपता पाने में और उपासना में तत्पर हो जाता है तो प्रभु की विशिष्ट कृपा से उसको, उस सान्निध्यता का भास होने लगता है। देखने में वही मानव एक नाम–रूप से जाना जाता है, परन्तु उसका भीतरी जगत, उसका मानसिक जगत, किसी नाम–रूप, धर्म, काल, समुदाय, समाज, देश इत्यादि–इत्यादि किसी से नहीं बंधता। वह खुल जाता है। वह खुदा–सा बन जाता है धर्मातीत, कालातीत, देशातीत। तो ऐसे मानव को, ऐसे महापुरुष को आध्यात्मिक कहते हैं।

आध्यात्मिक जगत एक सागर है, अति विस्तृत महासागर और इसमें प्रवेश करने के बाद महामानव अपना नाम–रूप, धर्म, काल और अनन्य, असंख्य बंधनों से मुक्त हो जाता है। उस सागर रूपी विचारधारा में प्रवेश करने के बाद, यह मानव देह के होते हुए भी, उसका एक नाम, रूप अथवा धर्म सा होते हुए भी आध्यात्मिक मानव कहलाता है। **यह अवस्था उसकी जीवन–मुक्ति की अवस्था है, जीवन–मुक्त हो जाता है वह। मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।** जब तक यह मध्य में एक नदिया के नाम–रूप की तरह विभिन्न धर्मों से, समुदायों से, देशों–विदेशों के नाम से जाना जाता है, तब तक वह मात्र मानव ही है, मात्र मानव। कभी–कभी अपनी पशु वृत्तियों के कारण, आपस में विभिन्न धर्मों के मानव, यहाँ तक कि एक ही धर्म के मानव परस्पर कलह, विक्षेप और द्वैत भाव से ग्रसित होकर कई–कई बार विभिन्न महाकलहों व युद्धों में उलझ जाते हैं।

जैसा कि मै बता चुका हूँ कि आज विश्व में जो पारस्परिक वैमनस्य है, एक

दूसरे के प्रति जो घृणा भाव है, द्वैत है, उसका बहुत बड़ा कारण विशिष्ट धर्मों की मान्यता है। कोई भी धर्म यदि उसका वास्तविक स्वरूप समझें, तो महापुरुषों के ह्रदय में कभी ऐसा भाव नहीं रहा होगा, कि उनका अनुसरण करने वाले मानव आपस में झगडेंगे। उनका तो एक ही भाव रहा होगा, कि इन नदियों रूपी धर्मों को अनुसरण करने वाले मानव एक न एक दिन उस महासागर रूपी ईश्वरीय सत्ता में अवश्य विलीन हो जाएं, जहाँ सब जाकर एक हो जाते हैं। लेकिन यह धर्मों का अनुसरण बल्कि मैं कहूँगा गलत अनुसरण, **आज के जगत में, यह मानव की बुद्धि में पारसरिक विक्षेप और वैमनस्य का कारण बना हुआ है। सबसे बड़ा अचम्भा यह है, कि यह मानव जीवन के मात्र मध्य का, बीच का ही प्रसंग है।**

संसार के किसी भी मानव शिशु को, अबोध, नवजात शिशु को ले लीजिए, वह स्वयं में धर्मातीत है, कालातीत है और संसार में किसी भी मानव का शव ले लीजिए, अज्ञात शव, वह भी स्वयं में धर्मातीत और कालातीत है। वह समस्त दुविधाएँ, समस्त झगड़े प्रारम्भ होते है मध्य में। हम जितने भी सम्बन्धों के, कर्मों के, धर्मों के, संस्कारों के, सम्पत्ति के, सम्पदा के और न जाने कितने ही अन्य कारणों के झगड़ों में बँधते हैं, वह मात्र हमारा मध्य है। आरम्भ एक है, अन्त एक है, लेकिन समस्त वैमनस्य, दुविधाएँ मध्य में हैं और इससे भी आवश्यक बात जानने की इस मध्य के बारे में यह है, कि **जिस प्रकार नदियाँ इस मध्य में निरन्तर सागर की ओर बहती चलती हैं तीव्र गति से, यदि कोई भी मानव अति विचारशीलता से काम ले, तो उसको भी सद्गुरु की कृपा से यह बोध हो जाएगा, कि वह भी उस परमानन्द ईश्वर, उस महासागर की ओर बढ़ रहा है। मध्य मे सबकी दौड़ है और उस दौड़ के पीछे अर्थ एक ही है और वह है आनन्द।** असंख्य जीव इस जीव–जगत के, निरन्तर उस आनन्द की ओर ही बढ़ रहे हैं क्रमशः गति अलग–अलग है।

यदि गहनता से विचार करें, तो **मध्य भी उस महासागर की ओर है** तो वैमनस्य कैसा? जब उद्गम एक है, अंत एक है और मध्य का लक्ष्य एक है तो पारस्परिक झगड़े क्यों हैं? कलह क्यों है? क्या यह मानवों की मात्र समझ का

फेर नहीं है? यदि कुछ मानव, कुछ एक ही परिवार के व्यक्ति, एक ही घर से बाहर निकल कर, एक ही स्थान पर जाना चाहते हैं तो क्यों न परस्पर प्रेम से, सहानुभूति से, सौहार्दता से, सहनशीलता से और आनन्द से आगे बढ़े, जीवन का आनद लेते हुए, पारस्परिक भाई–चारे का सन्देश देते हुए।

यह कितना स्पष्ट विषय है कि मानव जब से होश सम्भालता है, उसके का जीवन और मृत्यु–पर्यन्त उसकी प्रत्येक सोच, प्रत्येक कार्य, प्रत्येक योजना मात्र आनन्द के लिए है। **यदि वह कुछ भौतिक पदार्थों को एकत्रित करना चाहता है, पाना चाहता है, उसके पीछे उसकी सूक्ष्म प्रकृति होती है उसका भोग करना। जब वह भोग करता है तो उसके पीछे उसका सूक्ष्म दृष्टिकोण होता है, उससे आनन्द लेना। जब वह उस वास्तविक आनन्द की ओर विचार करता है तब उसे इष्ट–कृपा से ज्ञात होता है, कि उस आनन्द के लिए न किसी पदार्थ की आवश्यकता है और न किसी पदार्थ के भोग की। आनन्द उसका स्वरूप है।**

सच्चिदानन्द उसका अपना स्वरूप है शुद्धता, विशिष्टतम् स्वरूप और उस स्वरूप से पुर्नमिलन के लिए वह न जाने कितने रूप धारण करता है, कितने धर्म बनाता है और अपने उस स्वरूप में विलीन होने के पश्चात् इसका, इसके धर्म से, इसके संस्कारों से और जितनी भी विभिन्नताएँ इसने मध्य में एकत्र की है, सबसे इसका छुटकारा हो जाता है, तो महाधर्म है मानव–धर्म। उस मानव–धर्म में पदार्पण होने के पश्चात् समस्त धर्मों के बीच में जो तथाकथित वैमनस्य है, वह समाप्त हो जाता है। मानव–धर्म को अपनाने के पश्चात् उस महासागर, उस परमानन्द परमेश्वर की विलीनता में बहुत कम दूरी रह जाती है।

हमारे धर्मगुरुओं ने, हमारे धर्मग्रन्थों ने मानव को उस वेगशील नदिया की तरह, सरिता की तरह उस आत्मानन्द के महासागर की तरफ प्रवृत्त होने का और विलीन होने का मार्ग सुझाया है, लेकिन दुर्भाग्यवश हम अपने उद्गम और उस अन्त को भूलकर असंख्य कलहों में उलझ जाते हैं और अपना अति बहुमूल्य जीवन व्यर्थ कर देते हैं, यह जानते हुए कि संसार का प्रत्येक मानव किसी धर्म को माने अथवा माने बिना भी उस अपने खोए से आनन्द की ओर दौड़ रहा है।

सत्य तो यह है कि पर्वत श्रृंखलाओं पर, मेघों से झरी हुई वे असंख्य वर्षा की बूंदें जब हिमखण्डों में परिवर्तित होती हैं, तो उनको अपने उस सागर रूप की याद आती है, जहाँ से वे चली होती हैं। उसको वे भूल नहीं पाती, वह पुनः तरल बन जाती हैं। वही उष्मा जिसने सागर को वाष्प में बदला होता है, उसी उष्मा का सहारा लेकर वे पुनः द्रवित हो जाती हैं और एक उमड़ती–घुमड़ती नदिया जिसका मात्र एक ही लक्ष्य होता है, कि अपने उस सत्य स्वरूप सागर में विलीन होना और विश्राम लेना, मध्य में इसको कितनी भाग–दौड़ करनी पड़ती है

यदि सम्पूर्ण घटना से हम किसी सत्य को खोजें तो हम इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँच जाएंगे, कि जो लोग असीम ईश्वर कृपा से उपासना द्वारा अपने उस सत्य स्वरूप के समीप आ जाते हैं, तो उनकी भाग–दौड़ समाप्त हो जाती है। जिस प्रकार नदिया, सागर में विलीन होने से पहले और विलीन होने के बाद शांत हो जाती है, मध्य की भाग–दौड़ है यह। शायद यह महासागर अत्यन्त सरिताओं के, नदियों के नृत्य को देखता है और आनन्दित होता है। जिस प्रकार कि कोई माता अपने गर्भ में शिशु के होते हुए भी, जब तक उसको गोद में खिला नहीं लेती उसको आनन्द नहीं आता। शिशु को गोद में खिलाने का आनन्द महतारी लेती है। जब शिशु उसके गर्भ में होता है, तो उसको वह आनन्द नहीं आता। शायद इसलिए सागर से पुनः वाष्प उठती है और पुनः हिमखण्ड बनते हैं। पुनः वे नाचती हुई द्रुत गति से उमड़ती–घुमड़ती बल खाती नदियाँ जब उसकी ओर आती है तो शायद वह सागर एक दर्शक की तरह नाटक देखता है, आनन्द लेता है। तो **वे महापुरुष जब ईश्वर के सान्निध्य में आ जाते हैं, उनकी गतियाँ रुक जाती है और वे अन्य मानवों की भाग–दौड़ को एक दर्शक की तरह देखते हैं और जो उस ईश्वरीय सत्ता से हैं, वे नाटक करते हैं**। बहुत बड़ा रहस्य है इस कथन में कि संसार में जितनी भी भाग–दौड़ हो रही है वह एक नाटक है, निरर्थक।

इस नाटक का उद्गम और अंत, अति शांत है, उसमें कोई भी हलचल नहीं है। एक माया और मन का खेल है। दुर्भाग्यवश, मानव इस तमाशे को ही अपना अस्तित्व समझ लेता है। इस संसार में कोई भी किया हुआ खेल मात्र नाटक ही

है। जब वे इस खेल के उद्‌गम या अंत के समीप पहुँचता है, वह अपनी उस स्थिर सत्ता को, ईश्वरीय सत्ता को पहचान लेता है, उसके समीप आ जाता है तो वह दर्शक बन जाता है और मध्य में वह नाटक करने वाला बन जाता है। इसलिए हमें आज, अभी यह निर्णय लेना होगा, कि मैं तमाशा करूँ या देखूँ? दोनों में एक बहुत बड़ा अन्तर यह भी रहता है, कि तमाशा करने वाला, तमाशा करने के लिए बाध्य है और उसको देखने वाला, देखने के लिए बाध्य नहीं है। यदि यह अन्तर न होता, तो तमाशगीर और तमाशबीन में कोई अन्तर नहीं होता, क्योंकि दोनों परिपूरक विधाएं हैं। यद्यपि समस्त गतियाँ आनन्द में और आनन्त के लिए ही हो रही है लेकिन एक अंतर है।

नदिया आनन्द के लिए सागर की ओर बढ़ रही है और सागर आनंद में, आनन्द से वाष्प में परिवर्तित होकर हिमखण्डों में परिवर्तित होता है। तो एक क्रिया आनन्द के लिए है और दूसरी क्रिया आनन्द से और आनन्द में है। यही मानसिक और महामानविक क्रियाओं में भेद है। जो ईश्वर के समीप में आ जाते हैं, उनका प्रत्येक कार्य आनन्द से और आनन्द में होता है, जबकि साधारण मानवों का प्रत्येक कार्य आनन्द के लिए होता है। यहाँ एक दार्शनिक अन्तर यह भी है कि **जो कार्य आनन्द के लिए होते हैं, वे कभी भी आनन्द को पकड़ नहीं पाते। वे सदा आनन्द के लिए ही रहते हैं और जो कार्य आनन्द में और आनन्द से होते हैं, उनका आदि, अंत एवं मध्य आनन्दमय ही होता है।** बस, यही अन्तर है साधारण एवं असाधारण कोटि के मानवों में। भले ही एक साधारण मानव सृष्टि की सारी सम्पदा को, धन को संग्रहित कर ले, उसका अधिकारी बन जाए लेकिन वह कभी सन्तुष्ट नहीं हो पाता, क्योंकि वह भी आनन्द के लिए भाग रहा है।

एक योगी, एक फकीर, जो महात्यागी है, जिसको स्वयं के लिए कुछ भी नहीं चाहिए, न धन, न सम्पत्ति, वह आनन्द से और आनन्द में विचर रहा है। दोनों की सत्ता में एक अंतर होता है इसलिए किसी भी फकीर को बादशाह कहा है– ***जिसको कुछ भी न चाहिए, वह शाहों का शाह।***

अर्थात् वह पूर्णकाम है। वह पूर्णकाम सत्ता के सान्निध्य में है, परिपूर्ण।

जिसकी समीपता से कामनाए समाप्त हो जाती हैं। एक दूसरा मानव जिसकी कामनाओं पर कामनाएं जागृत होती रहती हैं, भले ही वह समस्त महाब्रह्माण्ड की सम्पत्ति और सम्पदा पर आधिपत्य कर ले, वह असंतोष में ही भटकता रहता है। कामनाओं से ग्रसित रहता है और इस प्रकार जीवन दर जीवन बीतते रहते है और वह विक्षिप्त एवं त्रसित मानव, अपने आदि से अंत तक एक द्रुत गति से दौड़ती हुई नदिया की तरह, अपने जन्म–जन्मान्तरों को बिताता रहता है, दौड़ता रहता है। कितना बडा अन्तर है यह।

इस सम्पूर्ण वक्तव्य का जो सांराश है, वह यह कि समस्त धर्म और समस्त कर्म, मात्र जीवन के मध्य से शुरु होते हैं जिनका एक लक्ष्य होता है, अपने उद्‌गम या अपने अंत, जो धर्मों, कर्मों एवं संस्कारों से परे है, उसको पाना जैसे ही वह उस सत्ता का स्पर्श पा लेते हैं, तो वह स्थिति धर्मातीत, कालातीत और बन्धनों से मुक्त होती है। **ऐसे महामानव मुमुक्षु श्रेणी में आ जाते हैं** और जीवन–मुक्त हो जाते हैं। वे मात्र एक खेल–तमाशा देखने वालों की तरह संसार में आते हैं और यहाँ का तमाशा देखते हैं। तमाशे के हर पहलू को वे आनन्द में देखते हैं, आनन्द के लिए नहीं देखते। वे आनन्दित होते हैं, आनन्द से परिपूरित होते हैं और यहाँ की प्रत्येक विधा को वे आनन्द में देखते हैं। लेकिन अपनी परमसत्ता से बिछुड़कर वही मानव साधारण जीवन बिताता है। वह हर कार्य को आनन्द के लिए करना चाहता है, आनन्द के लिए देखना चाहता है जो मृगतृष्णा की तरह उसके लिए एक घटना बन जाती है। दौड़ता रहता है, दौड़ता रहता है और इस प्रकार जन्म दर जन्म समाप्त होते रहते हैं।

तो इस सम्पूर्ण प्रकरण के पीछे कौन सी शक्ति काम कर रही है और क्यों ऐसा कर रही है? क्या इसमें मानव की भूल है, नहीं ! ईश्वरीय मन और माया का स्वरूप ही ऐसा है, लेकिन कभी किसी संत या सद्‌गुरु के सान्निध्य में जब किसी को वास्तविकता का आभास होता है, तो वह अवश्य एक न एक दिन अपने उस परमस्वरूप को पा लेता है।

'जा पर जाको सत्य सनेहू, सो तेहि मिली न कछु सन्देहू।

जन्म–जन्मान्तरों में भटकते हुए कभी उस मानव को परमानन्द की स्थिति

आती है, जिज्ञासा होती है, उसको पाने का जुनून होता है, एक वहशियत हो जाती है, तो वह अवश्य उस परमस्वरूप को या उसके सान्निध्य को पा लेता है। यह ईश्वरीय सत्य है, परम सत्य है।

यदि गहन चिंतन द्वारा, मनन द्वारा इस परम वास्तविकता पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा, कि सूर्य सत्य है जिसकी उष्मा एक ओर उस महासागर के जल से वाष्प का निर्माण करती है, मेघों का निर्माण करती है, जो संघनित होकर अन्य पर्वत–श्रृंखलाओं पर जाकर बरस जाते हैं और हिमखण्डों में परिवर्तित हो जाते हैं। दूसरी ओर, वही सूर्य और उस सूर्य की वही उष्मा उन हिमखण्डों को धाराओं में परिवर्तित करती है, जलधाराओं में, जो क्रमशः मिलने के बाद विस्तृत एवं विशाल सरिताओं का रूप ले लेते हैं। सूर्य स्वयं स्थिर है, सागर अपनी जगह स्थिर और हिमखण्ड, जिन पर्वतश्रृंखलाओं पर विराजित हैं, वे श्रृंखलाएं स्थिर हैं। वही जलधाराएँ जो नदियों में परिवर्तित होती हैं, वहाँ हलचल है, भाग–दौड़ है और पुनः वे नदियाँ जब सागर में विलीन हो जाती हैं, तो फिर वही प्रकरण शुरु हो जाता है।

वाष्प आनन्द में बन रही है, वही तुषारखण्ड आनन्द में, नदियों में परिवर्तित हो रहे हैं और नदियाँ भी उस परमानन्द में विलीन होने के लिए आनन्द में ही भाग रही है। सारे प्रकरण पर यदि हम गहन दृष्टि जमाएं, तो हमें ज्ञात होगा कि सब कुछ आनन्द में हो रहा है। दृष्टा एक है और एक ही दृश्य के विभिन्न अंग है। उसी दृश्य में वाष्प बनती है, उसी दृश्य में हिमखण्ड बनते हैं, पिघलते हैं। उसी दृश्य में नदियाँ बनती हैं, जो दौड़ती हैं और विलीन हो जाती हैं सागर में। दोनों आनन्द के परिपूरक है, दृष्टा भी एवं दृश्य भी।

परम ईश्वरीय कृपा से, जब यह रहस्य आत्मसात् हो जाए, तो मानव जीवनमुक्त हो जाता है। क्योंकि जीवन का प्रत्येक पहलू, चाहे उसमें सतोगुण, रजोगुण या तमोगुण का समावेश हो, समस्त **आनन्द में** ही होते हैं और **आनन्द से** ही होते हैं। लोकन यदि इस दौड़ती हुई नदिया की तरह, दौड़ते हुए जीवन में स्वयं शामिल होकर उसका अंग बनकर यदि कोई इस दौड़ से विक्षिप्त हो

जाता है तो वह हीन भाव में विचरता है और वही मानव विक्षेप एवं त्रासपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हो जाता है। तो कहने का अर्थ यह है, कि इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को यदि बाहर से देखा जाए दृष्टा बनकर, तो यह समस्त आनन्दमय है, आनन्द से है और यदि इसका कोई भाग बन जाए, तो वहीं विक्षेप उत्पन्न हो जाता है। इसलिए हम उस सूर्य की भांति जब हम उस परमसत्ता की ओर अग्रसर होते हैं, उस स्थिरता की ओर बढ़ते हैं तो हम मात्र उस सम्पूर्ण प्रकरण का एक तमाशा देखते हैं और इस सम्पूर्ण आनन्द में हुई प्रक्रिया का आनन्द लेते हैं।

।। जय जय श्री राम।।

साधारण एवं असाधारण मानव

वास्तव में वेदान्त–दर्शन के अनुसार, हमारा बाह्य जगत हमारे भीतरी जगत का प्रगटीकरण है। जब हम किसी भवन का निर्माण करते हैं, तो पहले उसका नक्शा स्वयं या किसी आर्किटेक्ट से बनवाते हैं। जब हमको वह नक्शा जँच जाता है, तो उसके अनुसार निर्माण करते हैं। तात्पर्य क्या हुआ कि जो भवन निर्मित हुआ, वह पहले हमारे भीतर बन गया था, जो देर या सवेर में बाहर प्रगट हुआ। इसी प्रकार वैज्ञानिक लोग अविष्कार करते हैं। किसी ने टेलीफोन का अविष्कार किया, किसी ने टी. वी. का, किसी ने हवाई जहाज का, किसी ने कोई अन्य अविष्कार किए। वास्तव में ये सब यंत्र मानव मस्तिष्क में पहले से बने हुए थे।

जानवरों में भी आप देखेंगे, कि कुत्ते की सुनने की और गीध के देखने की शक्ति आदमी से कई गुना ज्यादा होती है। यद्यपि जानवरों में, पक्षियों में सोचने की शक्ति नहीं होती। आप गोरैया का घोंसला देखिए, मुँह में तिनके लाकर कितना सुन्दर घोंसला बनाती है, जो कि मानव–मस्तिष्क को वैसा घोंसला बनाने के लिए पहले ध्यान से गोरैया के घोंसले को देखना होगा। इसका अर्थ क्या है, कि प्रत्येक बुद्धि प्रतिभा से युक्त है चाहे वह मनुष्य की हो, चाहे पशु–पक्षियों की। मेरा जो अनुभव है, मनुष्यों की बुद्धि के बारे में वह यह, कि जिनको हम अति–अल्प बुद्धि मानव कहते हैं या जिनमें मस्तिष्क पूर्ण रूपेण विकसित नहीं होता, उनमें बौद्धिक शक्ति बहुत कम होती है। आप यदि उन सूक्ष्मतर विचारें, उनके व्यवहार को पढ़ें, तो आपको उन सबमें कोई न कोई विशेष प्रतिभा अवश्य मिलेगी।

जिन लोगों ने ये अविष्कार किए हैं, उनके मस्तिष्क में कोई विशेष प्रतिभा, दूसरे लोगों से कई गुना ज्यादा स्वतः ही होती है, यह सत्य है, पैदाइशी ही उस तरफ उनका रुझान हो जाता है। बड़े–बड़े वैज्ञानिक, हो सकता है पढ़ाई में एकदम पीछे रहे हों, कई वैज्ञानिकों की आप जीवनी पढ़िए, तो आपको पता चलेगा कि उनकी पढ़ाई में कभी रुचि थी ही नहीं। वे उस प्रतिभा को लिए पैदा होते हैं और देर–सवेर वह प्रतिभा बाहर प्रकट हो जाती है, जिसको हम वैज्ञानिक खोज कहते हैं, वैज्ञानिक अविष्कार कहते हैं। सत्य तो यह है कि एक

विशेष प्रतिभा उनमें पैदायशी होती है, जो दूसरे लोगों की अपेक्षाकृत ज्यादा होती है। इन लोगों में एक विशेषता यह होती है, कि इनमें एकाग्रता शक्ति ज्यादा होती है। इन वस्तुओं का उनके आध्यात्मिक जीवन से या भौतिक जीवन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता। ऐसा भी देखा गया है कि कुछ लोगों में परिस्थितियों वश, कालवश कुछ विशेष सुप्त प्रतिभाएं जाग्रत हो जाती हैं। आपने सुना होगा, कि फलां व्यक्ति बहुत दब्बू किस्म का था और विशेष परिस्थिति में वे अद्भुत कार्य करना शुरु कर देते हैं। मानव–मस्तिष्क अपने में एक ब्रह्माण्ड है, केवल ब्रह्माण्ड ही नहीं, महाब्रह्माण्ड।

जबसे हमने होश संभाला, हम एक जगत या विभिन्न जगतों का अनुभव कर चुके हैं। आज भी कर रहे हैं और जब तक हमारा जीवन रहेगा, हम विभिन्न प्रकार के दृश्यों का और जगत का अनुभव करते रहेंगे। वास्तव में वे हमारे भीतर पहले से ही अंकित रहते हैं। समय–समय पर वे बाह्य जगत, भीतर से बाहर प्रगट होता है। यह एकदम सत्य एवं परिपूर्ण व्याख्या है।

विशेष समय पर हम किसी विशेष व्यक्ति को क्यों मिलते हैं? विशेष समय पर हम विशेष व्यक्ति या स्त्री से विवाह–सूत्र में क्यों बँधते हैं? विशेष समय पर हमें कोई संतान की प्राप्ति क्यों होती है? हम किसी से मिलते क्यों है? बिछुड़ने क्यों है? वह लगता हमको बाह्य कार्यक्रम है लेकिन **वास्तव में वह बाह्य नहीं है, वह हमारे भीतरी जगत का बाह्य प्रगटीकरण है। जो कुछ हमारा भीतरी जगत है, वह वास्तव में हमारा सूक्ष्म शरीर है। उस भीतरी जगत के हम भी एक अंग है। वह भीतरी जगत हमारे भीतर नहीं है, बल्कि हम उसके भीतर है। जिसको हम भीतरी जगत कहते है वास्तव मे हम अपने उस भीतरी जगत में स्वयं भी है।** उदाहरणता जैसे आप भारत का नक्शा देखिये, तो दिल्ली भारत में है, भारत दिल्ली में नहीं है, भारत में दिल्ली है। जो दिल्ली का भीतरी जगत है वह भारत है, जिसमें दिल्ली भी है तो भारत, दिल्ली का सूक्ष्म शरीर है और दिल्ली भारत की राजधानी का स्थूल शरीर है।

भीतरी जगत का प्रगटीकरण है आपके बाह्य सम्बन्ध, बाह्य नाम–रूप। उनके प्रति आपकी भिन्न–भिन्न प्रतिक्रिया होती हैं। किसी के प्रति आपको बहुत

लगाव होता है, किसी से घृणा होती है। किसी से हृदय बहुत मिलता है, किसी से नहीं मिलता है। एक व्यक्ति से आज जो हृदय मिल रहा है, वह कल मिलना बंद हो जाता है। वास्तव में यह सब कुछ बाह्य है। यहाँ तक कि आप अपनी देह को ही ले लीजिये, आज हम इस देह से बहुत प्यार करते हैं, कल कोई ऐसी घटना हो जाए, तो लोग आत्महत्या करना चाहते हैं। अपनी देह से परे हटना चाहते हैं। यह जो भाव है, इनके पीछे जो रहस्य है, वह यह कि प्रत्येक जीव की दौड़ आनन्द की तरफ है। बहाव है जीव का आनन्द की तरफ।

मान लीजिए, आप बहुत अच्छे संगीत का कानों से श्रवण कर रहे हैं, आपको उसमें आनन्द आ रहा है। कर्णों से हम संगीत का आनन्द ले रहे हैं। आनन्द हमारे भीतर का है अगर हम भीतर से त्रसित ही, विक्षिप्त हैं, तो क्या संगीत हमें कोई आनन्द दे सकता है? हमारे भीतर एक आनन्दमय मण्डल है। उस संगीत को सुनने के बाद हमारे कानों की विशेष तंत्रिकाओं ने हमारे भीतर के आनन्द को जागृत कर दिया है। यदि वह आनन्द हमारा संगीत और कानों तक आधारित है, तो वह विलास है। यदि संगीत के अचानक रुकने से हम विक्षिप्त हो जाते हैं, तो इसका अर्थ वह विलास है। अगर भीतर का आनन्द जागृत होने के बाद हम अपने भीतरी आनन्द के स्त्रोत में चले जाते हैं और उसके बाद यदि संगीत बन्द भी हो जाये और हम आनन्दित ही रहें, तो उसे कहते है विलास का रूपान्तर आनन्द में। इन्द्रिय आनन्द से अतीन्द्रिय आनन्द में पहुँच जाते हैं, जो इन्द्रियों से परे है।

हम खाना खा रहे हैं, बड़ा स्वादिष्ट भोजन है, आनन्द आ रहा है, जीभ की उत्तेजना की एक सीमा है और हमारे खाने की भी सीमा है, तो खाने से जो हम आनन्द ले रहे हैं, वह हमारे भीतर का है। यदि थोड़ा सा खाने के बाद खाना बंद कर दें तो थोड़े समय के लिए तो हम विक्षिप्त हो सकते हैं, लेकिन बाद में हमको ज्यादा आनन्द आएगा।

आप अपने जीवन में अनुभव करेंगे, जितना भी ज्ञानेन्द्रियों का सुख है, वह तब तक विलास है, जब तक हम उन पर आधारित हैं। यह एक सूत्र ज्ञान का बहुत बड़ा रहस्य है कि हम अपनी इन्द्रियों को केवल अपने भीतर के आनन्द को

जागृत करने के लिए प्रयोग करें और उसके बाद उनको हटा दें। उसके बाद हमारा भीतर का जो जागृत आनन्द है, वह हमें अपने आनन्द के स्त्रोत में ले जाएगा, जिसको कहा है अतीन्द्रिय आनन्द। अतीन्द्रिय आनन्द, वह आनन्द है जो इन्द्रियों से परे है, जहाँ से इन्द्रियाँ आनन्द लेती हैं, यह राजयोग का गहन रहस्य है। यदि हम इसमें एकाग्र करें, तो हम समझ जायेंगे, कि हम इन्द्रियों को तब तक प्रयोग करें, जब तक भीतर का सुप्त आनन्द जागृत नहीं हो जाता और उसको फिर हम आनन्द के स्त्रोत में ले जायें व इन्द्रियों को हटा दें। इस तरह से हम इन्द्रियों के द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द में पहुँच जाते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि क्या अतीन्द्रिय आनन्द में प्रवेश के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता अनिवार्य है? नहीं। जो योगी है, वह विभिन्न दैहिक प्रक्रियाओं, योगासनों द्वारा, प्राण की गतियों द्वारा, बिना इन्द्रियों की भूमिका के अपने अतीन्द्रिय आनन्द में प्रवेश कर जाते हैं। प्राणायाम से, ध्यान से, समाधि से, तुरीय अवस्था में चले जाते हैं या अन्य समाधियों की अवस्था में चले जाते हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, एक है इन्द्रियों द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द में प्रवेश करना, और दूसरे बिना इन्द्रियों के सीधे ही अतीन्द्रिय आनन्द में चले जाना। दोंनो में से आप किसका चुनाव करेंगे? मै तो कहूँगा कि इन्द्रियों द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द में जाना ज्यादा अच्छा है।

क्यों? क्योंकि जब योगी अतीन्द्रिय आनन्द में बिना इन्द्रियों का आश्रय लिए पहुँच जाता है, समाधिस्थ हो जाता है तो जीवन की किसी न किसी अवस्था में उसको इन्द्रियों के सुख की लालसा उत्पन हो जाती है। हमारे 19 वर्ष के हिमालय के अनुभव में हमने कई योगियों को मानसिक रूप से विक्षिप्त होते देखा है। जो योगी या गृहस्थी, गृहस्थ आश्रम में अपना संतुलित जीवन बिताते हुए इसका अनुभव एवं अभ्यास करते हैं, कि इन्द्रियों से अतीन्द्रिय आनन्द में कैसे पहुँचे? वे स्वयं में बहुत स्थिर होते हैं। उनको जीवन के किसी काल में ये इन्द्रियाँ भ्रमित नहीं करती। यह एक तार्किक एवं बड़ी मानसिक पहुंच है। इसलिए मैं सद्गृहस्थों को सुझाव देता हूँ, कि वे इन्द्रियों को कभी न नकारे।

जीव की दौड़ आनन्द की ओर है। हम जब रुदन करते हैं, रोते हैं, तो रुदन भी हमें आनन्द देता है। जीव की सम्पूर्ण दौड़ आनन्द की ओर है, लेकिन भ्रमवश हम यह समझ लेते हैं, कि हमें आनन्द बाह्य चीजों से मिल रहा है। हमारे ऋषि, मुनि जो गुफाओं में बैठे हैं, वर्षों तक वे बाहर नहीं आते, क्योंकि वे वास्तव में अपने आनन्द के स्त्रोत में प्रविष्ट कर चुके होते हैं। इसी सत्य पर आधारित है किसी का साधारण और असाधारण जीवन।

सामान्य जीवन क्या है? सामान्य व्यक्ति की परिभाषा क्या है? असाधारण व्यक्ति की परिभाषा क्या है? आध्यात्मिक परिभाषा है व्यक्ति की–एक व्यक्ति कई व्यक्तित्वों से मिलकर बना है। **जब कोई व्यक्ति अथवा उसका कोई व्यक्तित्व, बाह्य संसार की वस्तुओं से जाना जाता है, बाह्य प्राप्तियाँ जैसे पद, सम्पदा इत्यादि तो वो साधारण व्यक्ति है। असाधारण व्यक्तित्व वे होते हैं, जिनसे बाह्य वस्तुएँ जानी जाती है।** मान लीजिए एक व्यक्ति प्रधानमंत्री है, तो प्रधानमत्री एक बाह्य पद है। यदि वह व्यक्ति अपने पद से जाना जाता है, तो वह साधारण व्यक्ति है, क्योंकि जिस दिन उसका पद समाप्त हो जाएगा, उसकी पहचान, उसकी मान्यता समाप्त हो जाएगी। आध्यात्मिक दृष्टि में और आध्यात्मिक परिभाषा के अनुसार वह साधारण व्यक्ति है। स्वयं का विश्लेषण कर यह जानना अति आवश्यक है, कि मैं किस तरफ जा रहा हूँ? मैं सामान्य संसार में विचर रहा हूँ या असामान्य में? मान लीजिये एक व्यक्ति ने अति सुन्दर, एक भव्य भवन का निर्माण किया है, और उस पर अथाह धन खर्च किया है, तो यदि वह व्यक्ति इस भवन की वजह से जाना जाता है, तो वह साधारण व्यक्ति है। दूसरी तरफ, कोई ऐसा व्यक्ति या व्यक्तित्व, जो साधारण झोपड़ी में रहता है और लोगों की उसके दर्शनार्थ भीड़ लगी हुई है, कोई उसकी गुफा या झोंपड़ी को देखने नहीं आता, लोग उसके दर्शन के लिए आते है और उस गुफा या झोपड़ी के बाहर ही माथा टेक देते हैं। तो वह गुफा या झोपड़ी उनके लिए उतनी ही महत्त्वपूर्ण एवं पूजनीय हो जाती है, जितना वह व्यक्ति। कई पेड़ सिद्ध होते हैं, क्योंकि वहाँ महापुरुषों ने तप किया होता है। उनके शरीर से छुई हुई वस्तुएं पूजनीय हो जाती है, क्योंकि वे वस्तुएँ उस

व्यक्ति की वजह से जानी जाती हैं। महापुरुष संसार से चले जाते हैं लेकिन उनके शब्द, उनके पदचिन्ह रह जाते हैं। शब्द प्रमाण है। इन शब्दों में और व्यक्ति में कोई अंतर नहीं होता। शब्द जो है किसी के, वे उस व्यक्तित्व का बाह्य प्रगटीकरण है। कोई युवा स्त्री है, उसकी देह में सौन्दर्य है, यौवन है तो उसका आकर्षण उसके यौवन से है। जब तक वह अपने यौवन से जानी जाती है, वह साधारण है। जब कोई वृद्धावस्था में जबकि उसकी देह में कोई सौन्दर्य या आकर्षण नहीं रह जाता, उसके बाद भी लोग उसके पास आते हैं, उसको स्पर्श करना चाहते हैं, उसके पास बैठना चाहते हैं, तो वह है असाधारण व्यक्तित्व।

आपने देखा होगा, कि जो महापुरुष हैं, महात्मा हैं, अच्छे संत हैं, वे अति वृद्धावस्था में भी बहुत आकर्षण के केन्द्र बन जाते हैं, जबकि उनकी देह में कोई आकर्षण नहीं रह जाता। तब उनकी देह, उनके उस विशिष्ट व्यक्तित्व का मात्र प्रगटीकरण रह जाती है। उनका जो अन्दर छिपा हुआ व्यक्तित्व है, वह इतना पूजनीय एव आकर्षण युक्त हो जाता है, कि लोगों की उनके दर्शन के लिए पक्तियाँ लगी रहती हैं। लोग उनके पास बैठना चाहते हैं, उनको सुनना चाहते हैं। यदि भौतिक वस्तुएँ हमारे आकर्षण का या हमारे जानने का निमित्त हैं, तो मान लीजिए आप और हम कुछ भी है, हम सामान्य है, साधारण हैं।

इस विषय को अति गंभीरता से जान लेने के बाद हमें रवयं का निर्णय स्वतः कर लेना चाहिए, कि मैं सामान्य व्यक्तित्व अथवा असाधारण व्यक्तित्व, किसको धारण करने वाला हूँ? जैसा कि युग प्रभाव है, आजकल प्रत्येक व्यक्ति चाहता है, कि उनके बच्चे महँगी से महँगी शिक्षा पाए और व्यवसायिक जीवन में उतर जायें या अधिक से अधिक उपार्जन के लिए वे ऐसी योजनाएं या ऐसा व्यवसाय अपनाएं, यह एक बहु प्रचलित दृष्टिकोण हैं आज के बुद्धिजीवी वर्ग के लोगों में। माँ–बाप को स्वयं धारणा बनानी पड़ेगी, कि वे अपनी संतान को साधारण जीवन की ओर प्रेरित कर रहे हैं या असाधारण जीवन की ओर।

आप अपने बच्चों से पूछे तो आप देखेंगे, कि प्रत्येक बच्चा यही कहेगा, कि 'मैं असाधारण जीवन बिताना चाहता हूँ।' जितने बच्चों का मैंने आज तक

साक्षात्कार लिया है, उनका यही कहना है कि वे असाधारण जीवन बिताना चाहते हैं। तो असाधारण जीवन की तरफ प्रेरित करने के लिए हमें स्वयं को पता होना जाहिए कि असाधारण का अर्थ क्या है।

जैसा कि हम बता चुके हैं, **जब वस्तुएँ किसी आदमी के कारण से जानी जाती है, तो वह है असाधारण व्यक्तित्व। अगर आप वस्तुओं के कारण जाने जाते है तो इसका मतलब है कि आप साधारण जीवन जी रहे हैं।** जितना भौतिक जगत है, यह सब नाशवान है। सम्पूर्ण जगत एक काल–चक्र में बंधा हुआ है। महाकाल चक्र! प्रत्येक वस्तु जिससे हम बंध जाते हैं या जिस वस्तु के प्राप्त कर लेने से या खो जाने से हम जाने जाते हैं, तो उस वस्तु की एक अवधि है, उस पद की एक अवधि है। हमारे शरीर के सौन्दर्य की, भौतिक बल की एक अवधि है और उस अवधि के बाद वह खो जाता है। हमारे सम्बन्धों की गरिमा की एक अवधि है। आज हम अपने बेटी–बेटे से कितना प्रेम करते हैं, कितना मोह करते हैं और जब उनके अपने विवाह हो जाते हैं, वे हमसे दूर हो जाते हैं। जीव का बहाव आनन्द की तरफ है। जैसे–जैसे उसका बहाव आनन्द की ओर होता है, उसका पिछला आनन्द छूट जाता है। लेकिन जब किसी ऐसी वस्तु से लगाव हो जाता है, बंधन हो जाता है जो कि नित नूतन है, जिसने अविरल आनन्द देना है जैसे ईश्वर के भक्त होते हैं तो जो सांसारिक सम्बन्ध हैं, वे उनको विक्षिप्त नहीं कर पाते, वे लोग असाधारण हो जाते हैं।

मोह हम सबको है किसी न किसी वस्तु से, लेकिन जब मोह एक ऐसी वस्तु से हो जाए, जो कि हमेशा हमारे पास ही रहनी है, तो समझिए कि वह व्यक्ति असाधारण है। प्रत्येक भाव के पीछे, प्रत्येक प्राप्ति के पीछे यह जान लेना अति आवश्यक है। माता–पिता होने के नाते बच्चों की पैदाइशी प्रतिभाओं को हम पहचानें और उनको विकसित करने के लिए उनको प्रेरित करें। अगर हो सके उनको उपयुक्त वातावरण दें, ताकि वह प्रतिभा जो ईश्वर ने उनको दी हुई है, उसको वे विकसित कर सकें तो कम से कम आध्यात्मिक जगत नहीं, तो भौतिक जगत में तो वे असाधारण बनेंगे। पर हम करते क्या है? कि बच्चा पैदा होते ही हम उसके भविष्य की योजनाएं बनाने लगते हैं और हम यही चाहते हैं कि बच्चा

उस तरफ प्रेरित हो और जब वह प्रेरित नहीं होता, तो हम उसको बहुत प्रकार की निम्न कोटि की संज्ञाएं दे देते हैं, कि यह नालायक है, यह बौद्धिक रूप से कमज़ोर है इत्यादि–इत्यादि। न जाने किस तरफ उसकी इच्छा है, क्या प्रतिभा है? हम उसके जीवन के खुद ही ठेकेदार बन जाते हैं। इसलिए ऐसा देखने में आया है कि विश्व में असंख्य बच्चे हैं, जो प्रतिभाशाली हैं लेकिन उनकी प्रतिभा, उनके माँ–बाप की वजह से दब जाती है, नष्ट हो जाती है। पश्चिम देशों में हमें यह विशेष देखने को मिला है कि उन लोगों में यह अवगुण हम लोगों से कम है, विशेषतया लंदन और अमेरिका में। वे बच्चों की प्राथमिक शिक्षा तक ही चिन्तित रहते हैं, उसके बाद वे उनकी प्रतिभाओं पर ध्यान देते हैं। यही कारण है कि आज हमारे विशाल देश में जिसकी जनसंख्या एक अरब है, हमारे पास कोई अच्छा खिलाड़ी तक नहीं है, जबकि बाहर के देश जो अल्प जनसंख्या के देश हैं वहाँ आपको एक से बढ़कर एक, प्रतिभाशाली लोग मिलेंगे।

अर्थ यह नहीं है कि हमारे में प्रतिभा की कमी है, हमारे माँ–बाप भ्रमित हैं। उनके लिए सही मार्ग–दर्शन की जरूरत है, कि किसी बालक विशेष में, किसी व्यक्ति विशेष में या उसके किसी व्यक्तित्व विशेष में जो विशेष प्रतिभा है उसको जाग्रत किया जाए, यह बहुत महत्वपूर्ण है। इतना महत्वपूर्ण है, कि यदि माँ–बाप इसको हृदय से जान जाए, तो हमारे देश की प्रतिभा बदल जाएगी। बहुत प्रभावशाली देश है हमारा। हमारे भारत का आध्यात्मिक ज्ञान विश्व भर में प्रसिद्ध है। इस देश में आध्यत्मिक तरंगें है। हमारे ऋषि–मुनियों ने इतना तप किया हुआ है, कि हम लोग वास्तव में आध्यात्मिक जगत में विचरने वाले लोग हैं। इसीलिए भारत को जगतगुरू कहा गया है। आज भी भारत जगदगुरू है लेकिन कुछ विदेशी शासकों ने, विशेष करके अंग्रेज़ो ने हमारी इस प्रतिभा को ध्वंस कर दिया। आप सत्य पूछें, तो जितनी हमारी वेदान्तिक, पौराणिक शिक्षा है, वेद–वेदान्तों का ज्ञान, ध्यान, उन्होंने इसको मात्र दो शब्दों में खत्म कर दिया। वह थे **Intution and Telepathy.** जबकि आध्यत्मिक जगत में नामक शब्दों का कोई भी स्थान नहीं है। क्योंकि उनको यह रहस्य पल्ले नहीं पड़ा और हमारे सम्पूर्ण ज्ञान को दो शब्दों में समाप्त कर दिया, जिसका आज हम

भुगतान दे रहे हैं। **'न माया मिली, न राम'** व्यवहारिक जगत में तो हम पहले ही हल्के थे और आध्यात्मिक जगत में भी हम टोने–टोटके और तंत्रों–मंत्रों तक ही रह गए हैं। आज भी यदि कोई सत्य के उपासक, कोई संत इस दिशा में पहल करें, तो हम जगदगुरू हो सकते हैं, वास्तव में हम जगद्‌गुरु हैं।

हमारे पास वह जन्मजात प्रतिभा है, हमारे वायुमण्डल में ऐसी तरंगें हैं कि जिससे भारत का एक साधारण व्यक्ति भी बहुत उच्चकोटि का आध्यात्मिक ज्ञान पा सकता है। वास्तव में पूरे ब्रह्माण्ड में जितने भी देश हैं, भारत पूरे विश्व का मस्तिष्क है, जैसे मस्तिष्क हमारी देह में है। आज विज्ञान में जितनी भी उन्नति हुई है, वे हमारे ऋषि–मुनियों के बौद्धिक अभ्यास का प्रतिफल जो वेद थे, इन वेदों से ही यह वैज्ञानिक अन्वेषण लिये गए हैं। उनका सहारा लिया गया है तो हमें इस सत्य को कभी नहीं नकारना है। बल्कि बुद्धिजीवी लोगों को इसकी प्रेरणा देनी है और अपने बच्चों को असाधारण जीवन जीने के लिए प्रेरित करना है।

क्या धन कमाना और बड़ी–बड़ी अट्टालिकाएं खड़ी करना ही हमारा ध्येय है? इससे तो हम अपना वास्तविक व्यक्तित्व नष्ट कर देते हैं। जब वस्तुएँ हमसे छिन जाती हैं तो हम निराशा में चले जाते हैं। ऐसा क्या है जिससे हम हमेशा आनन्दित रहे, जो हमारे भीतरी आनन्द को जागृत करे और उस जागृत आनन्द की कभी भी कमी न हो, वह है असाधारण जीवन। जब अपने बाह्य जगत पर एकाग्र न करके आपको अपने भीतरी जगत में ऐसा आनन्द मिलने लगता है और उस अवस्था में आप जिन वस्तुओं को छू भी लेते हैं, उनकी महत्वता आपके छूने से बढ़ जाती है। लोग उन वस्तुओं को पूजने लगते हैं। सदियों–सदियों तक वे वस्तुएं इस प्रकार पूजनीय हो जाती हैं, जैसे कि आप स्वयं थे कभी। तो हमारी देह का मूल्य सौन्दर्य से नहीं, उस देह में रह रहे असाधारण व्यक्तित्व के कारण होता है भले ही हम कितने भी वृद्ध हो गए हों। तो इस परम रहस्य को अवश्य पकड़ना चाहिये और इस सत्य को अपनी संतान में अवश्य तरंगित करना चाहिए जिससे कि हम पुन जग्दगुरू कहलाए जा सकें।

यह आध्यात्मिक जगत अपने में एक असाधारण जगत है, क्यों? आध्यात्मिक जगत भौतिक जगत की सीमाओं से बहुत परे होता है। जहाँ भौतिक जगत

समाप्त हो जाता है, भौतिक संबंध समाप्त हो जाते हैं, भौतिक मान्यताएँ, भौतिक प्राप्तियाँ समाप्त हो जाती है और उनका महात्म्य समाप्त हो जाता है, वहाँ से प्रारम्भ हो होता है आध्यात्मिक जगत, जिसका सम्बन्ध हमारी आत्मा से और आत्मिक सम्बन्धों से होता है, तो यह असाधारण है।

प्रायः लोगों को यह भ्रान्तियां होती हैं, कि आध्यात्मिक जगत में भौतिक जगत की कुछ भूमिका होती है या भौतिक व्यक्तियों की कुछ भूमिका होती है, यह असत्य है। जब कोई व्यक्तित्व ईश्वर कृपा से आध्यात्मिक जगत मे प्रवेश करता है, तो भौतिक लोग और भौतिक जगत उन पर निर्भर करने लगता है। यह बहुत विचारणीय और अनुभव का विषय हम बता रहे हैं। कोई भी आध्यात्मिक व्यक्तित्व किसी भौतिक जगत या भौतिक व्यक्ति पर आधारित या निर्भर नहीं होता, बल्कि इसका विपरीत होता है। जब ईश्वर कृपा से आध्यात्मिक जगत की प्रेरणा, मात्र ईश्वर कृपा से ही होती है, तब इसमें जप, तप इत्यादि की भी विशेष भूमिका नहीं होती। यह हम अपने अनुभव का विषय आपके सम्मुख रख रहे हैं। इस जगत का आनन्द, जो आपके भीतर के आनन्द का स्त्रोत है, उसकी प्राप्ति के बाद तमाम भौतिक वस्तुएँ, भौतिक व्यक्ति एवं भौतिक आनन्द बहुत तुच्छ से लगने लगते हैं। ऐसे व्यक्ति, ऐसे महापुरुष जिस आनन्द में विचरते हैं उस आनन्द को कोई अपने शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। उस आनन्द का वही अनुभव कर सकता है, जो स्वयं भी ऐरो जगत में थोड़ा–बहुत विचरने लगता है। यह कहना कि किसी भौतिकता से प्रेरित होकर कोई आध्यात्मिक जगत या आध्यात्मिक व्यक्तित्व को विकसित करता है, यह असत्य है।

आध्यात्मिक जगत अपने में एक विशिष्ट जगत है और विशिष्ट अविरल आनन्द है, जिसको हम कहते हैं **'आत्मानन्द'**। यह दिन प्रति दिन बढ़ता रहता है। इसमें कभी न्यूनता नहीं आती। इसका अपना आकर्षण है, अपना सुख है जिसके सम्मुख कोई भी भौतिक सत्ता दूर–दूर तक ठहर नहीं सकती। इस तथ्य को और इस सत्य को हमें अवश्य दृष्टि में रखना चाहिए। कभी भी किसी आध्यात्मिक व्यक्ति का भौतिकता के आधार पर मूल्यांकन नहीं किया जा सकता क्योंकि विश्व की कोई भी ऐसी भौतिक सत्ता नहीं है, जो उनकी पहुँच से बाहर

हो, बल्कि एक भौतिक व्यक्ति के लिए किसी आध्यात्मिक व्यक्ति की प्राप्तियों के बारे में सोचना ही असम्भव है। जबकि आध्यात्मिक व्यक्तियों के लिए किसी भौतिक उपलब्धि की प्राप्ति और उसका उपभोग कोई मान्यता ही नहीं रखता। इसलिए वे परम सन्तुष्ट व्यक्तित्व होते हैं और उनको संसार की कोई भी वस्तु प्रलोभित नहीं कर सकती। कोई वस्तु आकर्षित नहीं कर सकती, क्योंकि उनके सम्मुख ऐसी मान्यता होती है जिसके सन्मुख सारी मान्यताएं निरर्थक हो जाती है, अपना महात्म्य खो देती है।

भौतिक अथवा सांसारिक जगत से उठकर, जब कोई व्यक्ति आध्यात्मिक जगत में प्रवेश कर लेता है, तो उसके बाद उसकी देह में कोई परिवर्तन नहीं आता। उसका परिवार और उसका संसार सब कुछ वही रहता है परन्तु उस व्यक्ति का दृष्टिकोण, उसकी विचारधाराएं और उसके क्रियाकलाप सब पारवर्तित हो जाते हैं, असाधारण हो जाते हैं। अर्थात् जब कोई व्यक्ति दिव्य जीवन, आध्यात्मिक जीवन बिताना प्रारम्भ कर देते हैं, तो वह कर्म–शून्य नहीं होते। वे भी अपने संस्कारोंवश या ईश्वर–इच्छावश कार्य करते हैं, लेकिन उनके द्वारा किए गए कर्मों अथवा कार्यों में विशेष विशिष्टताएं होती हैं। इन विशिष्टताओं के पीछे एक विशेष मानसिकता होती है। वे इस जगत के लिए हुए कार्यों अथवा इस जगत में प्राप्त उपलब्धियों अथवा हानियों से नहीं जुड़ते। उनके लिए उनके द्वारा किए गए कार्यों अथवा कर्मों और उनके फलों का कोई विशेष महात्मा नहीं होता, लेकिन यहाँ यह बताना अति आवश्यक समझता हूँ, कि उनके द्वारा जो भी कर्म अथवा कार्य होते हैं, उनका एक उद्देश्य अवश्य होता है। उनका महात्म्य यद्यपि उन लोगों के लिए, स्वयं के लिए न हो, लेकिन उनका महात्म्य जगत के लिए अवश्य होता है।

वे योद्धा बनकर युद्ध भूमि में अपना पराक्रम भी दिखाते हैं, जो विलक्षण होता है, जिसको सदियों–सदियों तक संसार याद रखता है। वे व्यापार भी करते हैं। वे परमगृहस्थ होते हैं, परम संन्यासी होते हैं और वानप्रस्थी भी परम होते हैं। उनका जीवन अपने में एक उदाहरण होता है। उसमें एक विलक्षणता होती है जो उदाहरणीय एव अनुकरणीय होती है। वे समय रूपी रेत पर अपने पदचिन्ह

छोड़ जाते हैं। उनको ऐतिहासिक पुरुष अथवा युग पुरुष के नाम से पुकारा जाता है। इतिहास के स्वर्णिम पन्नों पर उनकी गाथाएं अंकित होती है। वे असाधारण कार्य करते हैं और उन कर्मों व कार्यों का उनको कोई बंधन नहीं होता। कुछ खोना व कुछ पाना, उनके लिए कोई महात्म्य नहीं रखता। हार या जीत से उनको कोई लगाव नहीं होता, क्योंकि आध्यात्मिक जगत अपने में विलक्षण है। वे मात्र खेलते हैं, उस ईश्वरीय सत्ता से प्रेरित होकर। उनका प्रत्येक खेल यद्यपि उनके स्वयं के लिए कोई महात्म नहीं रखता परन्तु जैसा कि मैं वर्णन कर चुका हूँ, उनके कार्य संसार के लिए एक इतिहास बन जाते हैं, अनुकरणीय बन जाते हैं। वे प्रेम भी करते हैं तो विलक्षण और मित्रता करते हैं तो अद्‌भुत।

उनका प्रत्येक सम्बन्ध सांसारिक लोगों की तरह नहीं होता। आध्यात्मिक सम्बन्ध होते हैं उनके। सांसारिक रिश्ते–नातों से वह ऊपर उठ जाते हैं। दूसरी ओर, सांसारिक लोग जब कोई कार्य करते हैं तो उन कार्यों में न कोई लक्ष्य होता है, न कोई स्थिरता होती है। सांसारिक लोगों या असाधारण लोगों द्वारा किए गए कार्य उनके व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए, उनके परिवार के लिए होते हैं। जैसा मैं कह चुका हूँ कि आध्यात्मिक लोगों का सम्बन्ध एवं कार्य विलक्षण होता है। उनके द्वारा किए गये कर्म और उनका फल, वह भी जगत के लिए होता है, उनके स्वयं के लिए नहीं। यदि हम सूक्ष्मता से विश्लेषण करें, तो वह सांसारिक व्यक्ति जब भी कोई कार्य करता है या विचार करता है, वह प्रत्येक कार्य, प्रत्येक रचना, प्रत्येक विचार मात्र उनके स्वयं के लिए होता है। आप अपने प्राचीन धर्म–अन्य, वेद, वेदान्त, उपनिषद् पुराण इत्यादि कोई भी धर्मग्रन्थ देखिए, आप पाएंगे कि उनमें लेखकों का नाम तक भी नहीं है। ऐसे महामानव जब अपने उत्कृष्ट विचारों को संसार के लिए, समाज के लिए, व्यक्तियों के लिए रखते हैं तो उन विचारों को रखने के बाद, वह स्वयं का नाम भी वही नहीं देना चाहते क्योंकि उनके लिए अपने नाम, मान–सम्मान, यश इत्यादि इन भौतिक चीज़ों का कोई अर्थ नहीं होता। उनके विचार दिव्य होते हैं और उस दिव्यता में व्यक्तिगत सम्मान अथवा नाम का कोई महात्म नहीं होता। ऐसे व्यक्तित्वों को अपने

विख्यात होने की भी चिन्ता नहीं होती। जगत स्वयं ही इनकी ओर खिंचा चला आता है, बल्कि वास्तविकता यह होती है कि ये भौतिक जगत से दूर रहना चाहते हैं। इस भौतिक जगत की मान्यताओं का, यहाँ के नाम, विख्याति, धन, सम्पदा इत्यादि इन सब प्रलोभनों का कोई भी महात्म नहीं होता जबकि भौतिक लोग इन्हीं प्रलोभनों के पीछे भागते हैं। उनकी न धन की इच्छा होती है, न नाम की, न यश की, तो आध्यात्मिक जगत अपने में विलक्षण है।

प्रश्न यह उठता है कि इस अपार दिव्य जगत, इस भव्य जगत की प्रेरणा और प्राप्ति की इच्छा सांसारिक लोगों को क्यों नहीं होती? सच पूछा जाए या विचारणीय दृष्टि से देखा जाए तो भौतिक जगत और आध्यात्मिक जगत में मात्र थोड़ा सा ही अन्तर है। यह एक रूपान्तर है, एक बदलाव है किसी विशेष कार्य, किसी विशेष विचार और किसी भी प्रक्रिया का एक उत्थान है, आध्यात्मिक जगत। उदाहरण के लिए जब एक कार्य को कोई व्यक्ति स्वयं के लिए करता है तो वह भौतिक कार्य हुआ और उसी कार्य को जब वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए या अन्य व्यक्तियों के लिए करता है, तो वह उसका आध्यात्मिक कार्य हुआ, वह दिव्यता कहलाती है। व्यष्टि और समष्टि का अंतर है। कोई भी कार्य जब स्वयं के लिए किया जाता है या अपने परिवार के लिए किया जाता है या अपने सगे–सम्बन्धियों के लिए किया जाता है, तो वह भौतिक कार्य कहलाता है। उसकी सीमा होती है, उसमें आलोचना और प्रशंसा इत्यादि का भी समन्वय रहता है। उसमें सफलता अथवा असफलता, इन दोनों की शंका भी रहती है। लेकिन जब कोई व्यक्ति इष्ट कृपा से थोड़ा खुल जाता है तो वही कार्य, उसी प्रकार किया गया कार्य केवल भीतर से वृत्ति अथवा विचारधारा बदल जाने से दिव्य बन जाता है। इस कार्य के कर्मफल की उस दिव्य व्यक्ति को कोई इच्छा नहीं होती। वह केवल आनन्द में कर्म करता है। उसी कार्य में वह व्यक्ति स्वयं आनन्दित होता है, उसका फल भी आनन्द होता है और उनका अनुसरण करने वाले भी आनन्दित हो जाते हैं। सूक्ष्म विषय है, कार्य पारवर्तित नहीं होता, व्यक्ति परिवर्तित नहीं होता भौतिक रूप से लेकिन उस व्यक्ति की जब विचारधारा परिवर्तित हो जाती है, तो उसके द्वारा किए गए कार्य और कार्य का जो प्रतिफल

है, उसमें बहुत विशाल अन्तर आ जाता है।

आध्यात्मिक जगत या असाधारण जगत या विलक्षण जगत एक छोटे अथवा संकीर्ण भौतिक जगत से उठा हुआ स्वरूप है। जब व्यक्ति का संकीर्णता से उत्थान हो जाता है, तो वही व्यक्ति एक आध्यात्मिक व्यक्ति कहलाने लगता है। इसका सम्पूर्ण भीतर और बाहर का ब्रह्माण्ड और उस ब्रह्माण्ड के बारे में उसका दृष्टिकोण पूर्णतया बदल जाता है। ऐसे व्यक्ति बड़े–बड़े सम्राट भी होते हैं, योगी भी होते हैं, महाभोगी भी होते हैं। उनका योग, भोग, उनका सम्राट होना या उनका भीख माँगना, सब विलक्षण होते हैं, अद्भुत होते हैं। उनका शान्त होना अथवा उनका व्यक्तव्य, उनका मुस्कराना अथवा गम्भीर होना बहुत सार्थक होता है। उनका एक–एक पग, एक–एक मोड़, एक–एक श्वास, उनका जन्म, उनका सम्पूर्ण जीवन किसी न किसी दिव्य अर्थ से युक्त होता है, जबकि भौतिक जगत में असंख्य मानव प्रतिदिन मक्खियों एवं मच्छरों की तरह जन्म लेते हैं और निरर्थक जीवन बिताते हुए काल के ग्रास में प्रवेश कर जाते हैं।

यह अन्तर क्यों है? यह क्या ईश्वरीय रचना है? यद्यपि यदि ब्रह्म दृष्टिकोण से देखा जाये, तो कुछ भी दिव्यता से परे नहीं है। दिव्यता से परे कुछ भी नहीं है। यह दिव्यता अथवा अदिव्यता का जो अन्तर निर्मित किया गया है, यह मानवीय है, ईश्वरीय नहीं है, लेकिन फिर भी यह अन्तर तो है ही। अति सूक्ष्म विचार द्वारा देखा जाए, तो यह अन्तर भी अपने में दिव्य है, जो कि कोटि–कोटि ब्रह्माण्डनायक वह ईश्वरीय शक्ति, वह दिव्य सत्ता जो पूरे करोड़ो ब्रह्माण्डों का सृजन, पालन एवं संहार करती है, उसका कुछ भी, कोई भी क्रियाकलाप उस सत्ता से और उसकी इच्छा से बाहर नहीं होता। यह सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड अपने में दिव्य है, परिपूर्ण है, यह मात्र उसकी लीला है। कहीं वही शक्ति भौतिक और कहीं वही शक्ति आध्यात्मिक है। इसको भौतिक और आध्यात्मिक हमने बनाया है। उसकी दृष्टि में वह सब दिव्यता है। यह बात अनुभव करने की है, समझने की है जिसका मै अभी तक दिव्य और भौतिक, साधारण एव असाधारण रूप में वर्णन कर चुका हूँ।

यह मानवीय सार तक का एक विश्लेषण है लेकिन उस ईश्वर दृष्टि में यह

कोई भेद नहीं है। वह ईश्वरीय सत्ता लीला कर रही है और उसकी प्रत्येक लीला प्रत्येक इकाई अपने में परिपूर्ण है। उसी की इच्छा से कार्य हो रहा है। एक सूक्ष्मतर जन्तु से लेकर एक विशालकाय जन्तु तक ले लीजिए। यह वसुन्धरा, यह आकाश, आकाश के विभिन्न ग्रह और पूरा ब्रह्माण्ड, ये सागर, ये नदियाँ, ये विभिन्न वनस्पतियाँ एव जंगल कुछ भी ले लीजिए। मानव देह स्वयं में एक चमत्कार है, पूर्णतया दिव्य है। यह दैहिक भाव, यह अंतर जो निर्मित किए गए हैं, यह सभी मानवीय है। यदि हम अपने हृदय को और मस्तिष्क को खोलकर देखें, अपने दृष्टिकोण को विशाल करके देखें, तो हमें एक विशेष विलक्षणता का दर्शन होगा। प्रत्येक इकाई में हमें परिपूर्णता ही परिपूर्णता नज़र आएगी। कहीं वह सांप बनकर खेल रहा है। कहीं विष्णु बनकर, कहीं लोमड़ी बनकर, कहीं सिंह बनकर, कहीं गुरु बनकर, कहीं शिष्य बनकर, कहीं सम्राट बनकर और कहीं भिखारी बनकर, वही सत्ता खेल रही है, लीला कर रही है। स्वामी राम ने कितना सुन्दर लिखा है–

मैंने यार को ज़ा बजा देखा, कही बंदा, कही खुदा देखा।

एक में अनेक और अनेक में एक वही है। तो यह दृष्टि कब मिलती है जब व्यक्ति भौतिकता से ऊपर उठ जाता है। जब उसको, उस परमसत्ता, ईश्वरीय सत्ता की झलक मिल जाती है तो यही आँखें बदल जाती हैं। दृष्टि वही रहती है लेकिन दृष्टिकोण बदल जाता है। दृष्टिकोण बहुत बड़ा हो जाता है। खुदाई हो जाता है। उस दृष्टिकोण से जब हम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखते हैं तो सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर नज़र आता है। सर्वत्र ऐश्वर्य ही ऐश्वर्य नज़र आता है और लगता है कि जैसे आनन्द का महासागर और उस महासागर में सारा ब्रह्माण्ड डूबा हुआ हो। वहाँ विक्षेप, त्रास, भय, दुख, कष्ट, रोग कोई महत्व नहीं रखते। वह जगत हर्ष से, उल्लास से, अभय से, सर्वसम्पन्नता से, शक्ति से, भक्ति से, मस्ती व मोह के अश्रुओं से, कृपा से, प्रेम से और आनन्द से ठसाठस भरा होता है, मात्र दृष्टि का परिवर्तन है यह। वही दृष्टि जिस जगत को अंधकारमय, कष्टों से, विक्षेपों से, भय से और न जाने किस–किस प्रकार के त्रासों से युक्त कर देती है, जब उठ जाती है तो इसको आनन्द का सागर बना देती है।

क्यों होता है भय? जब हमें किसी चीज़ के खाने आशंका बनी रहती है। अपने स्वास्थ्य की, धन की, सम्पत्ति की, अपने भौतिक सम्बन्धों की, अपने नाम व यश के खोने की चिंता होती है तो भय उत्पन्न होता है। चिंता और भय का दामन–चोली का साथ है। जब कोई भौतिक पदार्थ खो जाता है, तो भौतिक लोगों को दुख होता है। चिन्ता और भय का प्रतिफल है दुःख और उस दुख में जीवन को बिताने से देह रुग्ण हो जाती है। रोग दुख का साथी है। जब चिंता, भय, दुख एवं रोग आते हैं तो जीवन का आनन्द समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जब भौतिक जगत में हम जीते हैं एक भौतिक प्राणी की तरह, एक सांसारिक व्यक्ति की तरह तो इन विकारों का या इन विकारों के समन्वय का हमारे भीतरी जगत में समाविष्ट होना एक साधारण प्रक्रिया है। लेकिन असाधारण व्यक्तित्व का **आध्यात्मिक व्यक्ति एक विशेष दृष्टिकोण में जीते हैं कि, "हम संसार में खाली आए थे और इस संसार से खाली जाएंगे। कोई वस्तु हमारे साथ नहीं जाएगी, तो किसी वस्तु के खोने का दुःख कैसा? भय कैसा? चिन्ता कैसी? जब कोई वस्तु, कोई व्यक्ति, यहाँ तक कि हमारी देह भी हमारे साथ नहीं जाएगी, तो किसी से मोह कैसा? संसार वही रहता है लेकिन दृष्टिकोण बदल जाता है।** थोड़ा विचार से, सत्संग से, गुरु–कृपा से, आत्म कृपा से और उस महाप्रभु की कृपा से दृष्टिकोण बदल जाते हैं। संसार तो वही रहता है, तो वही संसार आनन्दमय हो जाता है और वही कष्टमय हो जाता है। आध्यात्मिक लोगों को न किसी चीज़ को पाने की आकांक्षा होती है, न किसी चीज़ के खोने का कष्ट होता है। इस प्रकार उनका जीवन कर्म से परिपूरित होता है, लेकिन कर्मफल की उनको कोई आकांक्षा नहीं होती। कर्म वह आनन्द में करते हैं यद्यपि स्वयं के लिए उनको कोई महात्म्य नहीं होता, लेकिन जगत में उनके कर्मों का बहुत महात्म होता है। एक इतिहास की रचना होती है। ऐसे महापुरुष जैसा कि मैं कह चुका हूँ ऐतिहासिक पुरुष होते हैं, युग पुरुष होते हैं, तो कितना अंतर है दोनों प्रकार के जीवन में! जबकि जीवन एक ही है, बस दृष्टिकोण बदलने से उस जीवन मे दिव्यता आ जाती है। तो क्यों न हमारा लक्ष्य अपनी इस भौतिकता से उठने का हो? उसके उठने के लिए हमको

महापुरुषों का सत्संग करना अति आवश्यक है। महामानवों ने कहा है कि यदि **ये पाँच वस्तुएँ अच्छा स्वास्थ्य, अच्छा धन, ईश्वरभक्ति, विनम्रता एव सत्संग किसी को सहज उपलब्ध है, तो समझिए वह महामानव इस पृथ्वी का इस वसुन्धरा का विशेष भोग करने के लिए इस जगत में आया है।** सत्संग का बहुत महत्व है। सत्संग से हमको हर क्षण, हर पल अपनी प्रत्येक गति का मालूम चल जाता है कि, "हम किस ओर जा रहे हैं? हम क्या कर रहे हैं? हमारा लक्ष्य क्या है? अमुक–अमुक पदार्थ के प्राप्त होने के बाद क्या होगा? मैं जगत में क्यों आया हूँ? यहाँ जो मैं एकत्रित कर रहा हूँ इसका अर्थ क्या है? और अन्त में मेरे पल्ले क्या पड़ेगा? "

जैसा कि मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ, कि यदि एक विचारधारा पर हम बार–बार मनन करें, कि इस जगत में हम लाए गए हैं। अपने–अपने जन्म–दिवस व अपने परिवार पर थोड़ा विचार करें, कि हम में से प्रत्येक व्यक्ति एक अमुक समय पर ही उत्पन्न क्यों हुआ? उससे पहले या उसके बाद में क्यों नहीं हुआ? अमुक–अमुक माता–पिता से ही हम क्यों पैदा हुए? इसका उत्तर हमारे किसी के पास भी नहीं है। अन्त में हम यही कहने को बाध्य हो जाते हैं कि यह देव–इच्छा थी। प्रत्येक का विवाह–शादी, पति अथवा पत्नी भी देव इच्छा से ही मिलते हैं। अपना परिवार भी देव–इच्छा से ही मिलता है।

यदि हम स्वयं से ही प्रश्न करें कि हमारा अन्त अथवा मृत्यु कब, कहाँ और कैसे होनी है? उसका उत्तर भी यही होगा, कि देव इच्छा जैसी होगी, वैसा ही होगा। अर्थात् हम इस संसार में स्वयं नहीं आए हैं। हमें लाया गया है और इस संसार से हमको कभी भी उस देव इच्छा से ही निकाल दिया जाएगा। चले जाएंगे हम यहाँ से, सब कुछ छोड़ जाएंगे हम। और इस संसार में आने के बाद हम में से जो भी, जो कुछ भी कर रहा है, वे कार्य अथवा कर्म हमारे बिना भी हो सकते हैं। हमारे पैदा होने से पहले भी वे सब कुछ हो रहा था और हमारे उन कर्मों को छोड़ने अथवा संसार को छोड़ने के बाद भी वे कर्म होते रहेंगे तो प्रश्न यह उठता है, कि हम संसार में लाए क्यों गए है? जैसे ही इस विचारधारा का पदार्पण होता है मानव बुद्धि में, उसके हृदय में विचारों का एक विशेष

आदान–प्रदान और एक ज्वार–भाटा सा उठने लगता है और अन्ततः वह सत्य की ओर प्रेरित हो जाता है कि कुछ तो कारण है, जिसके लिए मुझको, मानव को इस संसार में लाया गया है। सत्संग द्वारा जब ऐसे विशिष्ट विचारों का पदार्पण होता है, तो मानव बुद्धि सत्य की ओर प्रेरित होने के पश्चात् मानव एक विशिष्ट जगत जिसका मै वर्णन कर चुका हूँ आध्यात्मिक जगत की ओर अग्रसर होने लगता है और अन्ततः विशेष ईश्वरकृपा से एव आत्म कृपा से, आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करने लगता है और एक समय पर वही भौतिक प्राणी आध्यात्मिक बन जाता है वह साधारण व्यक्ति असाधारण बन जाता है। इस प्रकार सत्संग द्वारा व्यक्तियों का व्यक्तित्व परिवर्तित हो जाता है।

व्यक्ति वही रहते हैं, नाम और रूप वही रहते हैं, यह बाह्य जगत वही रहता है लेकिन जैसा मैं वर्णन कर चुका हूँ, व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल जाता है। इसकी दृष्टि संकीर्णता से हट जाती है। दिव्य जगत एक वृहद् जगत है। दिव्य सम्बन्ध, दिव्य प्राप्तियाँ और सब कुछ दिव्य। और उसका प्रतिफल है आनन्द। ऐसे व्यक्ति मुदितापूर्वक, हर्ष और उल्लास से, अभय से, आरोग्यता में सर्वसम्पन्नता की विचारधारा लिए हुए साहसी होते हैं, उत्साही होते हैं। वे भी मोह वाले होते हैं लेकिन उनका मोह केवल ईश्वरीय सत्ता से होता है। उनके नेत्रों से भी आसूँ झरते हैं, लेकिन वे ऑसू ईश्वर के लिए होते हैं। वे ईश्वरीय कृपा से, ईश्वरीय आनन्द से और ईश्वरीय प्रेम से ठसाठस भरे रहते हैं। कितना आनन्दमय जीवन है? जन्म और मृत्यु में उनको कोई भेद नहीं रहता। ऐसा विलक्षण जीवन वे बिताते हैं। ऐसे युग पुरुष साधारण मानवों से ही बाहर निकलते हैं और जन्म–जन्मान्तरों तक ये इस संसार का मार्गदर्शन करने के लिए अवतीर्ण होते हैं। तो कितना बड़ा अन्तर है! इस अन्तर को उत्पन्न किया है मानव ने। अन्त में मै फिर यही कहूँगा कि ईश्वर दृष्टि में यह अन्तर नहीं है। ईश्वर की मात्र लीला है लेकिन मानव दृष्टि में यह अन्तर अवश्य है। हम मानव है, पृथ्वी पर रहते हैं और इस अन्तर से अपनी दृष्टि को बचा नहीं सकते। यह अन्तर है और अवश्य है।

।। जय जय श्री राम।।

आनन्दमय आत्मकोष की परिकल्पना एवं साक्षात्कार

यह एक गंभीरतम एवं विचित्रतम विषय है। यह एक ऐसा विषय है कि यदि इसका लेशमात्र भी हम अपने जीवन में धारण कर ले, तो जीवन अत्यन्त गुणात्मक एव सुन्दर बन सकता है। विषय शुरु होता है निद्रा से, जिसे हम कहते है **तंद्रा, सुषुप्ति**। यह सुषुप्ति क्यों होती है? इसकी क्या आवश्यकता है? क्यों सोते है हम? सोकर हमको क्या मिलता है? क्या वास्तव में हम सोते हैं? क्या हमने अपने–आपको, स्वयं को कभी सोते देखा है? यह बड़ा अटपटा सा प्रश्न है। यदि हम किसी से पूछें, कि क्या तुमने स्वयं को सोते हुए देखा है, तो स्वाभाविक उत्तर मिलेगा कि, नहीं। क्या सुषुप्ति हमारी कल्पना नहीं है? क्या हम दूसरों को सोये देखकर अपनी निद्रा की परिकल्पना तो नहीं करते?

जब सुबह या किसी समय हम प्रगाढ़ निद्रा से, प्रगाढ़ निद्रा से मेरा तात्पर्य यहाँ पर उस निद्रा से है, जो स्वप्न–रहित होती है। जिसे हम गहन–निद्रा कहते हैं। उससे जब कोई व्यक्ति उठता है, आँख खोलता है, तो स्वयं को बहुत हल्का, तरोताज़ा अनुभव करता है। अक्सर कहता है, “बड़ा आनन्द आया मुझे, बड़ी अच्छी नींद आई ”। यदि हम स्वयं अनुभव करें, कि हमें निद्रा का जो बहुत आनन्द आया, तो उस आनन्द का आभास हमें केवल **जाग्रत अवस्था** में ही हुआ। उस निद्रा में, जिसकी हम मात्र कल्पना कर सकते हैं, यदि हम स्वयं से प्रश्न पूछें, कि हमको वहाँ क्या प्राप्त हुआ? क्या हम आँखों से कोई सुन्दर दृश्य देख रहे थे? नहीं। स्वप्न रहित निद्रा की बात कर रहा हूँ। क्या हम बहुत सुन्दर व्यंजन, स्वादिष्ट भोजन खा रहे थे? नहीं। क्या हम कोई बहुत सुन्दर संगीत का आनन्द ले रहे थे? नहीं। क्या हम किसी मधुरतम स्वप्न का आनन्द ले रहे थे? नहीं। **आनन्द क्या था? वहाँ न हमारी देह थी, न हमारी दुनिया थी, न कोई वस्तु थी, न धन, न सम्पत्ति, न पत्नी, न पुरुष, न पुत्र, न पद, न हमारा रूप, न लावण्य। कुछ भी नहीं था वहाँ पर। फिर वह आनन्द कैसा होगा? किस वस्तु का आनन्द होगा?**

जागृति के बाद हम आश्वस्त हो जाते हैं, कि उस निद्रा में शत–प्रतिशत कोई भी वस्तु नहीं होगी, जिन वस्तुओं के लिए हम जाग्रत अवस्था में भाग–दौड़

करते हैं उनको प्राप्त करने के लिए, भोगने के लिए और एकत्रित करने के लिए। यह ईर्ष्या–द्वेष व एक दूसरे को नीचा गिराने और स्वयं आगे बढ़ने की एक होड़। तो उस निद्रा में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं होगी। यहाँ तक कि हमारी अपनी देह भी नहीं। यद्यपि हमने अपनी निद्रा नहीं देखी, लेकिन सुबह उठने के बाद यदि हम विचार करें, तो जिस निद्रा में हमको इतना आनन्द आया उस में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं होगी।

मैं इस बात को पुनः स्पष्ट करना चाहता हूँ कि सुबह उठने के बाद जब हम तरोताज़ा और बहुत आनन्दित अनुभव करते हैं और उस निद्रा के बारे में कहते हैं कि बड़ा आनन्द आया। हमने अपने आपको निद्रा के समय नहीं देखा, **लेकिन हमारा एक अनुभव है, कि उस निद्रा में जो आनन्द की अनुभूति हुई, वह अभावमय आनन्द था। वहाँ कोई भी वस्तु नहीं थी, प्राप्ति नहीं थी, कोई खोना नहीं था, कोई पाना नहीं था, लेकिन आनन्द था।** फिर हम जाग्रत अवस्था में उठते हैं और अपने स्वभाववश अपनी आवश्यकताओं वश और अपने संस्कारोंवश उन विभिन्न प्रकार के कार्यों में तल्लीन हो जाते हैं। फिर हम थक जाते हैं उन प्राप्तियों से, उन उपलब्धियों से, खोने से, पाने से और फिर हम निद्रा देवी की गोद में जाकर सो जाते हैं। तो इस वर्णन से यह बात स्पष्ट होती है, कि एक चौबीस घण्टे में जो निद्रा का समय था, जिसकी गणना हम जागृति के बाद ही करते हैं, वहाँ पर काल का, समय का, भास भी नहीं होता। हम उठते समय घड़ी देखते है, कि मैं कितने घण्टे सोया होऊँगा?

तो उसमें भी, जितना समय भी हम सोए हैं, उसका ज्ञान भी हमको जागृति में ही होता है। अर्थात् जो प्रगाढ़ निद्रा की स्थिति या समय है, उस समय का अनुमान, हमें निद्रा में नहीं होता। स्थान का, स्वयं का व किसी भी सांसारिक वस्तु का भास नहीं होता, जिसके लिये हम जागृति में लालायित रहते हैं। इस कथन से एक बात स्पष्ट होती है, कि यद्यपि किसी ने अपनी निद्रा नहीं देखी, **निद्रा एक ऐसी मानसिक स्थिति होती है, जहाँ कोई सांसारिक वस्तु, कोई पदार्थ नही होता, केवल आनन्द होता है। इसे कहा है शास्त्रकारों ने "जीवात्मा का अपने आनन्दमय कोष में प्रवेश।"** प्रगाढ़ निद्रा से जागृति

के पश्चात हम जिस आनन्द का अनुभव करते हैं, तो उसको पाने के लिये क्या हम चौबीस घण्टे सोते रहें, नहीं। यह पशुवत् विचार है। जिस निद्रा की परिकल्पना से हमें यह स्पष्ट हो जाता है, कि यह एक ऐसी मानसिक स्थिति है, जिसमें कोई भी वह सांसारिक पदार्थ जिसके लिये हम सारा जीवन दौड़–धूप करते हैं, नहीं होता, आनन्द होता है। प्रगाढ़ निद्रा में जब जीवात्मा अपने आनन्दमय कोष में प्रवेश करती है, मात्र उसकी परिकल्पना हमको स्फूर्ति देती है। हमको आनन्दित कर देती है। यदि हम इस आनन्दमय कोष का साक्षात्कार कर लें, अपनी चेतन अवस्था में, अपनी जागृत अवस्था में उस आनन्द का अनुभव करें तो आप कल्पना करिए, कि कितनी महान आनन्द की स्थिति होगी?

यह बात स्पष्ट हो जाती है इस निद्रा की परिकल्पना से कि यह वह मानसिक स्थिति है, जहाँ पर संसार लुप्त हो जाता है, जहाँ देह भी नहीं रहती। उदाहरण के लिये मान लीजिए, कोई स्त्री या पुरुष अति सुन्दर है, दिन में सैकड़ों बार दर्पण देखता है, उसकी निद्रा से उठाकर उसके सम्मुख दर्पण रख दीजिए और उसको अपना सौन्दर्य देखने के लिए आग्रह करिए, तो वह व्यक्ति कितना क्रुद्ध हो जाएगा? अर्थात् वह ऐसी आनन्दमय स्थिति में होता है, कि अपनी उस शक्ल को भी देखना नहीं चाहता जिसको वह जागृति में पचासों बार देखता है। जागृति में जिस धन के लिये व्यक्ति लालायित रहता है, धन को कमाने के लिए, संग्रह करने के लिए दौड़ता है, तो उसको निद्रा से जगाकर उस धन की गठरी बनाकर उसके सामने रख दीजिए, तो वह उस धन से मुँह फेर लेगा और पुन. सोना चाहेगा। जिस बच्चे के लिए! वह इतना चिन्तित रहता है, उसकी देखभाल, उसकी शिक्षा आदि के लिए, तो उस व्यक्ति को निद्रा से उठाकर, उस बालक को उसकी गोद में दे दीजिए, तो वह बालक को पटक देगा कि "इसको परे ले जाओ, मुझको सोने दो।" कोई स्त्री किसी पुरुष के लिए, कोई पुरुष किसी स्त्री के लिये कितना पागल और दीवाना होता है, तो निद्रा में उठाकर उसका जिक्र तक करिए, उसको बुरा लगेगा। धन, कोई पद, किसी शक्ति के अर्जन के लिए, यदि कोई पुरुष लालायित है, यदि उसको निद्रा से जगाकर उस पदवी आदि के बारे में वर्णन करने लगिए, तो वह विक्षिप्त हो

जाएगा। यह बार–बार जोर देकर स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, कि एक ऐसी मानसिक स्थिति है निद्रा, जहाँ हमारी समस्त प्रक्रियाएँ, शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक लुप्त हो जाती है, आकांक्षाएँ समाप्त हो जाती है। लोभ, मोह, क्रोध, काम, ईर्ष्या, द्वेष ये सब समाप्त हो जाते है। वहाँ एक विशेष आनन्द होता है जिसकी अनुभूति हम जागृत होने के बाद ही करते है, क्योंकि अपनी निद्रा को आज तक किसी ने नहीं देखा, निद्रा में हम समय की गणना नहीं कर सकते, समय एक सापेक्षिक मुद्दा है। हमें स्थान का भास नहीं रहता, कि हम कहाँ सोए हुए है? जागृति के बाद हमें मालूम चलता है कि मैं कहाँ सोया था? तो जहाँ स्थान का, व्यक्ति का, व्यक्तित्व का और समय तक का भी अभाव रहता है, वह है मानसिक परिस्थिति जिसका नाम है निद्रा, नींद, सुषुप्ति, स्लीप, तन्द्रा।

प्रकृति ने, ईश्वर ने, इस प्रगाढ़ निद्रा की रचना इसलिए की, कि जीव को उसके एक विशेष आनन्द का अनुभव हो जाये, जो अभावमय आनन्द है। निद्रा पशुओं को भी आती है और मनुष्य को भी आती है। लेकिन मनुष्य को साथ में एक मस्तिष्क दिया है, बुद्धि दी है, एक विवेक दिया है, यह विचार करने के लिये कि जब निद्रा में मेरे पास कुछ नहीं था, मुझे स्वयं का भी भास नहीं था तो एक आनन्द जिसका अनुभव मैं जागृति में कर रहा हूँ, यदि उस आनन्द का, उस विशिष्ट आनन्द का अनुभव मैं जागृत अवस्था में करूँ, तो कितना महान आनन्द होगा! उस आनन्द का अनुभव जागृति में करने के लिये योगी लोग समाधि में जाते हैं, ध्यान करते हैं, जाप करते हैं, तप करते हैं।

तुरीय अवस्था क्या है? ध्यान क्या है? जब हम चेतन अवस्था में, जागृत अवस्था में, अभावमय आनन्द की स्थिति, **एक ऐसी मानसिक परिस्थिति का सृजन कर लेते हैं जहाँ पर हमें अपनी देह का, काल का, स्थान का भास नहीं रहता। हम जागृत होते हैं। किसी वस्तु को पाने की इच्छा नहीं होती। बुद्धि सम हो जाती है, मन ठहर जाता है, उसका नाम है समाधि। जहाँ बुद्धि में कोई विशेष नहीं होता, उस अवस्था का नाम है समाधि, जो हम जागृति में ही अनुभव कर सकते हैं, चेतन अवस्था में।** तो समाधि, चेतन अवस्था में, जागृति में वह मानसिक स्थिति है जहाँ पर काल

अर्थात् समय का आभास नहीं होता। अपनी पदवी, पद, धन–सम्पत्ति, स्त्री–पुरुष, सम्बन्धी, सन्तान, अपने धर्म, अपने कर्म, अपने देश–विदेश, संसार, किसी चीज़ का आभास नहीं होता लेकिन चेतन सत्ता होती है, जागृति होती है उसका नाम है समाधि। समाधि के महापुरुषों ने अलग–अलग प्रकार वर्णन किये है।

अलग–अलग प्रकार की समाधियाँ हैं। यह एक बड़ा विस्तृत विषय है। यहाँ हम इसकी सक्षिप्त चर्चा करेंगे, कि निद्रा में सोकर उठने के बाद जागृत अवस्था में हम जिस आनन्द का अनुभन करते हैं और निद्रा के बारे में विचार करने पर हम विश्वस्त हो जाते हैं, कि अवश्य एक ऐसी स्थिति है निद्रा, जहाँ पर संसार का, देह का, दुनिया का अभाव होता है लेकिन आनन्द होता है, आनन्द और उस स्थिति को यदि हम जागृति में प्राप्त करना चाहते हैं और करते हैं, उसका नाम है **समाधि। समाधि का भी एक विशेष आनन्द है, विशेषतम आनन्द।** तो इन प्रक्रियाओं का अर्थ क्या है? एक बहुत बड़ा दर्शन हमारे सामने खुल जाता है, सम्मुख आ जाता है, कि जितनी भी सांसारिक प्रकियाएं हैं, भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति, उनको पाना, उनका भोग करना, उनको पाने की आकांक्षा होना, महत्वाकांक्षा होना, किसी वस्तु के पाने के बाद जो तनिक प्रस्न्नता या खुशी होती है या तथाकथित आनन्द होता है, उसका अनुभव करना, यह मात्र सभी एक थकावट का विषय है। यह हमारा लक्ष्य नहीं है, यदि यह हमारा लक्ष्य होता तो हम सोते ही न। यह बड़ा विचारणीय विषय है।

हम गम्भीरतापूर्वक दुनिया के कार्यों में लिप्त हो जाते हैं, लेकिन बाद में हम थककर सो जाते हैं और निद्रा अवस्था में हमको कुछ भी अच्छा नही लगता। तो जो इन वस्तुओं से हम अन्ततः प्राप्त करना चाहते हैं, जैसा कि मैं पहले भी वर्णन कर चुका हूँ, कि हम अधिकतम समय जीवन में वस्तुओं की प्राप्ति में गवाँ देते हैं। जिसको हम लक्ष्य मान लेते हैं या अपना कर्त्तव्य मान लेते हैं भूल से। कर्त्तव्य के बारे में, जैसा कि मै पहले भी वर्णन कर चुका हूँ, कि जो कार्य हमारे बिना भी हो सकता है और सम्भवतः हमारे बिना ज्यादा अच्छा हो, तो वह हमारा कर्त्तव्य कैसे हो सकता है? तो क्या निरर्थक, हम कर्तव्यों का बोझ तो नहीं ढो रहे हैं? उन तथाकथित कर्तव्यों की पूर्ति के लिये हम अपने जीवन का बहुमूल्य

समय तो नहीं गवाँ रहे हैं? क्योंकि किसी भी वस्तु की प्राप्ति के बाद हमारा एक सूक्ष्म उद्देश्य होता है, उस वस्तु को भोगना, किसी पद को, पोजीशन को, सम्पत्ति को, धन को इत्यादि–इत्यादि। उसको भोगना इसलिए चाहते हैं, कि हम अन्ततः आनन्द चाहते हैं और वह जो आनन्द है, वह मानसिक स्थिति है, जहाँ पर मन स्वयं ही लुप्त हो जाता है, शान्त हो जाता है।

तो आनन्द का इन वस्तुओं की प्राप्ति से और उस प्राप्ति के बाद इनके भोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि प्राप्ति और भोग में ही आनन्द होता, तो हम क्यों सोते? मान लीजिये, उनमें आनन्द भी है, तो उस आनन्द के बाद हम परमानन्द में क्यों जाना चाहते हैं जिसको निद्रा कहते है? हम विश्राम चाहते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ, कि जो सांसारिक वस्तुएँ हैं, उनकी प्राप्ति, उनकी प्राप्ति की आकांक्षा और उनका भोग और उनके भोग के बाद जो तथाकथित आनन्द है, वे सब एक थकावट का विषय है। हम विश्राम चाहते हैं एक ऐसे आनन्दमय कोष में जीवात्मा प्रवेश करना चाहती है, कि जहाँ न कोई प्राप्ति है, न कोई भोग है, केवल आनन्द है। तो निद्रा का आनन्द हम जागृति के बाद अनुभव सा करते हैं, इसको कहा है जीवात्मा का अपने आनन्दमय कोष में प्रवेश की परिकल्पना। क्योंकि स्वयं को निद्रा मे कभी किसी ने नहीं देखा। जब हम जागृत अवस्था में उस आनन्द का अनुभव करते हैं समाधि द्वारा, जाप द्वारा और अन्य यौगिक प्रक्रियाओं द्वारा, तो वह एक विशिष्टतम अनुभूति होती है।

वहाँ मन समाहित हो जाता है। वहाँ समय का, स्थान का, किसी भी वस्तु का अभाव होता है। कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि जैसे संगीत का दिव्य आनन्द होता है, तो क्या वहाँ पर भी समाधि जैसी स्थिति हो जाती है? नहीं, अवश्य हो जाती है, लेकिन यदि उस संगीत को एकदम रोक दिया जाये, तो उस समय हमारी समाधि स्थिति का क्या होगा? यदि वह हमारी अवस्था उस संगीत की लय पर आधारित है, तो वह हमारी कर्ण–इन्द्रिय, श्रवण–इन्द्रिय का एक भोग मात्र है, क्योंकि वह किसी वस्तु पर, किसी इन्द्रिय से प्राप्त सुख पर आधारित है अतः वह समाधि नहीं हो सकती। इसी प्रकार त्वचा के स्पर्श का आनन्द, जीभ के रस का आनन्द और अन्य कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अर्जित आनन्द में जो

हम समाधि सा अनुभव करते हैं, वह समाधि नहीं हो सकती। हाँ, उसे रोकने से यदि हमारी आनन्दमय स्थति में कोई अन्तर नहीं पड़ता, तो उसको हम समाधि मान सकते हैं।

यह बहुत बड़ा भ्रम है, जो आम लोगों में रहता है। विचार करिये, कि निद्रा का आनन्द जो हमें जागृति के बाद अनुभव हुआ, अनुभव सा हुआ तो उस जीवात्मा के अपने आनन्दमय कोष में प्रवेश की परिकल्पना का यदि हम साक्षात्कार कर लें समाधि द्वारा, तो कितना अथाह आनन्द होगा। उसको भी शास्त्र ने अभावमय आनन्द कहा है, वह भी एक ऐसी मानसिक स्थिति है, जिसमें कोई भी वस्तु नहीं होती, कोई ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, अहं, आकांक्षा, महत्वाकांक्षा, सम्बन्ध, धर्म, कर्म कुछ नहीं होता। मन समाहित हो जाता है। काल का भास नहीं होता। स्थान का भास नहीं होता।

जीवात्मा के आनन्दकोष में प्रवेश होने पर आनन्द की परिकल्पना, जिसका हम प्रगाढ़ निद्रा से जागृत होने पर अनुभव करते हैं और जागृत अवस्था में जिस आनन्द का साक्षात्कार, उपासक, ध्यान द्वारा, समाधि द्वारा, जाप द्वारा एव अन्य प्रक्रियाओं द्वारा करते हैं, तो इस सदर्भ में यह जानना अति आवश्यक है, कि अतीन्द्रिय आनन्द क्या है? अतीन्दिय आनन्द, इस शब्द को आपने कई धर्मग्रन्थों में अथवा कई महापुरुषों एवं संतों की वाणी द्वारा सुना होगा। अतीन्द्रिय अर्थात् जो इन्दियों से परे है।

आज समस्त जगत विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय सुख पाने और उस सुख को बढ़ाने के लिये आवश्यक वस्तुओं अथवा उपकरणों को पाने की होड़ में भाग रहा है, दौड़ रहा है। उस सुख की प्राप्ति के लिये जिसे हम तथाकथित सुख कह सकते हैं। आज समस्त विश्व लालायित है, एवं व्याकुल है। दुर्भाग्य देखिये, एक क्षणिक सुख की उपलब्धि के लिये आज समस्त जगत व्याकुल है। तो भला सोचिये, कि जिस सुख की उपलब्धि जीव को व्याकुल कर दे, तो उस सुख की प्राप्ति भला उसको आनन्द कैसे दे सकती है? तो **अतीन्द्रिय आनन्द क्या है**? क्या हम ऐसे सुख की तरफ प्रेरित हो सकते हैं, जो इन इन्द्रियों से परे, इन समस्त इन्द्रियों को सुख देता है।

मै कई बार इस विषय को स्पष्ट कर चुका हूँ, कि आनन्द बाह्य जगत की वस्तुओं में नहीं है, आनन्द भीतरी है। हम किसी संगीत को यदि आनन्दपूर्वक सुन रहे हैं तो संगीत अथवा हमारी कर्ण इन्द्रियाँ उस आनन्द का एक माध्यम है। वास्तविक आनन्द तो हमारे भीतर से आ रहा है। विचारणीय बात है कभी हम हृदय से विक्षिप्त होते हैं, मानसिक स्थिति हमारी अच्छी नहीं होती, ऐसे समय में कोई भी इन्द्रिय सुख हमको आनन्दित नहीं कर सकता। प्रत्येक इन्द्रिय सुख हम तभी ले सकते हैं, यदि हम अपने भीतर से, अपने हृदय से आनन्दित होते हैं। विषय अति गंभीर है कि जितनी भाग–दौड़ और जितना प्रयत्न, हम इन्दियों को संतुष्ट करने के लिये और सुखों को जुटाने के लिये करते हैं, यदि उसका लेशमात्र हम नित्य प्रति उस महासुख में प्रवेश करने के लिये करें, जहाँ से समस्त इन्दियों सुख लेती हैं, तो हम परम सन्तुष्टि की स्थिति में पहुँच जाते हैं।

अतीन्द्रिय आनन्द एक मानसिक. बौद्धिक व हार्दिक स्थिति है, जिसमें जीवात्मा का अपने आनन्दमय कोष में, हमारी जागृति अवस्था में प्रवेश होता है। शायद इसी अवस्था को गीता में **स्थिर प्रज्ञ कहा है! स्थिरप्रज्ञ वे व्यक्ति होते हैं, जो समाधि द्वारा, जाप द्वारा, तप द्वारा और अन्य किसी प्रक्रिया द्वारा अपनी जागृत अवस्था में सहज स्वभाव से अपने आनन्दमय कोष का आनन्द लेते हैं, जिसको सहज समाधि भी कहा जा सकता है।** उस अवस्था में प्रवेश होने के बाद जब विभिन्न सांसारिक कार्य किए जाते हैं या इन्द्रिय सुख या भोग किए जाते हैं तो उसकी उस महामानव की मात्र लीला ही कहते हैं। यहाँ यह बात बहुत सावधानी से समझने की है। **लीला आनन्द में की जाती है आनन्द के लिए नहीं की जाती।** जब कोई व्यक्ति किसी भी सांसरिक कार्य को, किसी भी भोग को मस्ती में करता है, तो उसको कहते है **लीला**। जब उसी को **एक साधारण व्यक्ति आनन्द के लिए करता है, आनन्द की प्राप्ति के लिए करता है और विक्षिप्त हृदय से करता है, उसको कहते हैं सांसरिक कार्य और वह व्यक्ति सांसारिक कहा जाता है। महामानव और ईश्वरीय अवतार मात्र संसार में लीला करने के लिए आते हैं।** मैं पुनः इस जोर दूँगा, कि लीलाएं आनन्द में की जाती है। उनमें किए

गए समस्त कार्य आनन्द में होते हैं और आनन्द में ही समाप्त होते हैं, उसका कर्मफल आनन्द ही होता है। वहाँ किसी वस्तु का पाना–खोना, किसी काम का बनना–बिगड़ना, कोई महत्व नहीं रखता। यह एक बहुत गौर–तलब, गम्भीर और विचारणीय विषय है, यह समझना कि लीला क्या है और सांसारिक कार्य क्या है।

जब सीता का अपहरण हुआ रावण द्वारा तो भगवान राम रुदन करते हुए पेडों से, लताओं से, पुष्पों से, खग–वृन्दों से पूछ रहे है कि, "ऐ लताओं, तुमने मेरी सीता तो नहीं देखी?" वृक्षों से पूछ रहे हैं, जड–चेतन सबसे पूछ रहे हैं, व्याकुल रुदन करते हुए। जब एक साधारण व्यक्ति अपनी स्त्री के खो जाने पर रुदन करता है तो उसके रुदन में एक अन्तर है। **भगवान द्वारा जो किया गया कृत्य है वह मात्र एक लीला है, मात्र लीला और साधारण व्यक्ति द्वारा वही कार्य मात्र शोक है।** तो रोग, शोक, दुःख, मिलना–बिछुड़ना, खोना–पाना, बनना–बिगड़ना यह महापुरुष के लिये मात्र लीलाएं होती हैं। जीवन पाना, जीवन समाप्त होना, जीवन का चलना यह तीनों आनन्दमय होते हैं, मस्ती में होते हैं। इस विषय को हमें विस्तारपूर्वक हृदय से ग्रहण करना अति आवश्यक है, कि लीला क्या है और साधारण सांसारिक कार्य क्या?

क्या यह सम्भव है कि हम इस छोटे से जीवन को जिसका अंत एक दिन निश्चित है, लीलामय होकर, मस्ती में, आनन्द में जिए? हाँ, यह सम्भव है निसंदेह। वह आनन्द जो प्रगाढ़ निद्रा का हमने जागृत अवस्था में आकर अनुभव सा किया यदि हमें उस आनन्द का जागृत अवस्था में ही एक मात्र साक्षात्कार हो जाए, तो उसके बाद जो भी हम कार्य करते हैं आनन्दमय होकर करते हैं। यदि उस आनन्द को अविरल रखा जाए जाप द्वारा, सहज समाधि द्वारा या किसी अन्य प्रक्रिया द्वारा, तो जीवन में किया गया प्रत्येक कार्य आनन्दमय हो जाएगा। उसकी समाप्ति आनन्द में होगी। वह मात्र लीला होगी। इस बात को पुनः पकड़ लीजिए, कि जो इन्द्रिय सुख हैं वे क्षणिक हैं क्योंकि इन्द्रियों की एक सीमा है। जब इन्द्रियों की वह क्षमता समाप्त हो जाती है, तो उसका वह तथाकथित सुख समाप्त हो जाता है, पर संतुष्टि नहीं मिलती। उस क्षमता को

पुनः प्राप्त करने के बाद इन्द्रियों उस सुख के लिए फिर लालायित रहती हैं। यहाँ पर मनुष्य और का कुछ भी भेद नहीं रहता। जब वही कार्य, वही प्रक्रिया, वही क्रीड़ा आनन्दमय की जाती है, वह तभी सम्भव है, कि जब जीव अपने आनन्दमय कोष में, जागृति में प्रवेश कर जाए। उस प्रवेश के लिए किसी भी सांसारिक वस्तु अथवा उपलब्धि की कोई आवश्यकता नहीं होती।

अब आप पूछेगें उस लीला की आवश्यकता क्या है? कई बार कोई वस्तु अप्रकट रूप में हमारे भीतर होती है जैसे एक अविरल आनन्द, तो उसके बाह्य प्रगटीकरण के लिये लीला की जाती है। जिस प्रकार एक शिशु जब माँ के गर्भ में होता है, यद्यपि वह आनन्दित होती है, फिर भी उसी शिशु को गोद में खिलाकर जो आनन्द मिलता है, वह उस शिशु के गर्भ में होने में नहीं मिलता। तो लीलाओं की यद्यपि कोई आवश्यकता नहीं है, लेकिन उस भीतरी आनन्द के बाह्य प्रगटीकरण के लिये महापुरुष अवतार लेते हैं और लीलाएं करते हैं युगों–युगों में। जितने भी जीवधारी हैं इस आनन्द पर, उनका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह आनन्द जो हमारा भीतरी है, हमारा अपना है, हमारा स्वरूप है, इसके लिये किसी वस्तु की प्राप्ति या भोग की कोई भी आवश्यकता नहीं है। यह मात्र आनन्द है। इसका बाह्य, इसका भीतर, इसका आदि, इसका अन्त सब आनन्द ही आनन्द है और उसका प्रगटीकरण किया जाता है इन्द्रियों द्वारा, लेकिन वास्तव में वह अतीन्द्रिय आनन्द है।

ईश्वरीय शक्तियाँ, कई बार भक्तों की इच्छा की पूर्ति के लिए मानव देह धारण करती हैं। लीला करने के लिये संसार में आती हैं। तो वह लीला किसी दूसरे के लिए नहीं, बल्कि स्वयं के भीतरी आनन्द के प्रगटीकरण के लिए ही की जाती है। कुछ प्रबल जिज्ञासु लोग समाधि द्वारा उस जीवात्मा के आनन्दमय कोष में स्थिरता पूर्वक प्रवेश के बारे में अभ्यास करना चाहते हैं।

आत्म–आनन्द की उपलब्धि के बाद की गई ईश्वरीय क्रियाएं, जिनको हम ध्यान, कर्म–काण्ड या पूजन कहते हैं, जाप कहते हैं, यह क्रियाएँ भी लीला हो जाती हैं और इन क्रियाओं के फल–स्वरूप उत्पन्न ज्ञान संसार के लिए और उस व्यक्ति के स्वयं के लिए बड़ा सुखमय हो जाता है। यद्यपि उपासक का

लक्ष्य ज्ञान अर्जन नहीं है। इस बात पर आपको कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। उस विशेष स्थिति को प्राप्त करने के बाद, जिसमें जीवात्मा का अपने आनन्दमय कोष में प्रवेश हो जाता है, उसके बाद की गई जो ईश्वरीय प्रक्रियाएँ हैं, उनके करते स्वतः ही जो ज्ञान की उपलब्धि होती है, वह ज्ञान लक्ष्य नहीं होता, लेकिन वह उपलब्धि बड़ी सुखमय होती है। कभी–कभी उस अवस्था से हटकर प्राप्त हुआ ज्ञान कष्ट का विषय भी बन जाता है।

सुखमय ज्ञान क्या है और दुःखमय ज्ञान क्या है? एक ज्ञान तो हम बुद्धि द्वारा पकड़ते हैं और दूसरे ज्ञान को हम सहज प्रवृत्ति में प्राप्त करते हैं, आनन्दमय स्थिति में। यद्यपि सुनने में, वर्णन करने में, लिखने में वह दोनों ज्ञान एक से हैं, लेकिन उनका फल अलग–अलग होता है। यह भी निर्भर करता है कि वह ज्ञान किस मानसिक अवस्था से प्राप्त हुआ है, इसीलिये कहा गया है कि जो उपासक है, जो ईश्वरीय भक्त है, उनके मुखारविन्द से, उनके श्रीमुख से निकली हुई सहज, सरल बातें भी बड़ी आनन्दमय होती हैं, ज्ञानगर्भित होती हैं। मात्र विद्वान, जो ईश्वर भक्त नहीं है, जो केवल अपनी बुद्धि के अभ्यास द्वारा, परिश्रम द्वारा, तर्कों द्वारा, कुतर्कों द्वारा किसी बात को सिद्ध कर सकते हैं, उनका ज्ञान बड़ा नीरस सा लगता है और हृदय में शान्ति के बजाय अशान्ति का पदार्पण हो जाता है। यह बात आपने अनुभव की होगी। इसलिये जो परमार्थ निमित्त कार्य किए जाते हैं वे कार्य भी यदि स्थिरप्रज्ञों द्वारा किए जाएं, तो उनका आनन्द एक विशेष ही होता है, उसकी उपलब्धियाँ भी विशेष ही होती हैं। विषय जटिल है और इसमे आपका मनन, इसको अनुभव करने में आपको सहायक हो सकता है।

जितने भी इन्द्रिय सुख हैं यदि हम अति समाहित होकर, मुग्ध होकर उनका भोग करें, तो यह मानसिक अवस्था उनके भोग के दौरान भी आ सकती है। जब हम किसी भोग में बहुत लालायित होते हैं, मुग्ध होते हैं, तो हमें समय व स्थान का आभास नहीं रहता। उसका ज्ञान नहीं रहता। क्या यह जीव के आनदमय कोष में प्रवेश का लक्षण है? नहीं, क्योंकि यदि उस इन्द्रिय सुख को बाधित कर दिया जाये, रोक दिया जाये तो हमारी मानसिक स्थिति विक्षिप्त हो जाती है उस

सुख की ओर, और उस सुख से बढ़कर अन्य सुख की ओर एकदम जाने के लिये आतुर हो जाती है। हम व्याकुल हो जाते हैं। वह व्याकुलता की जो स्थिति है उस पर महापुरुषों ने बहुत शोध किये हैं, कि उस व्याकुलता की परिस्थिति में यदि हम असीम आनन्द की ओर मुड़ जाते हैं, थोड़ा गम्भीर विषय है यहाँ पर।

हमारी इन्द्रियों की, हमारी देह की, हमारी मानसिक, शारीरिक और बौद्धिक शक्तियों की एक सीमा है, उनकी क्षमता की एक सीमा है, हमारी बुद्धि की सीमा है, हमारी माँसपेशियों की शक्ति की एक सीमा है। किसी भी सीमित वस्तु द्वारा जो हम आनन्द ले सकते हैं, उसकी भी एक सीमा है। यदि सीमा न हो तो प्रतिदिन हम इन्द्रिय सुख लेते हैं, तो हम तृप्त क्यों नहीं होते? उसकी अतृप्ति का कारण यह है, कि हमारा आनन्द भी सीमित होता है। हम और और चाहते हैं। वस्तुओं को बदल देते हैं, परिस्थितियों को बदल देते हैं लेकिन हम यह भूल जाते हैं, कि उससे आनन्द ग्रहण करने की हमारी मानसिक, शारीरिक और बौद्धिक शक्तियों की एक सीमा है। तो न जाने शास्त्रकारों ने इसका वर्णन किया है, कि नहीं।

लेकिन हम अपने अनुभव से, इष्ट कृपा से, आपके सम्मुख यह बहुत स्पष्ट रखना चाहते हैं, कि जो सीमित वस्तु द्वारा आनन्द है, भोग है, सुख है उसकी भी अवश्य एक सीमा होगी। जो सीमित है उससे संतुष्टि कैसे होगी? हम लखपति बन जाते हैं, तो हम दस लखपति बनना चाहते हैं, फिर करोड़पति, दस करोड़पति, फिर अरबपति, फिर खरबपति, इतने के बाद भी संतोष नहीं होता क्योंकि यह सब सीमित है, तो सतुष्टि कब होगी ? जब हम, हमारा भोग, हमारी प्राप्ति, हमारा आनन्द सीमित से असीमित की ओर, प्रवेश कर जाएगा, तो वहाँ सन्तुष्टि हो जाएगी क्योंकि वहाँ पर फिर कोई सीमा ही नहीं रहती। उसके लिये एक ही उपाय है, कि हम अपनी समस्त प्राप्तियों को, समस्त भोगों को, समस्त तुच्छ आनन्दों को ईश्वर समर्पित कर दें। उनमें ईश्वर के दर्शन और ईश्वर की लीला का भास हो, तो जो भी सीमित है, वह असीमित में प्रवेश कर जाएगा।

मैंने पहले भी बड़ा स्पष्ट वर्णन किया था, कि एक गिलास है जिसकी एक क्षमता है, सीमा है उसमें हम निर्धारित मात्रा में ही जल अथवा दूध भर सकते हैं,

लेकिन जब उस गिलास को हम समुद्र में डुबो देते हैं तो उसकी अपनी सीमा तो वही रहती है, लेकिन क्योंकि वह असीम में प्रवेश कर जाता है, तो उसकी क्षमता करोड़ों गुणा बढ़ जाती है। उसी गिलास से हम कितना भी जल निकालते जाएं, जल भरा का भरा रहता है उसमें, क्योंकि वह असीम में प्रवेश कर गया है।

यह हमारे जीवन का लक्ष्य है, नहीं तो इसी प्रकार हम जन्म–जन्मातरों में भटकते रहते हैं, कभी इस वस्तु की प्राप्ति के लिए, कभी उस सुख की प्राप्ति के लिए। एक मनोकामना पूर्ण होती है, दूसरी खड़ी हो जाती है, दूसरी पूर्ण होती है, तीसरी खड़ी हो जाती है। हमारी आकांक्षाएं, हमारी महत्वाकांक्षाएं हमको चैन नहीं लेने देतीं, हम भटकते–भटकते अपना होश संभालते हैं और भटकते–भटकते मर जाते हैं, पुनः जन्म होता है, पुनः मरते हैं, कुछ न कुछ करते रहते हैं हम। यहां मेरा अर्थ निठल्ले रहने से नहीं है। अपने स्वभाव और संस्कारों वश हमको कुछ न कुछ करना ही है। उसको किये बिना हमको चैन भी नहीं आएगा तो क्यों न हम उन सीमित शक्तियों द्वारा, जो भी कार्य करने हैं उसको करते हुए, असीम में प्रवेश कर जाएं। यह तभी सम्भव है, जब हम अपनी प्रत्येक क्रिया को, प्रत्येक लक्ष्य को, अपनी प्रत्येक आकांक्षा को, अपनी प्रत्येक प्राप्ति को, भोग को और उस भोग से अर्जित आनन्द को, प्रत्येक खोने को, प्रत्येक पाने को और समय के प्रत्येक पल को, प्रत्येक स्थान को, प्रत्येक धर्म को, प्रत्येक विचारधारा को ईश्वर निमित्त कर दें।

तो हमे जीवन में जीते हुए, एक विशेष संतोष का अनुभव हो जाएगा, एक विशेष सन्तुष्टि मिलेगी। नहीं तो निश्चित रूप से हम असन्तुष्ट ही संसार से विदा होगें और पुनः जन्म लेगें असन्तुष्ट ही। इस प्रकार जन्म दर जन्म चलता रहेगा। तो इस रहस्य को पकड़ने के बाद, इसका अर्थ यह नहीं, कि जीव जन्म–मृत्यु से छूट जाता है। ऐसा नहीं है, लेकिन वह जीवन–मुक्त अवश्य हो जाता है। जीवन मात्र उसके लिये एक खिलौना, एक खेल हो जाता है जिसकी प्रत्येक शै का वह आनन्द लेता है।

मैंने निद्रा से बात शुरू की थी, शायद प्रकृति ने, परमात्मा ने निद्रा का

निर्माण इसलिए किया, कि प्रत्येक जीव, जीव में मेरा अर्थ मनुष्य से है, वह कम से कम उस जीवात्मा के आनन्दमय कोष में, प्रवेश होने में जो आनन्द हुआ है, उसकी परिकल्पना तो कर ले और जो जिज्ञासु है, मुमुक्षु है, उसकी परिकल्पना के बाद, उसका साक्षात्कार करना चाहते हैं समाधि द्वारा, जाप द्वारा। किसी न किसी प्रवचन में मैंने जाप के बारे में विस्तार से वर्णन किया है, कि जब हम प्रभु का नाम जाप करते हैं, तो हमारी मानसिक स्थिति बड़ी आनन्दमय रहती है। उसके बाद हम स्वतः भाव से कार्य करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीव, उस महाशक्ति, ईश्वर के हाथ का खिलौना है। वह जैसा चाहता है, वैसा ही कार्य हमसे करवाता है। उसी के अनुसार परिस्थितियों जुड़ जाती हैं। हम ईश्वर का नाम लेते हुए, उसका ध्यान करते हुए, उस आनन्द में विचरते हुए जब सांसारिक कार्य करते हैं, तो उन कार्यों में, स्वतः भाव का हमको, स्वयं अनुभव हो जाता है, कि अब इस कार्य को करने का समय आ गया है जिसका प्रमाण यह है, कि उस कार्य की सिद्धि के लिये, उस कार्य को करने के लिये, जितनी भी वस्तुएँ चाहिए, जो भी परिस्थितियाँ चाहिएं, वे स्वतः ही तैयार हो जाती हैं। उस कार्य को करते हुए, हमें किसी प्रकार का तनाव अनुभव नहीं होता। हमारा जाप चलता रहता है, अजपा जाप चलता है और ईश्वर का ध्यान करते हुए हम उस कार्य को, आनन्द में प्रारम्भ करते है, आनन्द में ही विचरते हुए उस कार्य को करते है और कार्य की समाप्ति भी आनन्द में ही होती है तो उसे कहा है **स्वतः भाव**। स्वत. भाव से किया हुआ कार्य ईश्वरीय कार्य होता है। प्रत्येक जीव में ईश्वर ने एक विशेष प्रतिभा दी है, तो उस प्रतिभा के अनुसार यदि हम धैर्यपूर्वक विचार करके देखें, तो जो भी प्रभु हम से कार्य करवाना चाहते हैं, उसकी परिस्थितियाँ वह स्वयं ही बनाते हैं।

आपने यह भी अनुभव किया होगा कि किसी संत के पास बैठकर, भले ही वहां कोई वार्तालाप न हो, विचारों का आदान–प्रदान न हो, एक विशिष्ट आनन्द की अनुभूति होती है। यही शायद संत की पहचान भी है। जिसके समीप जाकर समय का और स्थान का भास न रहे और एक विशेष आनन्द की अनुभूति हो जो अनिर्वचनीय हो तो ऐसे व्यक्ति को संत कहा जाता है क्योंकि वे एक

सहज–समाधि स्थिति में होते हैं, अपने आनन्द में विचर रहे होते हैं। उनके समीप जाने से उस आनन्द की तरंगों की एक आभा होती है जिसमें बैठने से किसी भी व्यक्ति को एक मानसिक शान्ति मिलती है, उसकी थकावट दूर हो जाती है। ऐसे स्थिरप्रज्ञ महात्मा जब कुछ भी सहज स्वभाव से बोलते हैं, तो उनकी वाणी, उनका स्वभाव ही गानमय होता है। दूसरी ओर, अन्य बुद्धिजीवी जिनके अन्दर उपासना का बल नहीं है और जिनकी स्थिरप्रज्ञ स्थिति नहीं है जब वे मात्र अपनी बुद्धि द्वारा विशेष बल देकर किसी व्यक्ति को कोई ज्ञानमय बात समझाना चाहते हैं, तो कभी–कभी उनका ज्ञान बहुत कर्कश लगने लगता है। क्योंकि वे ज्ञान अनुभवहीन होता है और भक्ति व उपासना से बहुत परे होता है। तो ऐसे व्यक्तियों का अनुसरण करना एक जटिल समस्या, एक कष्ट बन जाता है। इसलिये **जब हम किसी को गुरू धारण करना चाहते हैं, तो हमें यह बात आत्मसात् होनी चाहिये, कि वास्तव में वह संत ही है। एक ही उसका प्रमाण है जिसका हम वर्णन कर चुके हैं, कि उसके पास उसकी आभा में बैठने से ही विशेष शान्ति का अनुभव होना आवश्यक है।**

बहुत से लोग यह प्रश्न करते हैं, कि जब वे ध्यान में बैठते हैं, समाधि में जाना चाहते हैं या ईश्वर भजन करना चाहते हैं या करते हैं, तो उनको बहुत विक्षेप होता है अथवा उस प्रक्रिया से उठने के बाद उनका हृदय और विक्षिप्त हो जाता है। उनका सिर भारी हो जाता है, इत्यादि–इत्यादि। इसका बहुत स्पष्ट उत्तर है, कि आत्मचिंतन के लिये की गईं प्रक्रियाएं यदि आनन्द के लिए की जाती हैं, तो उनमें बाधा का उत्पन्न होना स्वभाविक हैं। परन्तु दूसरी ओर जब स्थिरप्रज्ञ अपनी वास्तविक आनन्द की स्थिति में विचरने लगते हैं, तो उनके द्वारा की गई यह समस्त प्रक्रियाएं ध्यान, समाधि, जप, तप इत्यादि यह उनके भीतरी स्थित आनन्द का सहज प्रगटीकरण होती हैं। उसका प्रमाण यह है कि वे समस्त वायुमण्डल, वह विशिष्ट वातावरण प्रभावित हो जाता है। उस स्थान पर बैठने से एक विशेष शान्ति का अनुभव होता है इसीलिये हम लोग तीर्थों पर जाते हैं, विशेष स्थानों पर जाते हैं।

यह तीर्थ स्थान अन्य स्थानों से भिन्न क्यों हैं? कोई विशिष्ट वृक्ष, कोई

विशिष्ट नदिया का किनारा, कोई विशिष्ट आश्रम, कोई गुफा और वह तीर्थस्थान जहाँ पर शायद ऐसे महामानवों, महापुरुषों, संतों ने बैठकर जप, तप, प्रवचन, हवन और ऐसी प्रक्रियाएँ, ऐसे कार्य अवश्य किये होगें कि आज भी सैकड़ों, हज़ारों वर्षों के बाद उन स्थानों का वायुमण्डल, वहाँ का वातावरण अन्य स्थानों से बहुत भिन्न होता है। वास्तव में यदि हम उन स्थानों का आनन्द लेना चाहते हैं, तो हमे अपनी मानसिक स्थिति वैसी ही अवश्य बनानी पड़ेगी। क्योंकि बिना उसके हम उस विशिष्ट वातावरण के अर्न्तनीहित उस विशिष्ट शान्ति का, उनके तप के प्रभाव का या उनकी दिव्य प्रक्रियाओं के प्रतिफल का अनुभव नहीं कर सकते।

इसलिए कहा गया है कि किसी सिद्ध पुरूष के पास या किसी सिद्ध स्थल पर कभी भी संदेहात्मक वृत्ति से नहीं जाना चाहिए। मानसिक एवं बौद्धिक संदेह एवं कुतर्क उस परम शान्ति के अनुभव के लिये महाबाधक है। **बिलकुल निश्छल होकर, सरल हृदय से, भावुकता से, आँखों में भाव के अश्रु लिए हुए स्वच्छ मन से यदि हम ऐसे संतों के पास जाएं या ऐसे स्थलों पर जाएं, तो उनकी उस आभा, उस वातावरण का आनन्द, सुख और शान्ति हम अवश्य अनुभव कर सकते हैं भले ही वह क्षणिक हो।** तो यही कारण है कि हम उन विशिष्ट स्थलों को तीर्थस्थल कहते हैं। ऐसे महामानव जो उस परमानन्द में समाहित हो चुके हैं वे सांसारिक लीला भी जहाँ करते हैं, वे स्थान भी तीर्थस्थल बन जाते हैं। भले ही उन स्थलों पर उन्होंने युद्ध ही किया हो, प्रेम क्रीड़ाएं की हों अथवा उन स्थलों पर उन्होंने कोई सांसारिक व्यापार किया हो। वे स्थल तीर्थ बन जाते हैं, पूजनीय बन जाते हैं और युगों—युगों तक लोग वहाँ जाकर एक विशेष सुख और विशेष शान्ति अनुभव करते हैं बशर्ते कि वे परम श्रद्धा से वहाँ जाएं। तो यह परमदार्शानिक विषय मैंने प्रभु श्री हनुमान जी की प्रेरणा अथवा कृपा से अपने शब्दों द्वारा आपके सम्मुख रखा। यदि श्रद्धापूर्वक, भावपूर्वक अपने इष्ट के चरणों में बैठकर गुरू कृपा से, आत्म—कृपा से आप इस विषय का मनन एवं चिंतन करें, तो मुझे पूर्ण विश्वास है, कि आपके जीवन की धाराएँ बदल जाएगीं, आनन्द की ओर, सुख की ओर, शान्ति की ओर।

जीवात्मा के अपने आनन्दमय कोष में प्रवेश का निद्रा के सुख का अनुभव जो जागृति में होता है, उसी आनन्द का अनुभव जब हम जाग्रत अवस्था में समाधि द्वारा, ध्यान द्वारा व जाप द्वारा करते हैं, तो उस परमसुख की प्राप्ति से हमारी समस्त जीवन की जितनी भी प्रक्रियाएँ हैं, जितने भी कार्यकलाप हैं, मात्र लीला बन जाते हैं। सारा जीवन आनन्द में प्रारम्भ होता है, आनन्द में चलता है और अन्ततः उसी आनन्द में ही समाप्त होता है। यही नहीं पुनः पुनर्जन्म भी उसी आनन्द में शुरू होता है। यदि कुछ व्यक्तियों की जीवन लीलाओं का, जीवन का अध्ययन करें, तो हम पाएंगे कि उनका बाल्यकाल, मध्य और अन्त भी विशेष आनन्द की अवस्था में बीता। ऐसे जीवनमुक्त लोग जन्म–जन्मान्तरों तक मात्र लीला करने के लिए देह धारण करते हैं। उन व्यक्तियों को, उन महामानवों को हम अवतार कहते हैं। वे सम्पूर्ण मानव जाति को कुछ न कुछ देने के लिए, कुछ ज्ञान देने के लिए, शिक्षा देने लिए युगों–युगों में इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं और उसी प्रकार लय हो जाते हैं। जहाँ पर यह महामानव अपनी जीवन लीलाएँ करते हैं, वे स्थान तीर्थ बन जाते हैं, पूजनीय बन जाते हैं। शायद इसीलिये किसी विद्वान ने हिमालय की शिलाओं को onsolidated conciousness कहा है कि वे साधारण शिलाएँ नहीं हैं। वे चेतन सत्ता मानो consolidate होकर, ठोस रूप धारण करके विराजमान हो। वहाँ से बहने वाली गंगा को liquidated conciousness कहा है, मानो स्वयं ज्ञान तरल बनकर, द्रव्य बनकर गंगा रूप में बह रहा हो। इसके पीछे भी उन महापुरुषों के तप, उनकी समाधियों और उनकी विशिष्ट परमार्थिक क्रियाओं का ही योगदान रहा होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

।। जय जय श्री राम।।

आत्म–मन्थन

जीवन शून्य से प्रारम्भ होता है और शून्य में समाप्त हो जाता है। शून्य से प्रारम्भ होने वाला कोई भी प्रश्न यदि उसका अन्त भी शून्य हो तो स्वाभाविक तौर पर उसका मध्य भी, भले ही उसमें कितने गुणा, कितनी घटा, कितने जोड़ अथवा कितने ही विभाजन किए जाएं अन्ततः वह भी शून्य ही होगा, यह नितान्त सत्य है। पुनः जीवन, पुनः मरण इसी क्रम में चलता रहता है और सबसे विचित्र संयोग यह है, कि जीव शून्य की ओर दौड़ रहा है। प्रत्येक जन्म उसको शून्य से शून्य की ओर लेकर जाता है लेकिन उन दो शून्यों के मध्य में क्या ढूढ़ँता है जीव? यह जानते हुए कि मध्य भी शून्य है, इसके बाद अन्त भी शून्य। उसको फिर भी कुछ न कुछ तलाश रहती है और इस प्रकार जन्म दर जन्म बीतते रहते हैं, युग बीत जाते हैं, महायुग बीत जाते हैं, कल्प बीत जाता है, प्रलय आ जाती है, लेकिन क्या विशेषता है इस शून्य में? जीव की दौड़ समाप्त नहीं होती, खत्म नहीं होती, क्या चाहता है वह? इसके पीछे क्या रहस्य है?

यह माया का खेल है अथवा ईश्वरीय मन का या स्वयं जीव का? यदि यह ईश्वरीय खेल है, तो क्यों है और यदि यह जीवीय है, तो किस लिए है? यह अति गोपनीय एव विचारणीय विषय है। यदि इस संसार में अनुराग है, तो क्यों है? यदि वैराग्य है तो क्यों है? आसक्ति और अनासक्ति का अर्थ क्या है? क्या ये सब एक दूसरे के सापेक्षिक हैं? सत्य क्या है? ज्ञान एवं अज्ञान का ज्ञाता कौन है? जीव स्थिर है या चलायमान? इसका निर्णयकर्त्ता कौन है, इसका दृष्टा कौन है? जीव है कि नहीं है? ब्रह्म का अस्तित्व क्या है? काल क्या है? काल–चक्र क्या है? अकाल क्या है? यदि कोई अकाल है, तो काल की उत्पत्ति कहाँ से हुई? यदि अकाल स्थिर है तो काल–चक्र का दृष्टा कौन है?

यह असंख्य प्रश्न, असंख्य विचारधाराएँ, असंख्य सृष्टियाँ कहाँ से प्रारम्भ होती हैं? इनका उद्गम कहाँ है? इनका अन्त कहाँ है? ये विलीन कहाँ होंगी? विलीन होने के पश्चात् क्या ये पुनः आरम्भ होगीं अथवा नहीं? जहाँ विलीन होती हैं वे सागर कहाँ हैं? इतना अथाह सागर विचारों का, विचारधाराओं का

और उसमें उठने वाली तंरगें जब ज्वारभाटा का रूप ले लेती हैं, तो न जाने रास्ते में पड़ने वाले कितने पड़ावों को विध्वंस कर देती हैं? न वहाँ कर्म रहता है, न धर्म। सच पूछिए, तो न वहाँ जीव रहता है, न ब्रह्मा। वहाँ आसक्ति, अनासक्ति बन जाती है, अनुराग वैराग्य बन जाता है। वहाँ मिलन में और बिछुड़ने में, जन्म में और मृत्यु में, भक्त में और भगवान में, दृष्टि में और दृष्टा में, यहाँ तक कि दृश्य में भी कोई भेद नहीं रहता। उपासक, उपास्य एवं उपासना एक ही हो जाते हैं। जीव और ब्रह्म अपना अस्तित्व खो देते हैं–

न मैं बन्दा था, न खुदा था।
दोंनो इल्लत से जुदा था, मुझे मालूम न था।
चाँद बदली में छुपा था, मुझे मालूम न था।
मैं खुद ही खुद में पर्दा बना था, मुझे मालूम न था।

आवरण हट जाता है और खुद के दर्शन होते हैं, दीदार होता है और उसके बाद सब कुछ लोप हो जाता है। न कोई प्रश्न रहता है, न प्रश्न–कर्त्ता और न किसी प्रश्न का उत्तर और न ही उसकी आवश्यकता होती है। साकार–निराकार दोनों एक अद्वितीय आकार में लीन हो जाते हैं। क्षितिज, जहाँ पर पृथ्वी और आसमान मिलते हैं, वहाँ न आसमान होता है, न पृथ्वी, ऐसा सा संगम हो जाता है।

दौड़! कैसी दौड़ है? यदि जीव अपने ब्रह्मत्व के लिये दौड़ रहा है तो उसको पाकर इसे क्या मिलेगा? यदि ब्रह्म स्वयं को खोकर जीव बन गया है तो उसने स्वयं को खोया क्यों, वह तो ब्रह्म है। इन सब गहन प्रश्नों पर जब एक विहंगम सी दृष्टि पड़ती है, तो स्वयं कहीं खो जाने को दिल करता है। विचारों की श्रृंखलाए, मानों भयभीत सी और त्रसित सी करने लगती हैं। क्या है यह सब कुछ? क्यों है? अर्थपूर्ण है या निरर्थक? यदि सार्थक है तो इसकी सार्थकता का रहस्य क्या है? निरर्थकता का अस्तित्व क्या है? दर्शन क्या है? दिग्दर्शन क्या है?

मेरे इन समस्त वाक्यों को, प्रश्नों को, उनके उत्तरी को, प्रश्न–युक्त उत्तरों को और उत्तर–युक्त प्रश्नों को सुनकर कोई भ्रमित न होए और यदि कोई भ्रमित भी होता है, तो उसमें आश्चर्य क्या है? क्या ढूँढ रहे हैं हम? क्यों ढूँढ रहे है हम? क्या अपने आरम्भ को, मध्य को या अंत को इन तीनों में क्या सम्बन्ध है?

यदि अन्त है तो पुनः आरम्भ क्यों होता है? आरम्भ और अंत के बीच मध्य की क्या आवश्यकता है? इस तमाम सम्पूर्ण गहन दर्शन पर जब बुद्धि को हटाकर, मानव मस्तिष्क की उत्कृष्ट प्रतिभा को और उसकी बुद्धि की समस्त विधाओं को समूल हटाकर जब इष्ट—कृपा होती है, गुरु—कृपा होती है और परम आवश्यक जब आत्म—कृपा होती है, तो एक नुक्ता सा, एक सूक्ष्म तत्व सा दिग्दर्शित होता है और इन समस्त प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है। एक सकून सा मिलता है मानों जन्म—जन्मान्तरों से लदा हुआ अथाह बोझ, जैसे उतर जाता हो। एक अनिर्वचनीय विश्राम और सहज स्थिति, आनन्दमय परिवर्तन सा लगता है और ऐसा लगता है कि यह सब कुछ, कुछ भी तो नहीं था, कुछ भी तो नहीं है। शून्य प्ररम्भ, मध्य शून्य और अन्त शून्य।

यहाँ ढूँढने वाली वस्तु क्या है? यहाँ चिन्ता का विषय क्या है? यहाँ उल्लास क्या है? यहाँ हर्ष कैसा? यहाँ तक कि जब हर्ष और उल्लास अपना अस्तित्व खो देते हैं, तो यदि विचार करके देखिए, ग़म का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है क्योंकि यह भी एक—दूसरे के सापेक्षिक हैं। जहाँ हर्ष होता है, वहाँ सदमा या ग़म होता है। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अधकार भी होता है और जहाँ जीव होता है, वहाँ ब्रह्म भी होता है क्योंकि एक—दूसरे के बिना इनका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। जहाँ खुदा होता है, वहाँ बंदा होता है। जहाँ भक्त होता है, वहाँ भगवान होता है।

बिना खुदा के बन्दे की कोई हैसियत नहीं है और सच पूछिए, तो बिना बन्दे के खुदा का कोई अस्तित्व नहीं है, कोई वजूद नहीं है। जैसा कि मैने वर्णन किया है कभी—कभी बन्दा अति उत्तेजित होकर, विक्षिप्त होकर, जब अपने खुदाई स्वरूप को देख नहीं पाता तो भटक जाता है, उसके कुछ उद्गार प्रकट होते हैं—

मुझे माफ कर खुदाया मैंने तुझे खुदा बनाया,
तुझे कौन पूछता था मेरी बन्दगी से पहले?
मुझे कोई ग़म नहीं था, ग़मे—आशिकी से पहले,
न थी दुश्मनी किसी से, तेरी दोस्ती से पहले,

मै कभी न मुस्कराता, गर मुझे यह इल्म होता,
कि हज़ार ग़म मिलेंगे, तेरी इक ख़ुशी से पहले!

यह मर–मिट जाने का मार्ग है। क्या पाना है इसमें? यहाँ तो खोना ही खोना पड़ता है। लेकिन उस खोने मैं एक अजीब मज़ा सा, एक स्वाद सा, एक नशा सा उत्पन्न हो जाता है, जिसको यह छोड़ नहीं पाता। शायद, वह नशा, वह सकून ही इसकी प्राप्ति है। उसी का लुत्फ ही शायद एक नशा सा बनकर इसको लग जाता है। यदि बहुत गौर से विचार किया जाए, तो उस परम ईश्वरीय सत्ता, जिसे शास्त्र में ठोस–घन–शिला कहा गया है, उसको क्या आवश्यकता थी अपनी मन और माया में इस ब्रह्मा, विष्णु और महेश को उत्पन्न करने की? ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता है, विष्णु पालनकर्ता और शंकर सहारकर्त्ता। जिस सृष्टि का निर्माण, पालन होने के पश्चात्, संहार अवश्यंभावी है, ज़रूरी है, तो उस सृष्टि का निर्माण ही क्यों किया जाता है? यदि यह समस्त लीला है, तो इस लीला के समस्त पात्र जो असंख्य जीवधारी हैं, इसको लीला क्यों नहीं समझते?

कितनी भव्य नाट्यशाला है यह। जिसका निर्देशक स्वयं कहीं दूर, न कहीं आता है, न जाता है, चाँद–सितारों से सुसज्जित यह नाट्यशाला, अविरल, न जाने कितने परिदृश्य बदलते हैं इसमें? इसकी पृष्ठ भूमि में असंख्य पात्र हैं, जो अपना किरदार बखूबी निभाते हैं। प्रश्न उठता है, कि कैसा विचित्र है वह, कि प्रत्येक किरदार निभाने वाले असंख्य पात्र, अपने–अपने अभिनय में इतना खो जाते हैं, कि वे भूल जाते हैं कि यह अभिनय है, यह नाट्यशाला है। वे भूल जाते हैं कि उनका किरदार, उनकी भूमिका कोई और भी निभा सकता है, कर सकता है। वे भूल जाते हैं कि वे जो कुछ भी कर रहे हैं, उनसे करवाया जा रहा है। क्या रहस्य है इन पात्रों की इस मानसिकता के पीछे कि वे अभिनय करते–करते स्वयं अभिनयी बन जाते है। उस अभिनय की वास्तविकता में वे स्वयं इतने तल्लीन हो जाते हैं, कि जीवन के हर क्षण, हर पल, हर मोड़ पर वे सुखों, दुखों से जूझने लगते हैं।

कितना विचित्र है इस नाट्यशाला का निर्देशक और कितना परिपूर्ण

आनन्द है, कि प्रत्येक पात्र स्वयं को अभिनय का पात्र न समझते हुए, अपने जीवन की वास्तविकता को उस अभिनय से जोड़ देता है। वह अभिनय शब्द को भूल जाता है और इस वास्तविकता की निरर्थकता जब बार–बार उसके सामने आती है, तो कोई न कोई पात्र एक आर्त्तनाद करता हुआ अपने उस निर्देशक की तरफ मुँह कर लेता है। वह उससे मिलना चाहता है, उसके समीप जाना चाहता है, अपनी फरियाद रखना चाहता है उसके सम्मुख, कि उस अकर्त्ता को कर्त्ता क्यो माना गया है? और उस अकर्त्ता ने उस कर्म भाव को, जो कि उससे करवाया गया है इस अभिनय में, यदि वह गफलत में स्वयं को कर्ता मान भी बैठा है, तो उसकी सज़ा उसको क्यों मिलती है? किसी पात्र के अभिनय को इतना सजीला, सुन्दर बनाना कि वह उस अभिनय को अपना वास्तविक जीवन मान ले, तो क्या यह पात्र की अथवा निर्देशक की भूल है? इसके पीछे रहस्य क्या है? यदि यह निर्देशक का सोचा–समझा एक निर्णय है, तो पात्र को सज़ा कैसी, दण्ड कैसा?

शायद यह गुफ्तगू इस संसार महानाट्यशाला में कार्य करने वाले एक पात्र और इसके इस निर्देशक के बीच की गुफ्तगू है! क्या इसमें कोई अन्य दखलअदाज़ी नहीं कर सकता? बड़ा अद्भुत है यह सब कुछ। अति अद्भुत। महानाट्यशाला का जो निरन्तर, अविरल, युग–युगान्तरों से, महायुगों से, कल्पों से चलने वाला यह महानाट्य, यह नौटकी दिखलाई किसको जा रही है? यदि इसका निर्देशक है, यदि इसके पात्र हैं और यदि यह वास्तविक नाट्यशाला है तो इसका दर्शक कौन है? उस दर्शक में, उसके पात्रों में और उसके निर्देशक में क्या रिश्ता है? क्या सम्बन्ध है? यदि कोई सम्बन्ध नहीं है तो इस समस्त प्रक्रिया का अर्थ क्या है? यदि निर्देशक ही दर्शक है, तो पात्रों का महत्व क्या है?

क्या ये समस्त प्रश्न, किसी भी मानव बुद्धि में विस्फोट करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं? यदि पर्याप्त हैं तो विस्फोट क्यों नही होता? क्यों मानव जन्म–जन्मान्तरों में अपनी बुद्धि पर आश्रित होकर असंख्य दुखों से जूझता हुआ, शून्य से प्रारम्भ होकर, शून्य में विलीन होकर पुनः शून्य से आरम्भ हो जाता है? क्या मानव मस्तिक की उत्कृष्टता का, क्या उसकी अनुपमता का यह दिग्दर्शन

है अथवा दिवालियापन? इसके बाजबूद भी मानव अपने मस्तिष्क पर आश्रित होने से घबराता नहीं है।

कहाँ जा रहे है हम? क्यों जा रहे हैं? यह दौड़ कब समाप्त होगी? क्या मिलना है हमको जन्म–जन्मान्तरों में? क्या हमारे पास तनिक भी समय नहीं है कि हम इस विचार को हृदयंगम करके देखें, इसमें विचर कर देखे? भौतिक जन्म में जिस प्राप्ति के पीछे हम दौड़ रहे हैं, उस प्राप्ति के बाद क्या परिवर्तन हो जाएगा? फिर क्या हो जाएगा यह समस्त दौड़, यह समस्त नाटक, यह माया अथवा मन का संयोग यह निर्देशकता और दर्शकता, मात्र एक आनन्द और आनन्द में प्रारम्भ, मध्य और अन्त होने वाली एक महा ईश्वरीय लीला है। जहाँ वह स्वयं ही निर्देशक बनता है और स्वयं ही एक में अनेक और असंख्य पात्रों में स्वयं को देखता है। स्वयं ही इसका दृष्टा बनता है, दर्शक बनता है, एक में अनेक और अनेक में वह एक। सारे दृश्य का वह रवयं ही दृष्टा है, शायद वह दृश्य भी स्वयं ही है और इस दृश्य का कारण भी वह स्वयं ही है। तो इस पात्रता में विचरते हुए जीव को जब इस रहस्य की आत्मानुभूति होती है, ख्याल आता है और वह ख्याल परिपक्व हो जाता है, तो इसमें और दृष्टा में, दर्शक में और निर्देशक में कोई भेद नहीं रहता। उपासक, उपासना एव उपास्य, निर्देशक, दर्शक एवं समस्त पात्र एक हो जाते हैं।

यह क्रीड़ा, यह नाटक, यह नौटंकी एक में अनेक, अनेक में एक का अन्तिम भास करवा देती है, शायद यही अन्तिम सत्य है। शायद इस सत्य का प्रारम्भ भी यही है और इसका मध्य भी यही है। जब यह रहस्य हृदयंगम हो जाता है, तो जीव और ब्रह्म का अन्तर समाप्त हो जाता है। एक अन्तर सा होता है। अन्तर समाप्त होते ही जीव और ब्रह्म मिल जाते हैं और दोनों मिलने के बाद अपना अस्तित्व खो देते हैं। जिस प्रकार कि किसी बीज को पृथ्वी में बो देने से कुछ समय के बाद वह अपना अस्तित्व खो देता है और एक नया सा पौधा उग आता है, जिसका उसके स्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार जब उपासक, उपासना एवं उपारय मिल जाते हैं स्वयं में, उसके बाद जो स्थिति बनती है, वह क्या होती है, यह एक अनिर्वचनीय पद है। जो उसका परिणाम है, न वह

उपासक होता है, न वह उपास्य, और न वह उपासना स्वयं होती है। तो इस अनिर्वचनीय पद, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, जिसको लिखा नहीं जा सकता, जिस पर विचार नहीं किया जा सकता, जब हम उसको विचार का विषय बना लेते हैं, तो जन्म—जन्मान्तरों तक हम एक अँधेरा ढोते रहते हैं, एक बोझा ढोते रहते हैं निरर्थक सा। इसलिये अन्तिम निष्कर्ष इस समस्त भूमिका का यह है, कि इस **संसार महानाट्यशाला में कार्य करने वाला पात्र, अपने पात्र की सरलता को, सहजता को, स्वाभाविकता को वास्तविकता न समझे। तो वह अपनी पात्रता का, अपनी निर्देशकता का और अपनी दर्शकता का तीनों का आनन्द ले सकता है। इसी आनन्द का नाम है ईश्वरीय आनन्द, जहाँ प्रारम्भ आनन्द होता है, मध्य आनन्द होता है और अतः आनन्द होता है।** वह ईश्वरीय आनन्द है और जहाँ इन तीनों आनन्दों में से एक का भी अभाव होता है, वह जीवीय स्थिति है और वही सुख—दुख बनकर जन्म—जन्मान्तरों तक जीव को भासती रहती है।

।। जय जय श्री राम।।